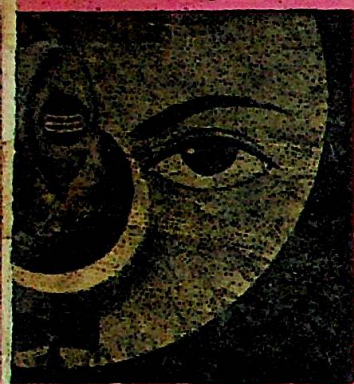


अ. २/३५

6.3

श्रीमल्लक्ष्म्यसंगीतम्



पं. विष्णुनारायण भातखण्डे
अनु. श्री गुणवन्त मा. व्यास



मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ

Ke Ganga Se

अः १/३५

आम्राय-ग्रन्थाङ्क

वस्तुनिधि, करोली

पाराजती-५

Dr. Gangotri

15-8-87.

श्रीमल्लक्ष्म्यसङ्गीतम्

अ ४/35
अभिनाय-ग्रन्थालय,
भारतनिधि, करोली
वाराणसी-5

सटीकानुवाद

मूल लेखक

‘चतुर पण्डित’ विष्णु नारायण भातखण्डे

अनुवादक

गुणवन्त माधवलाल व्यास

एम. ए., सङ्गीत कोविद

अध्यक्ष, सङ्गीत विभाग,

दुर्गा महाविद्यालय;

रायपुर, म० प्र०



मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

भोपाल

श्रीमल्लक्ष्यसंगीतम्

© मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल

आचार्य-डॉ. ...

परतन्त्रि, ...

प्रथम संस्करण

१९८१

वाराणसी-१

मूल्य : पन्चीस रुपये

मुद्रक

श्री माहेश्वरी प्रेस

गोलघर, वाराणसी-२२१००१

आवरण : नवल जायसवाल, भोपाल

- ☐ शिक्षा तथा समाज कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार की विश्वविद्यालय ग्रन्थ योजना के अन्तर्गत मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी द्वारा प्रकाशित।
- ☐ भारत सरकार द्वारा रियायती मूल्य पर उपलब्ध कराये गये कागज पर मुद्रित।

प्रावकथन

परतनिधि, करौली

पारापत्ती-६

□

छात्रों में मौलिक प्रतिभा के श्रेष्ठतम विकास और आविष्कारक चेतना के परिष्कार के लिए आवश्यक है कि अध्ययन प्रक्रिया के दौरान उनपर विषय की सहज संप्रेषणीयता में भाषा के अतिरिक्त दबाव को वाचकन बनने दिया जाय। स्कूल स्तर पर मातृभाषा और उच्च शिक्षा के स्तर पर अंग्रेजी का प्रयोग विषमता मूलक है। विश्वविद्यालयीन स्तर पर अंग्रेजी माध्यम होने से उन विशिष्टवर्गीय अत्यल्प छात्रों को ही अधिक लाभ मिल पाता है जिनकी स्कूली शिक्षा अंग्रेजी माध्यम से हुई है। जबकि सामान्य छात्र पिछड़ जाते हैं। सुखद है कि शासन और शिक्षा-शास्त्रियों का ध्यान इस विषमता की ओर गया और उन्होंने निर्णय लिया कि विश्वविद्यालय स्तर तक की शिक्षा मातृभाषा के माध्यम से सुलभ करायी जाये।

उच्च शिक्षा में माध्यम परिवर्तन में सबसे बड़ी कठिनाई सम्बन्धित विषयों में पाठ्य ग्रन्थों के अभाव की थी। इस निमित्त केन्द्र सरकार ने पुस्तकों के प्रकाशन के लिए प्रत्येक राज्य को एक करोड़ रुपये का अनुदान उपलब्ध कराया है। केन्द्र प्रवर्तित इस योजना के अंतर्गत पाठ्य पुस्तकों के निर्माण के लिए स्थापित अकादमियों ने इस दिशा में सार्थक पहल की है। मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी ने विगत १० वर्षों में विज्ञान, इंजीनियरी, आयुर्विज्ञान, कृषि, विधि, कला और मानविकी आदि सकार्यों के विभिन्न २५ विषयों में लगभग ३०० ग्रन्थ प्रकाशित करके हिन्दी में विश्वविद्यालय स्तर की मानक पाठ्य पुस्तकों के अभाव की कुछ सीमा तक पूर्ति की है।

राज्य शासन द्वारा स्थापित इस अकादमी के ग्रन्थ लेखन कार्यक्रम में प्रदेश के प्राध्यापकों की सक्रिय भागीदारी रहती है। अकादमी मानक पाठ्य पुस्तकों के लेखन के संदर्भ में लेखकीय प्रतिभाओं के सृजनात्मक विकास में महत्वपूर्ण योगदान दे रही है।

विश्वविद्यालयों, महाविद्यालयों और सार्वजनिक ग्रन्थालयों से यह आशा की जाती है कि वे अकादमी के प्रकाशनों को अपने यहाँ समुचित स्थान देकर माध्यम परिवर्तन की प्रक्रिया में वांछित योगदान करें। प्राध्यापकों से भी यही अपेक्षा है कि वे अकादमी की पुस्तकों अपनाने के लिए छात्रों को प्रेरित करेंगे एवं श्रेष्ठ, उपयोगी और प्रामाणिक पाठ्य पुस्तकों के प्रकाशन के कार्य में अकादमी को अपना रचनात्मक सहयोग देंगे।



(माधव लाल दुबे)

अध्यक्ष एवं शिक्षा मंत्री

मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल

प्रस्तावना



अन्य ललित कलाओं की भाँति ही भारतीय संगीत की प्राचीनता, प्रामाणिकता एवं चतुरस्त्र समृद्धि सर्वविदित है। वैदिक काल से लेकर अद्यावधि प्रवाहित होने वाली सांगीतिक धारा में समय-समय पर विविध-विकसित तरंगों का नतन सहृदयों के अन्तराल का रसमय संस्पर्श करता आ रहा है। प्राच्य संगीत के अनेक तथ्यों का दिग्दर्शन तो आज भी संस्कृत के प्राचीन-ग्रन्थों में किया जा सकता है। किन्तु उसके वास्तविक स्वरूप का स्पष्टीकरण नहीं हो पाता, क्योंकि अधुनातन-संगीत कालक्रम से विकसित है अतएव अति रूपान्तरित हो गया है।

जहाँ संगीतशास्त्र के समस्त प्राचीन ग्रन्थों की भाषा संस्कृत है, वहीं प्रयोग पक्ष के प्रवीण-कलाकार क्रमशः अशिक्षित-प्रायः होते गये; परिणामतः प्राचीन एवं नवीन संगीत में सामञ्जस्य स्थापित करना कठिन से कठिनतम होता गया।

ऐसी प्रतिकूल परिस्थिति में संगीतोद्धार के लिए पं० विष्णुनारायण भातखण्डे का प्रादुर्भाव संगीत-जगत के लिए वरदान सिद्ध हुआ। पंडित भातखण्डे संगीत के मर्मज्ञ, संस्कृत के मनीषी एवं युगानुकूलन प्रतिभा के धनी थे। अपने समय की सांगीतिक दुर्दशा को देखकर उनका मन क्षुब्ध ही नहीं हुआ अपितु उनमें संगीत को सानुकूल सम्मानित स्थान दिलाने का संकल्प भी जागरूक हुआ।

उन्होंने संगीत से सम्बन्धित संस्कृत के सद्गाण-चन्द्रोदय, संगीत-रत्नाकर, राग-मंजरी, राग विबोध, चतुर्दण्ड-प्रकाशिका, संगीत दर्पण, स्वरमेल-कलानिधि, संगीत सारामृत, राग-तरंगिणी, संगीत पारिजात, राग-माला एवं राग-मंजरी आदि अनेक ग्रन्थों का प्रगाढ़ अनुशीलन करके संगीत की प्रचलित प्रयोग धारा एवं पुरातन शास्त्रीय मान्यताओं में सामंजस्य स्थापित करने का स्तुत्य प्रयास किया। फलतः उन चतुर पंडित के द्वारा “लक्ष्य-संगीतम्” जैसे गौरवशाली ग्रन्थ का प्रणयन हुआ। यह ग्रन्थ वर्तमान हिन्दुस्थानीय संगीत का शास्त्रीय आधार है।

- ५ -

इसमें प्राचीन ग्रन्थों के उद्धरणों के द्वारा प्रचलित संगीत की रूपरेखा निरूपित की गयी है। वैज्ञानिक आधार पर दस मेलों या थाटों में सम्पूर्ण राग-रागिनियों का समावेश सर्वमान्य हो चला है।

इस प्रकार यह एकाकी ग्रन्थ ही संगीत-जिज्ञासुओं के लिए कल्प-पुष्प सदृश है, इसके हिन्दी में प्रकाशन की अत्यधिक आवश्यकता विद्वानों द्वारा अनुभूत थी।

अतः इस ग्रन्थ के सफल अनुवाद के लिए श्री गुणवन्त व्यास एवं उपयुक्त प्रकाशन के लिए मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी की प्रशंसनीयता निर्विवाद है।

हमें सविश्वास आशा है कि हिन्दी में अनुवादित इस ग्रन्थ का स्वर-समाराधकों के मध्य पर्याप्त आदर होगा।

बुद्ध पूर्णिमा
१८ मई, १९८१

—डा० एम० आर० गौतम
कुलपति
इंदिरा कला-संगीत विश्वविद्यालय
खैरागढ़ (म० प्र०)

आलाप

श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम् 'लक्ष्य' अर्थात् प्रचलित सङ्गीत का प्रामाणिक शास्त्र ग्रन्थ है। ग्रन्थकार के अनुसार इस ग्रन्थ का उद्देश्य वह मार्ग प्रस्तुत करना है जिसके द्वारा 'लक्ष्य' सङ्गीत का ज्ञान शीघ्रतापूर्वक हो सके—

“केनोपायेनाधुनिकं लक्ष्यसङ्गीतमाश्विदम्।

अवगन्तव्यमित्येव साध्यमत्र न संशय ॥”

(प्रथम अध्याय, श्लोक ७८)

पुनश्च, सङ्गीत के शास्त्र-पक्ष तथा त्रियात्मक स्वरूप दोनों ही का समन्वय करने वाली आधुनिक युगीन शिक्षा-प्रणाली के लिए योग्य अध्यापकों का निर्माण एवं उनकी अपेक्षाओं की पूर्ति भी ग्रन्थकार का ध्येय है :

“सङ्गीतेष्टाष्टशिक्षार्थं यत्नस्त्वेष मया कृतः।”

(द्वितीय अध्याय)

“ग्रन्थस्योद्देश आदौ स्यादस्य शिक्षकनिर्मितिः।”

(द्वितीय अध्याय)

श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम् में भारतीय संगीत की शास्त्र-परम्परा के अनुसार, प्रचलित सङ्गीत के शास्त्रीय आधारों तथा नियमों का साङ्गोपाङ्ग निरूपण प्राचीन ग्रन्थों के उपादेय अंशों और प्रमाणों सहित किया गया है। इस प्रकार, यह लघुकाय ग्रन्थ आधुनिक उत्तर भारतीय सङ्गीत पद्धति का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सन्दर्भ-ग्रन्थ अथवा प्रैक्टिकल हैंड-बुक (Practical Hand-Book) सिद्ध हुआ है।

श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम् की रचना-तिथि सोमवार, दिनांक चैत्र शुक्ला प्रतिपदा, शक संवत् १८३१, तदनुसार मार्च २२, ईस्वी सन् १९०९ है :

“एवं श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतनामा

यत्नैर्नूतनो निर्मितोऽयं प्रबन्धः।

प्राचीनार्वाचीनसङ्गीतभक्त—

प्रीत्यं यातः पूर्णतामद्य सद्यः ॥

शाके शशाङ्कगुणनागमहीमिताब्दे

मासे मघौ सितबले प्रथमेऽह्नि सोमे।”

(द्वितीय अध्याय)

ग्रन्थकर्ता 'चतुर पण्डित' प्रातःस्मरणीय पण्डित विष्णु नारायण भातखण्डे हैं। संस्कृत शास्त्र-ग्रन्थों के रचयिता प्रायः अपने उपनामों से ही ग्रन्थ-रचना करते हैं। पं. भातखण्डे ने भी उसी प्रथा के अनुसार 'चतुर पण्डित' उपनाम से यह ग्रन्थ लिखा है।

पण्डित भातखण्डे ने अपने अन्य ग्रन्थों में श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम् के उद्धरणों को साक्ष्य माना है, तथा 'चतुर पण्डित' का उल्लेख इस प्रकार किया है, मानों वे कोई अन्य ही विद्वान् हों ! आलोचकों ने इस बात को लेकर पण्डित भातखण्डे के प्रति कहीं-कहीं कटु आक्षेप भी किये हैं। किन्तु, हमारी विनम्र मान्यता है कि इसकी पृष्ठभूमि में भातखण्डे सदृश निःस्वार्थ सङ्गीतसेवी का कोई गर्हित उद्देश्य रहा होगा, ऐसा समझना उचित नहीं। प्रस्तुत टीका में इसे स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम् में दो अध्याय हैं। प्रथम को 'स्वराध्याय' कहा गया है, तथा द्वितीय को 'रागाध्याय'। स्वराध्याय में श्रुति, स्वर, ग्राम, मूर्च्छना, मेल, राग, वर्ण, अलङ्कार, तान आदि विषयों का निरूपण शास्त्रीय परिपाटी के अनुसार एवं महत्वपूर्ण सङ्गीत-ग्रन्थों के प्रामाण्य सहित किया गया है। सङ्गीतरत्नाकरादि प्राचीन ग्रन्थों और ग्रन्थकारों पर आलोचनात्मक टिप्पणी भी की गयी है। 'चतुर पण्डित' ने हिन्दुस्थानी तथा कर्णाटकी दोनों ही सङ्गीतपद्धतियों के शास्त्रकारों के वचन इस अध्याय में उद्धृत किये हैं।

'रागाध्याय' में जन्यजनक राग वर्गीकरण के अनुसार उत्तर भारतीय सङ्गीत में प्रचलित मेलों एवं तज्जन्य रागों का वर्णन किया गया है। राग-वर्णन संक्षिप्त हैं, किन्तु उनमें रागों के समस्त ज्ञातव्य तथ्य समाविष्ट किये गये हैं। रागों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर भी प्रकाश डाला गया है। यत्र-तत्र राग-सङ्गीत विषयक कतिपय अन्य तत्त्वों को भी ग्रन्थकार ने स्पष्ट किया है। राग-वर्णन के पश्चात् इस अध्याय में कुछ प्रकीर्ण विषयों, यथा गायकगुणदोष, वागेयकारलक्षण, सुशारीरलक्षण आदि पर सङ्गीतरत्नाकर के अंश उद्धृत किये गये हैं।

'रागाध्याय' के अन्त में, उपसंहारात्मक रूप से 'चतुर पण्डित' ने स्वयुगीन सङ्गीत की अवस्था का यथार्थ एवं मार्मिक चित्रण करते हुए सङ्गीत की नवयुगानुकूल शिक्षापद्धति की आवश्यकता प्रतिपादित की है जो सङ्गीत के शास्त्र और क्रिया दोनों पक्षों का समन्वय करे। इसी सन्दर्भ में श्रीमल्लक्ष्य-सङ्गीतम् की रचना का उद्देश्य भी स्पष्ट किया गया है।

अन्त में, परिशिष्ट में विभिन्न सङ्गीत-ग्रन्थों में प्रतिपादित रागों एवं राग-वर्गीकरण व्यवस्थाओं की तालिका दी गयी है।

श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम् में प्रचलित प्रबन्धों, शैलियों तथा तालपद्धति का उल्लेख कहीं नहीं किया गया है।

यह ग्रन्थ अत्यन्त सरल संस्कृत में काव्य-बद्ध है। निरन्तर अध्ययन के द्वारा इसे सरलतापूर्वक कण्ठस्थ किया जा सकता है।

श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम् वस्तुतः पण्डित भातखण्डे के समस्त साङ्गीतिक शोध एवं उनकी मान्यता का सार है। इसमें सूत्रात्मक रूप में जो बातें कही गयी हैं उनका ही विस्तार भातखण्डे के अन्य ग्रन्थों में हुआ है। सङ्गीत के क्षेत्र में संस्कृत-ग्रन्थों को ही प्रामाणिक शास्त्र माना जाता रहा है। यही कारण था, कि पण्डित भातखण्डे ने श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम् के रूप में अपने अभिमत को संस्कृत भाषा में लिपिबद्ध किया। इस ग्रन्थ की भाषा इसी लिए पारम्परिक शास्त्र-ग्रन्थों से कुछ भिन्न-सी प्रतीत होती है। उसमें कहीं-कहीं छन्द-दोष भी दिखाई देते हैं।

प्रस्तुत अनुवाद-टीका में शब्दानुवाद के स्थान पर भावानुवाद को महत्त्व दिया गया है। अनुवाद और टीका की भाषा को यथासम्भव सङ्गीतजगत् की प्रचलित भाषा और प्रयोगों से युक्त रखा गया है। लक्ष्य यह रहा है कि प्रस्तुत ग्रन्थ विद्यार्थियों के लिए सुग्राह्य तथा रोचक बन सके।

टीका संस्कृत की शैली में नहीं की गयी है, अपितु मूल श्लोकों की व्याख्या और स्पष्टीकरण को महत्त्व दिया गया है, ताकि वह छात्रों के लिए अधिक उपयोगी हो सके। जहाँ तक सम्भव हुआ है, टीका में विभिन्न विद्वानों के मतों को भी दिया गया है; किन्तु उनकी आलोचना नहीं की गयी है। ध्यान रखा गया है कि अध्येता को मत-परीक्षण तथा स्व-निर्णय का अवसर प्राप्त हो।

मूल ग्रन्थ में जहाँ अन्य शास्त्र-ग्रन्थों के उद्धरण आये हैं, वहाँ उन अंशों को उन ग्रन्थों के उपलब्ध प्रामाणिक संस्करणों के अनुसार भी देखा गया है। जहाँ श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम् में उद्धृत पाठ और प्रामाणिक संस्करण के पाठ में अन्तर दिखता है, वहाँ प्रामाणिक पाठ को ले कर अनुवाद किया गया है। पाठ-भिन्नता का निर्देश पाद-टिप्पणी में किया गया है। मूल-ग्रन्थ में जहाँ मुद्रणदोष रह गये हैं, वहाँ पण्डित भातखण्डे के अन्य ग्रन्थों की सहायता से पाठ-शुद्धि की गयी है।

- ९ -

श्रीमत्लक्ष्यसङ्गीतम् में श्लोक-क्रमाङ्क १ से १००, पुनः १ से २०० इस प्रकार दिये गये हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में, सुविधा की दृष्टि से, श्लोक-क्रमाङ्क प्रथम अन्याय में १ से प्रारम्भ कर ५५४ तक दिये गये हैं। इसी प्रकार, द्वितीय अध्याय में भी श्लोक-क्रमाङ्क प्रकरणानुसार रखे गये हैं।

लेखक अपने अभिन्न मित्र एवं संस्कृत-गुरु प्रो. लक्ष्मीकान्त शर्मा, संस्कृत प्राध्यापक, दुर्गा महाविद्यालय, रायपुर, के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता निवेदित करता है, जिनके मार्गदर्शन एवं सहयोग से ही यह कृति निर्मित हो सकी। लेखक अपने गुरुदेव श्रद्धेय विष्णु श्रीकृष्ण जोशी, प्राचार्य, श्रीरामसङ्गीत महाविद्यालय, रायपुर, को श्रद्धासहित धन्यवाद निवेदित करता है, जिनकी प्रेरणा से यह कार्य सम्भव हुआ। डॉ. श्रीकृष्ण नारायण रातञ्जनकर एवं डॉ. शरच्चन्द्र श्रीधर पराञ्जपे से समय-समय पर प्राप्त बहुमूल्य निर्देशों के लिए लेखक उनका अत्यन्त आभारी है। लेखक अपने उन समस्त विद्यार्थियों को स्नेहपूर्वक स्मरण करता है, जिनकी आवश्यकताएँ एवं अपेक्षाएँ इस अनुवाद-टीका की मूल प्रेरणा रही हैं। स्व. कुसुम ताई दावके, सौ. पुष्पा, सौ. वसुन्वरा, कु. भारती, श्री वसन्तराव चान्दोरकर, श्री जगमोहन अग्रवाल आदि ने लेखक के कक्षा-भाषणों से इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि तैयार करने में अथक परिश्रम किया है, जिसके लिए उन्हें धन्यवाद है।

ग्रन्थ के प्रकाशन के लिए लेखक मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी का विशेष रूप से आभारी है।

गुणवन्त सा. व्यास.

अनुक्रमणिका

प्रथम अध्याय—स्वराध्याय

प्रकरण	विषय तथा श्लोकाङ्क	पृष्ठाङ्क
	मङ्गलाचरण, प्रथमाध्यायारम्भ (१-६)	१-६
	भारतीय सङ्गीत की दो पद्धतियाँ (७-९)	६-८
	सङ्गीत-परिभाषा (१०)—मार्ग तथा देशी सङ्गीत (११-२०)	८-१०
	पूर्ववर्ती ग्रन्थों तथा ग्रन्थकारों पर टिप्पणी (२१-७५)	११-२४
	श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम् की रचना का उद्देश्य (७६-७८)	२४-२५
	सङ्गीत-प्रशंसा (७९-८७)	२५-२७
	नाद (८८-९०), नाद-स्थान (९१)	२७-२८
श्रुति-प्रकरण		
	—श्रुतियाँ (९२, ९३)	२८-२९
	—श्रुति-लक्षण (९४, ९५)	२९-३२
	—वीणा पर श्रुति-प्रमाण आदि का निदर्शन—सङ्गीत-रत्नाकरानुसार (९६, ९७); इस पर कल्लिनाथ की टीका; भरतनाट्यशास्त्र में प्रमाण श्रुति निदर्शन; सङ्गीतरत्नाकर के प्रमाण-श्रुति विषयक श्लोक पर सिंहभूपाल की टीका	३२-३८
	—सङ्गीतरत्नाकर के अनुसार—श्रुतियों पर स्वर-स्थापना की विधि (९९-१०३); सारणा-विधि (१०४-१०६); सारणा-फल (१०७, १०८)	३९-४१
	—श्रुतियों के नाम (१०९-१११)	४१-४२
	—स्वरों में श्रुतियों के वितरण का नियम (११२-११४)	४२

ग्राम-प्रकरण

- परिभाषा, ग्राम-भेद—सङ्गीतरत्नाकर के अनुसार (११५-११९); नाट्यशास्त्र के अनुसार (१२०-१२४);

- ११ -

सङ्गीतपारिजात तथा रागतत्त्वविबोध के अनुसार (१२५-१२७); रागमञ्जरी के अनुसार (१२८-१३१); सद्भागचन्द्रोदय के अनुसार (१३२); रागविबोध के अनुसार (१३३); चतुर्दण्डप्रकाशिका के अनुसार (१३४-१३८); सङ्गीतसारामृतानुसार (१३९-१४१); ग्रन्थकार की टिप्पणी (१४२-१४७)

४२-५०

स्वर-प्रकरण

—विकृतत्व का लक्षण (१४८); प्रचलित सङ्गीत के विकृत तथा अविकृत स्वर (१४९)

५०-५१

—प्राचीन अर्वाचीन ग्रन्थों में उल्लिखित शुद्ध-विकृत स्वर—सङ्गीतरत्नाकर (१५०-१५५); सङ्गीतदर्पण (१५६-१६२); सङ्गीतदर्पण के स्वरों पर टिप्पणी (१६३, १६४); स्वरमेलकलानिधि (१६५-१९२); रागविबोध (१९३-२११) तथा सोमनाथ की 'विवेक' टीका; चतुर्दण्डप्रकाशिका (२१२-२३४) तथा मध्यमेल वीणा पर श्रुति स्थान निदर्शन (२३५-२४४); सङ्गीत-सारामृत (२४५-२६३); रागतरङ्गिणी (२६४-२७०); हृदयकौतुक के स्वरों पर टिप्पणी (२७१, २७२); हृदयप्रकाश (२७३-२७८) तथा वीणा पर स्वर-स्थान निरूपण (२७९-२८५); सङ्गीतपारिजात (२८६-२९९) तथा उन स्वरों का वीणादण्ड पर स्थान-निरूपण (३००-३०८); रागतत्त्वविबोध के स्वरों पर टिप्पणी (३०९); सद्भागचन्द्रोदय (३१०-३१६); रागमाला (३१७-३२५); राग मञ्जरी (३२६-३३५); आधुनिक उत्तर भारतीय पद्धति के स्वर (३३६-३४६)

५१-११४

मूर्च्छना-मेल-राग रचना-प्रकरण

—मूर्च्छना-परिभाषा (३४७); मूर्च्छना तथा मेल (३४८-३५९)

११४-११६

—मेल-प्रस्तार (३६०-३६५), सङ्गीतसारामृत के अनुसार (३६६-३८५); चतुर्दण्डप्रकाशिका के अनुसार (३८६-

- १२ -

४०२); ७२ मेलों पर चतुर्दण्डप्रकाशिकाकार का
अभिमत (४०३-४१३); टिप्पणी (४१४-४१६) ११६-१३३

—राग-रचना (४१७-४२२) रागतत्त्वविबोध के अनुसार
(४२३-४२७); मेलगत नवविध मूर्च्छनाएँ (४२८-४३५);
सम्भव रागों की संख्या (४३६-४५४); अनूपसङ्गीत
विलास के अनुसार (४५५-४५८); टिप्पणी (४५९) १३३-१४५

तान-प्रकरण

—परिभाषा; भेद; प्रयोजन (४६०-४६५) १४५-१४६

—कूटतानों तथा प्रस्तार-नियम-सङ्गीतरत्नाकरानुसार
(४६६-४७२) १४६-१५३

—खण्डमेरु तथा उसका उपयोग-सङ्गीतदर्पणानुसार
(४७३-४८१) १५३-१६४

वर्णालङ्कार-प्रकरण

—वर्ण-परिभाषा; प्रकार सङ्गीतरत्नाकर के अनुसार (४८२-
४८३); कल्लिनाथ टीका १६४-१६६

—अलंकार-सङ्गीतरत्नाकरानुसार परिभाषा (४८४);
कल्लिनाथ-टीका; सङ्गीतपारिजात; भरत-
नाट्यशास्त्र तथा रागविबोध में अलंकार की
परिभाषा (४८५-४८७); अलंकारों के कुछ
प्रकार तथा उपयोग (४८८-४९५) १६६-१७०

राग-प्रकरण

—परिभाषा (४९६) १७०-१७२

—रागों की जातियाँ (४९७-४९९) १७२-१७३

—राग-लक्षण—प्राचीन ग्रन्थोक्त (५००-५१३); वादी
संवादी विवादी अनुवादी स्वर-सङ्गीत-
रत्नाकरानुसार (५१४-५१८); सङ्गीत-
पारिजात के अनुसार (५१९-५२१); सङ्गीत-
समयसार के अनुसार (५२२-५२५); चतु-

- १३ -

दण्डिप्रकाशिका के अनुसार (५२६-५३८);	
आधुनिक सङ्गीत के अनुसार (५३९-५४७)	१७३-१८४
—आधुनिक उत्तरभारतीय सङ्गीत में राग-समय-व्यवस्था (५४८-५५४)	१८४-१९२

द्वितीय अध्याय—रागाध्याय

प्रकरण	विषय तथा श्लोकाङ्क	पृष्ठाङ्क
अध्यायारम्भ (१)		१७७
रागजनक १० मेल और उनके नाम (२-१८); उनके लक्षण (१९-२९); उनके जन्यरागों के नाम (३६-५८)		१७७-२०३
कल्याणमेलजन्य राग		२०४-२३८

यमन (१-८); कल्याण के प्रकार (९-१२); कल्याण मेल के रागों पर टिप्पणी (१३-२९); शुद्धकल्याण (३०-३७); भूपाली (३८-४५); सङ्गीतरत्नाकरोक्त-आलाप-लक्षण (४६), रूपकालाप-लक्षण (४७), आक्षिप्तिका लक्षण (४७), आलसि-लक्षण (४८-५०), स्वस्थान चतुष्टय (५१-५४), राग-स्थापना विधि (५५); जयत्कल्याण (५६-५९); पुरियाकल्याण (६०-६४); चन्द्रकान्त (६५-६९); हिन्दोल (७०-७६); मालश्री (७७-८४); हमीर (८५-९३); केदार (९४-१०१); कामोद (१०२-१०९); छायानाट (११०-११७); श्याम कल्याण (११८-१२५); गौड़सारंग (१२६-१३१)

बिलावलमेलजन्य राग	२३८-२६०
-------------------	---------

बिलावल (१-८); शुक्ल बिलावल (९-१४); देवगिरि (१५-२४); यमनी बिलावल (२५-२९); सर्पदा (३०-३७); ककुम बिलावल (३८-४४); लच्छासाख (४५-५१); नट बिलावल (५२-५५); बिलावल के प्रकारों पर टिप्पणी (५६-६२); माण्ड राग (६३-६७); बिहाग (६८-७४); शंकरा (७५-८३); नट (८४-९१); दुर्गा

- १४ -

(१२-९८); मलूहा केदार (१९-१०६); हेम कल्याण
(१०७-११२); देशकार (११३-१२१); गुणकली (१२२-
१२५); पहाड़ी (१२६-१३१)

खमाजमेलजन्य राग

२६०-२७२

झिझूटी (१-६); खमाज (७-११); तिलङ्ग (१२-१८);
खम्बावती (१९-२५); गारा (२६-३१); दुर्गा (३२-
३६); रागेश्वरी (३७-४०); सोरठ (४१-४८); तिलक-
कामोद (४९-५५); जयजयवन्ती (५६-६३); खमाज
मेल के रागों पर टिप्पणी (६४-६९)

भैरवमेलजन्य राग

२७२-२८७

भैरव (१-१०); बङ्गाल भैरव (११-१४); शिव भैरव
(१५-२०); आनन्द भैरव (२१-२६); अहीर भैरव
(२७-३१); प्रभात भैरव (३२-३६); सौराष्ट्र भैरव
(३७-३९); रामकली (४०-४९); गुणकरी (५०-५६);
जोगिया (५७-६१); कालिङ्गड़ा (६२-६५); त्रिभास
(६६-७१); मेघरञ्जनी (७२-७६); गौरी (७७-८१);
ललित पञ्चम (८२-८५); अनूपसङ्गीतरत्नाकरोक्त
भैरव प्रकार (८६, ८७)

पूर्वमेलजन्य राग

२८८-३०५

पूर्वी (१-१०); पूर्वी मेल के रागों पर टिप्पणी (११-१३);
श्रीराग (१४-२०); गौरी (२१-२५); श्रीराग तथा
गौरी पर टिप्पणी (२६-३७); मालवी (३८-४३);
टिप्पणी (४४-४५); त्रिवेणी (४६-५५); टङ्की (५६-
६३); दीपक (६४-७१); जेताश्री (७२-७८); पूरिया-
घनाश्री (७९-८५); रेवा (८६-९२); परज (९३-९९);
वसन्त (१००-१०७)

मारवामेलजन्य राग

३०५-३१९

मारवा (१-९); पूरिया (१०-१६), अनूपसङ्गीतरत्नाकर
में उल्लिखित पूरिया-प्रकार (१७-१९); बराटी (२०-

- १५ -

२५), अनूपसङ्गीतरत्नाकरोक्त वराटी-भेद (२६-२८);
जैत (२९-३३); मालीगौरा (३४-३९); साजगिरी
(४०-४४); सोहनी (४५-५१); विभास (५२-५५);
ललित (५६-६१); पञ्चम (६२-६९); भटियार (७०-
७५); भंखार (७६-७९); मारवा मेल के रागों पर
टिप्पणी (८०-८५)

काफीमेलजन्य राग

३१९-३५५

काफी (१-१३); काफीमेलगत रागों का रागाङ्ग-
वर्गीकरण टिप्पणी (१४-२३); सैन्धवी (२४-३०);
पीलू (३१-३७); भीमपलासी (३८-४४); घनाश्री
(४५-५३); घानी (५४-६१); हंसकंकणी (६२-६६);
प्रदीपकी (६७-७२); वागेश्री (७३-७८); वहार (७९-
८३); सूहा (८४-८९); सुधराई (९०-९४); देशाख
(९५-१००); नायकी कानड़ा (१०१-१०७); सहाना
(१०८-११५); मध्यमादि सारङ्ग (११६-१२०);
सारङ्गाङ्ग रागों पर टिप्पणी (१२१-१२३); वृन्दावनी
सारङ्ग (१२४-१३१); शुद्धसारङ्ग (१३२-१३९); मीयाँ
सारङ्ग (१४०-१४७); सामन्त सारङ्ग (१४८-१५३);
वडहंस सारङ्ग (१५४-१६०); पटमञ्जरी (१६१-१६९);
शुद्धमल्लार (१७०-१७५); गौड़मल्लार (१७६-१८१);
मीयाँ मल्लार (१८२-१८८); सूरमल्लार (१८९-१९८);
रामदासी मल्लार (१९९-२०४); नटमल्लार (२०५-
२०९); काफीमेल के रागों पर टिप्पणी (२१०-२२५)

आसावरीमेलजन्य राग

३५५-३६६

आसावरी (१-८); जौनपुरी (९-१६); गान्धारी (१७-
२६); देसी (२७-३३); खट (३४-४१); दरवारी
कानड़ा (२४-४७); अड़ाना (४८-५३) कौशिक या
कौंसी कानड़ा (५४-५८); सिन्धुभैरवी (५९-६२);
झीलफ (६३-६५); आसावरी मेल के रागों पर
टिप्पणी (६६-६८)

- १६ -

भरवीमेलजन्य राग

३६६-३६९

भरवी (१-६); विलासखानी तोड़ी (७-११); मालकौंस
(१२-२०); टिप्पणी (२१)

तोड़ीमेलजन्य राग

३७०-३७४

तोड़ी (१-८); गुर्जरी तोड़ी (९-१३); मुलतानी (१४-
२१); मात्र भट्ट द्वारा उल्लिखित तोड़ी-प्रकार (२२,
२३); टिप्पणी (२४)

प्रकीर्ण विषय

सङ्गीत रत्नाकरोक्त वाग्गेयकार लक्षण (१-१०)

३७४-३८१

„ गायक गुण-दोष (१-१४)

३८१-३९२

„ सुशारीर लक्षण (१-४)

३९३-३९५

प्रस्तुत-सङ्गीत-स्थिति तथा श्रीमल्लक्यसङ्गीतम् की
रचना का उद्देश्य (१-१७)

३९५-४०५

ग्रन्थ-समापन (१८-२०)

४०५

परिशिष्ट

प्रसिद्ध प्राचीन ग्रन्थों में प्रतिपादित राग-वर्गीकरण-
पद्धतियाँ

४०९-४३२

आम्नाय-ग्रन्थालय,
भारतनिधि, करोही
वाराणसी-५

श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

महर्षिभट्टशरणामि

श्रीगणेशाय नमः ॥ श्रीसरस्वत्यै नमः ॥ श्रीगुरुभ्यो नमः ॥

मङ्गलाचरण

प्रणम्य शिरसा देवं गौरीपुत्रं विनायकम् ।
सर्वविघ्नोपशान्त्यर्थं लक्ष्यसङ्गीतमारभे ॥ १ ॥

समस्त विघ्नों की शान्ति के लिए गौरीसुत श्रीगणेशजी को शिरसा प्रणाम कर, मैं 'लक्ष्यसङ्गीतम्' (नामक ग्रन्थ का लेखन) आरम्भ करता हूँ ।

श्रीब्रह्माद्यैरर्चिता या सुरेन्द्रैर्भक्तिश्रद्धाभावयुक्तः सदैव ।
प्राचीनार्वाचीनसङ्गीततत्त्वस्फूर्त्यै तां श्रीशारदां नम्यभीष्टाम् ॥ २ ॥

प्राचीन एवं आधुनिक संगीत-तत्त्वों की प्रेरणा के लिए मैं अपनी इष्ट देवता श्रीसरस्वती को नमन करता हूँ, जिनकी अभ्यर्थना ब्रह्मा और देवराज इन्द्र भक्ति तथा श्रद्धा सहित निरन्तर करते रहते हैं ।

श्रीसद्गुरोस्तस्य पदारविन्दद्वन्द्वं तमोनुत्तय आशु वन्दे ।
यस्यानुकम्पा सहसैव मूकं करोति वाचालमिति प्रथेयम् ॥ ३ ॥

अज्ञानान्ध के निवारण के लिए मैं श्रीसद्गुरु के उस चरण-कमल-युग्म की वन्दना करता हूँ जिसके अनुग्रह से मूक का भी सहसा वाचाल हो जाना सर्वविदित है ।

सङ्गीतपूर्वसूरीणां महतामप्यनुज्ञया ।
धैर्यमालम्ब्य कुर्वेऽमुं प्रबन्धं स्वान्तशुद्धये ॥ ४ ॥

समस्त पूर्वकालिक महान् संगीतज्ञों की अनुज्ञा से मैं धैर्यपूर्वक यह प्रबन्ध-ग्रन्थ अन्तःशुद्धि के लिए रच रहा हूँ ।

अध्याय—१

स्वराध्याय



अथ श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतप्रथमाध्याय ईयंते ।

चतुराख्येन भरतपूर्वखण्डनिवासिना^१ ॥५॥

भारतवर्ष के निवासी 'चतुर' उपाख्य लेखक के द्वारा श्रीमल्लक्ष्य-सङ्गीतम् का प्रथम अध्याय लिखा जा रहा है ।

टीका—श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम् विष्णु नारायण भातखण्डे की कृति है, जिसे उन्होंने 'चतुर पण्डित' उपनाम से लिखा है । भातखण्डे ने अपने अन्य ग्रन्थों में यत्र-तत्र इस ग्रन्थ के उद्धरणों का समावेश किया है । साथ ही अपनी मान्यताओं के समर्थन में 'चतुर पण्डित' के वचनों को वे कई स्थानों पर उद्धृत करते हैं । 'चतुर पण्डित' को उन्होंने "मेरे एक मित्र" तथा "एक विद्वान्" भी बताया है । इससे ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने 'चतुर पण्डित' को एक पूर्ववर्ती लेखक बताने का प्रयत्न किया है । पण्डित भातखण्डे का यह कृत्य कुछ विचित्र-सा तथा कुछ अंशों में भ्रम फैलानेवाला कहा जा सकता है । कुछ आधुनिक विद्वानों ने इसी आधार पर भातखण्डे पर कटु आक्षेप भी किये हैं । किन्तु, इस कृत्य की पृष्ठभूमि में किसी दुर्भावना अथवा स्वार्थ का लेशमात्र भी हो सकता है, ऐसा विश्वास भातखण्डे-साहित्य के मर्मज्ञों को नहीं होता । भातखण्डे ने निःस्पृह, निःस्वार्थ भाव से अपने आपको संगीत-कला की सेवा के लिए, समाज में उसकी पुनःप्रतिष्ठा के लिए, उसके शुद्धीकरण के लिए, उसकी सम्यक् एवं सरल शिक्षा के प्रचार-प्रसार के लिए समर्पित किया । ग्रन्थ-लेखन के माध्यम से अर्थोपार्जन की इच्छा उन्हें कभी नहीं रही । संगीत-

१. यहाँ 'पूर्व' शब्द श्लोक की मात्रा-पूर्ति की दृष्टि से रखा गया है । 'भरत-पूर्वखण्ड' का अर्थ है : वह खण्ड जिसके पहले 'भरत' लगा है, अर्थात्; भरतखण्ड, या भारतवर्ष ।

६ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

शास्त्र-ग्रन्थों में से समकालीन संगीत के लिए उपयोगी तत्वों का अन्वेषण कर उनकी सुवोध व्याख्या करना तथा आधुनिक-‘लक्ष्य’-संगीत के आधारभूत सिद्धान्तों को शास्त्र-ग्रन्थ के रूप में प्रस्तुत करना ही भातखण्डे का लेखन-धर्म था। कठोर परिश्रमपूर्वक शास्त्रों का अध्ययन करके एवं संगीतजगत् में प्रचलित मत-मतान्तरों का सूक्ष्म तात्त्विक विवेचन करके उन्होंने जो निष्कर्ष प्राप्त किये, वे लक्ष्य-संगीत के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण थे। फिर भी, उस युग के निरक्षर भट्टाचार्य कलाकारों और पूर्वग्रहदूषित बुद्धिवाले तथाकथित शास्त्रज्ञों के लिए ये नये निष्कर्ष और नूतन व्याख्याएँ उस समय तक स्वीकार्य नहीं हो सकती थीं, जब तक पण्डित भातखण्डे उनके प्रमाणों के रूप में देवभाषा संस्कृत के किसी शास्त्र-ग्रन्थ को उल्लिखित न करते। सम्भवतः यही कारण था कि उन्हें ‘चतुर पण्डित’ के छद्मनाम के साथ अपनी मान्यताओं को संस्कृत भाषा में - ‘श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्’ नामक ग्रन्थ में स्थापित करना पड़ा। इस ग्रन्थ को तत्कालीन संगीतज्ञों ने मान्यता भी प्रदान की। इस प्रकार, ‘बाबा-वाक्यं प्रमाणम्’ मानने वाले लोगों के सन्तोष के लिए पण्डित भातखण्डे ने ‘चतुर पण्डित’ को अपने से भिन्न व्यक्तित्व सिद्ध करने का प्रयास किया है, ऐसा कहना आपत्तिजनक नहीं।

निर्मथ्याति प्रयत्नेन मतभेदपयोनिधिम् ।

चतुराभिमतं वक्ष्ये हिन्दुस्थानीयपद्धतिम् ॥६॥

मतभेदों के महासागर का अत्यन्त परिश्रम के साथ मन्थन कर ‘चतुर पण्डित’ के अभिमतानुसार हिन्दुस्थानी संगीत पद्धति का वर्णन कर रहा हूँ।

प्रणाल्यौ तु प्रसिद्धे द्वे सङ्गीतस्य विदां मते ।

आद्या कर्णाटकी ख्याता हिन्दुस्थानी तथापरा ॥७॥

कर्णाटकप्रणाली या सा मद्रासनिबन्धिनी ।

अन्यत्र सर्वतो हिन्दुस्थानीया बहुसम्मता ॥८॥

तत्र तत्र प्रदेशेषु वैमत्यं सम्भवेत् क्वचित् ।

सामान्यतस्तु सैकैव पद्धतिर्बिभुषां मते ॥९॥

विद्वानों का मत है कि संगीत की दो प्रणालियाँ प्रचलित हैं। उनमें से एक को ‘कर्णाटकी’ प्रणाली कहा जाता है, तथा दूसरी को ‘हिन्दुस्थानी’ प्रणाली। मद्रास के आस-पास के प्रदेश में जो सङ्गीत-प्रणाली प्रचलित है, उसे ‘कर्णाटकी’ कहा जाता है। शेष भारत में सर्वत्र ‘हिन्दुस्थानी’ प्रणाली प्रचलित है, और वही प्रणाली बहुसम्मत है। अलग-अलग प्रदेशों में इस पद्धति

में कुछ-कुछ मतभिन्नता भी यद्यपि दिखाई देती है, तथापि विद्वानों के मतानुसार सभी स्थानों पर सामान्य रूप से यही पद्धति प्रचलित है।

टोका—भारतीय संगीत की दो प्रणालियाँ अथवा धाराएँ प्रचलित हैं। 'कर्णाटक' अथवा दाक्षिणात्य पद्धति तमिळ, तेलुगु, कन्नड़ तथा मळयाळम भाषी प्रदेशों में प्रचलित है। हिन्दुस्तानी प्रणाली, जिसे उत्तर-पद्धति भी कहा जाता है, इन प्रदेशों के अतिरिक्त शेष सभी प्रदेशों में प्रचलित है। इस बहुप्रचलित प्रणाली में प्रादेशिक तथा स्थानीय विशेषताओं का समावेश भी पाया जाता है; इसलिए इसमें अनेकानेक विविधताएँ तथा मतभेद भी दिखायी देना स्वाभाविक ही है। फिर भी, सभी प्रदेशों में और स्थानों में हिन्दुस्थानी पद्धति का एक सामान्य स्वरूप दृष्टिगोचर होता है, इसमें सन्देह नहीं।

वेद-मन्त्रों के दिव्य गान से विकसित भारतीय संगीत-कला काल-प्रवाह के साथ-साथ अग्रसर होती रही, एवं प्रत्येक युग में तत्कालीन संस्कृति और लोकरुचि से अविच्छिन्न रही। विदेशियों के आक्रमणों का जो प्रभाव हमारी संस्कृति पर हुआ, उसे हमारे संगीत ने भी अंगीकृत किया। इस्लाम धर्मावलम्बी विदेशी शासकों ने भारत पर राजनैतिक विजय प्राप्त करने के पश्चात् शनैः शनैः भारतीय सांस्कृतिक जीवन को भी प्रभावित किया। भारतीय सम्यता और कला में क्रमशः अभारतीय तत्वों का आगमन होने लगा। कलाओं के क्षेत्र में भी यह प्रक्रिया इतनी व्यापक और दीर्घकालीन रही कि प्रायः सभी कलाओं में कालान्तर में न्यूनाधिक मात्रा में सम्मिश्र शैलियाँ प्रवर्तित हो गयीं। विजेता जातियों का जितना सम्पर्क जिस प्रदेश में भारतीय जीवन से आया, उसी के अनुपात में कलाएँ भी प्रभावित हुईं। दक्षिण भारत में यह प्रभाव उत्तर भारत की अपेक्षा कम ही रहा और वहाँ के जनजीवन, संस्कृति और कलाओं में उत्तर भारत की अपेक्षा कम परिवर्तन हुए। 'हिन्दुस्तानी' और 'कर्णाटकी' पद्धतियों में भारतीय संगीत का विभक्त होना इसी युग से आरम्भ होता है। उत्तर भारत के शासक संगीतप्रिय थे। उनके अपने संगीत और भारतीय संगीत में कहीं-कहीं अद्भुत साम्य था। इसी लिए संगीत के प्रति उनकी अभिरुचि भी अधिक रही। फलस्वरूप, अनेक विदेशी 'धुनें' उत्तर भारतीय संगीत में प्रविष्ट होकर शनैः शनैः 'यवन' रागों के रूप में स्थान पाने लगीं। साथ ही, कुछ अन्य तत्व भी उत्तर-पद्धति में समाविष्ट हुए। इस प्रकार, बाह्य रूप से उत्तर भारत का संगीत दाक्षिणात्य संगीत से काफी भिन्न होता गया। तथापि, शास्त्रीय अथवा सैद्धान्तिक दृष्टि से ये दोनों पद्धतियाँ

८ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

भिन्न नहीं हैं। भरत, मतङ्ग, शार्ङ्गदेव आदि आचार्य दोनों ही पद्धतियों के लिए समान रूप से पूज्य रहे हैं, तथा उनके ग्रन्थ दोनों ही पद्धतियों के लिए आधार ग्रन्थ रहे हैं।

सङ्गीत

गीतं वाद्यं तथा नृत्यं त्रयं सङ्गीतमुच्यते ।
 मार्गदेशीविभागेन सङ्गीतं द्विविधं मतम्^१ ॥१०॥
 मार्गो देशीति तद्वेधा तत्र मार्गः स उच्यते ।
 यो मार्गितो विरिञ्च्याद्यैः प्रयुक्तो भरतादिभिः ॥११॥
 देवस्य पुरतः शम्भोनियताभ्युदयप्रदः ।
 देशे देशे जनानां यद्रुच्या हृदयरञ्जकम् ।
 गानं च वादनं नृत्यं तद्देशीत्यभिधीयते ॥१२॥

—सङ्गीतरत्नाकरे

सङ्गीतरत्नाकर के अनुसार—गीत, वाद्य और नृत्य इन तीनों को 'संगीत' कहते हैं। संगीत के दो प्रकार हैं—'मार्ग' तथा 'देशी'। 'मार्ग' वह संगीत है, जिसका अन्वेषण या दर्शन^२ ब्रह्मा आदि देवों के द्वारा किया गया, तथा जिसका प्रयोग भरत आदि मुनियों ने भगवान् शंकर के समक्ष किया, एवं जो अभ्युदयदायक है। अलग-अलग देशों में, लोगों की अभिरुचियों के अनुकूल जो हृदयरञ्जक गान, वादन और नृत्य होता है उसे 'देशी' संगीत कहा जाता है।

१. सङ्गीतरत्नाकर के अष्टयार संस्करण में यह पंक्ति नहीं मिलती (द्रष्टव्य पृ० १३-१४)

२. 'मार्गितः' का अर्थ टीकाकार कल्लिनाथ एवं सिंहभूपाल के अनुसार 'अन्वेषित' अथवा 'दृष्ट' है—'मार्गितोऽन्वेषितो दृष्टः। अनेन मार्गशब्दस्य व्युत्पत्तिरपि सूचिता'—सं० २०, अङ्० पृ० १४, सुधाकर टीका।

“मार्गितत्वान्मार्गः। मार्गितत्वं च विरिञ्च्याद्यैर्ब्रह्मादिभिः 'नाट्य-संज्ञमिदं वेदं सेतिहासं करोम्यहम्' इति प्रतिज्ञाय चतुर्षु वेदेष्वन्विष्य कृतत्वात्। मार्गित इति 'मार्गं अन्वेषणे' इत्यस्माद्धातोः कर्मणि निष्ठायां रूपम्.....।”—वहीं, कल्लिनाथ टीका।

स्वराध्याय : ९

गीतं वाद्यं नर्तनं च त्रयं सङ्गीतमुच्यते ।
 मार्गदेशीविभागेन सङ्गीतं द्विविधं मतम् ॥१३॥
 ब्रुहिणेन यदन्विष्टं प्रयुक्तं भरतेन च ।
 महादेवस्य पुरतस्तन्मार्गाख्यं विमुक्तिदम् ॥१४॥
 तत्तद्देशस्थया रीत्या यत्स्याल्लोकानुरञ्जनम् ।
 देशे देशे तु सङ्गीतं तद्देशीत्यभिधीयते ॥१५॥

—सङ्गीतदर्पणे ।

सङ्गीत दर्पण के अनुसार—गीत, वाद्य और नर्तन इन तीनोंको संगीत कहा जाता है । सङ्गीत के दो भेद हैं, 'मार्ग' और 'देशी' । 'मार्ग' वह संगीत है, जिसका अन्वेषण ब्रह्मा जी ने किया तथा जिसका प्रयोग महादेव जी के समक्ष भरत मुनि ने किया, तथा जो मुक्तिदायक है । देश-देश में वहाँ की रीतियों अथवा प्रथाओं के अनुसार जो संगीत लोकरंजक होता है, उसे 'देशी' कहते हैं ।

गीतं द्वेधा मार्गो देशी मार्गः स यो विरिञ्चयाद्यैः ।
 अन्विष्टो भरताद्यैः शम्भोरग्रे प्रयुक्तोऽख्यः ॥१६॥
 देशे देशे रच्य यज्जनहृद्रञ्जनं तु सा देशी ।
 स तु लोकरुचिर्विकलितः प्रायो लक्ष्यात्र देशी तत् ॥१७॥

—रागविवोधे ।

रागविवोध के अनुसार—गीत (अर्थात् संगीत) दो प्रकार का है—'मार्ग' और 'देशी' । वह पूज्य गीत है, जिसका आविष्कार ब्रह्मादि देवताओं ने किया तथा जिसका प्रस्तुतीकरण भरत आदि ऋषियों ने भगवान् शम्भु के समक्ष किया । देश-देश में जन-रुचियों के अनुसार मन का रंजन करने वाला गीत 'देशी' कहा जाता है । 'देशी' लोगों की रुचि के कारण विकलित, अर्थात् विकृत स्वरूप वाला; आलाप आदि से विहीन^१—होता है । लक्ष्य अर्थात् प्रचार में प्रायः 'देशी' होता है ।

अबलाबालगोपालः क्षितिपालेन निजेष्यया ।
 गीयते यानुरागेण स्वदेशे देशिरुच्यते ॥१८॥

—सङ्गीतदर्पणे ।

१. द्रष्टव्य—रागविवोध, सोमनाथ कृत टीका, पृ० १० (अध्याय संस्करण) ।

१० : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

संगीतदर्पण के अनुसार—अपने-अपने देश में जिस संगीत को स्त्रियाँ, वच्चे, गोपालक और राजा—तात्पर्य यह कि सभी वर्गों के लोग अपनी इच्छा से आनन्दपूर्वक प्रयुक्त करते हैं, उसे 'देशी' कहा जाता है।

मार्गितं प्रथमाचार्यैर्निबद्धं नियमोत्तमैः ।

अतिशुद्धस्वरूपं तत् साम्प्रतं नैव गोचरम् ॥१९॥

आद्याचार्यों द्वारा आविष्कृत एवं उत्तम नियमों से निबद्ध तथा अत्यन्त शुद्ध स्वरूप वाला 'मार्ग' संगीत वर्तमान में दृष्टिगोचर नहीं है।

व्यवहारेऽधुना यत्तु सङ्गीतं परिदृश्यते ।

तत्सर्वं देशिसंज्ञं स्यादित्याहुर्लक्ष्यवेदिनः ॥२०॥

लक्ष्यज्ञ विद्वानों के मतानुसार, आज प्रचलित व्यवहार में जो भी संगीत है, वह 'देशी' ही है।

टीका—'मार्ग' और 'देशी' संगीत-भेदों की इन व्याख्याओं के अनुसार 'मार्ग' आध्यात्मिक संगीत है, तथा 'देशी' लोकरंजनात्मक। 'मार्ग' को श्रेष्ठतर माना गया है, क्योंकि भारतीय मनीषियों की दृष्टि में श्रेष्ठ कला वही है, जिसका लक्ष्य आत्मा को परमानन्द में लीन करना हो—

“विश्रान्तिर्यस्य सम्भोगे सा कला न कला मता ।

लीयते परमानन्दे ययात्मा सा परा कला ॥”

'मार्ग' की परम्परा को अनादिकालीन तथा सुबद्ध नियमों से युक्त कहा गया है। 'देशी' जन-साधारण का संगीत है, इसलिए उसके नियम भी लचीले हैं। इस दृष्टि से इन दोनों को क्रमशः 'शास्त्रीय' संगीत और 'लोक' संगीत कहा जा सकता है। कुछ विद्वानों का मत है कि 'मार्ग' और 'देशी' सापेक्ष संज्ञाएँ हैं, तथा दोनों में प्रमुख भेद यह है कि 'मार्ग' नियमबद्ध होता है तथा 'देशी' नियम-रहित। 'देशी' भी नियमों से बद्ध हो जाने पर 'मार्ग' बन जाता है। परंतु हमारे मतानुसार 'मार्ग' की जो परिभाषाएँ शास्त्र-ग्रन्थों में मिलती हैं, उनमें 'मार्ग' का एक प्रमुख लक्षण उसकी आध्यात्मिकता ही बताया गया है। 'मार्ग' एक विशिष्ट परम्परा रही है, जो बहुत समय पहले ही लुप्त हो चुकी है।

टिप्पणी

अगले ५५ श्लोकों में 'चतुर पण्डित' ने संगीत के महत्वपूर्ण प्राचीन ग्रन्थों पर समीक्षात्मक टिप्पणी की है।

ग्रन्थेषु तु पुराणेषु श्रेष्ठो रत्नाकरो मतः ।

तत्राप्यङ्गीकृतं देश्याः प्राधान्यं शास्त्रकारिणा ॥२१॥

प्राचीन ग्रन्थों में सङ्गीतरत्नाकर को श्रेष्ठ ग्रन्थ माना गया है। उसमें भी ग्रन्थकार ने 'देशी' संगीत की ही प्रधानता स्वीकृत की है।

टीका—संगीत के प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ भरतनाट्यशास्त्र, बृहदेशी तथा सङ्गीतरत्नाकर आदि हैं। नाट्यशास्त्र नाट्य-कला-विषयक ग्रन्थ है, जिसमें संगीत-चर्चा आनुषंगिक रूप में की गयी है। मतङ्गकृत बृहदेशी अपने समग्र रूप में प्राप्य नहीं है। शार्ङ्गदेवकृत सङ्गीतरत्नाकर स्वनामधन्य ग्रन्थ है; तथा वह संगीत-रत्नों का आकर है, इसमें सन्देह नहीं। शार्ङ्गदेव ने अपने सभी पूर्ववर्ती शास्त्रकारों के मतों को भी अपने ग्रन्थ में उल्लिखित किया है। इसलिए, गायन, वादन एवं नृत्य इन तीनों अंगों का विशद विवेचन करने वाला यह ग्रन्थ सभी युगों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण शास्त्र-ग्रन्थ माना जाता रहा है। परवर्ती सभी संगीत-ग्रन्थों के लिए संगीतरत्नाकर आधारस्वरूप रहा है। सङ्गीतरत्नाकर में शार्ङ्गदेव ने 'देशी' संगीत का ही वर्णन किया है। भरत और मतङ्ग द्वारा वर्णित संगीत भी प्रधानतः 'देशी' ही है। इससे प्रमाणित होता है कि 'देशी' की परम्परा अत्यन्त पुरातन है।

पूर्वप्रसिद्धसङ्गीतं प्रसिद्धमधुना च यत् ।

द्विविधं वर्णितं तत्र सङ्गीतं सुपरिस्फुटम् ॥२२॥

संगीतरत्नाकर में संगीत के 'पूर्वप्रसिद्ध' तथा 'अधुनाप्रसिद्ध', अर्थात् प्राचीन एवं अर्वाचीन ऐसे दो भेदों का वर्णन स्पष्टतः किया गया है।

शार्ङ्गदेवस्य कालेऽपि सङ्गीतं देशिसंज्ञितम् ।

आसीत्प्रचलितं लोक इति तर्कयितुं क्षमम् ॥२३॥

हम तर्कपूर्वक यह सिद्ध कर सकते हैं कि शार्ङ्गदेव के काल में प्रचलित संगीत भी 'देशी' ही था।

टीका—शार्ङ्गदेव ने 'देशी' संगीत का ही वर्णन मुख्य रूप से किया है। 'पूर्वप्रसिद्ध' संगीत में 'मार्ग' का कुछ वर्णन सङ्गीतरत्नाकर में है।

शार्ङ्गदेवानुगाश्चापि तद्विनिर्मितपद्धतिम् ।

यथायोग्यप्रमाणेन नैव ज्ञातुमशक्नुवन् ॥२४॥

शार्ङ्गदेव के अनुयायी भी उसके द्वारा प्रतिपादित संगीत-पद्धति को यथायोग्य प्रमाण से समझने में कभी समर्थ नहीं हुए।

१२ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

टीका—सङ्गीतरत्नाकर अपने आपमें एक बृहद् ग्रन्थ है तथा अपने समकालीन संगीत का विस्तृत वर्णन करता है तथापि 'देशी' की सतत परिवर्तनशीलता के फलस्वरूप शाङ्गदेवयुगीन-संगीत का स्वरूप कालान्तर में परिवर्तित होता चला गया। इसलिए शाङ्गदेवप्रणीत अनेक सिद्धान्त परवर्ती शास्त्रकारों के लिए व्यावहारिक रूप से अज्ञेय हो चले। इसके लिए न तो शाङ्गदेव की लेखकीय योग्यता को दोष दिया जा सकता है; न उसके अनुयायियों की बौद्धिक क्षमता को ही ! किन्तु, यह भी सत्य है कि शाङ्गदेव पर अनन्य श्रद्धा के कारण उनके अनुगामियों ने सङ्गीतरत्नाकर के उन अंशों को भी अपने-अपने ग्रन्थों में उद्धृत कर दिया, जो न तो उनके अपने युगीन संगीत में उपयोगी रह गये थे और जिन्हें न तो वे स्वयं ही ठीक तरह से समझ सके थे। कुछ ग्रन्थकारों ने तो शाङ्गदेवप्रतिपादित तत्त्वों को बलात् अपने समकालीन संगीत में घटित करने और थोपने की कुचेष्टा की है, यह अनुभव भी संगीतशास्त्रों के जागरूक अध्येता को होता है। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि शाङ्गदेव के वचन कहीं-कहीं अधिक दुरुह हो गये।

'चतुर पण्डित' ने अपनी टिप्पणी में आगे सङ्गीतरत्नाकर के सम्बन्ध में कुछ शंकाएँ और आक्षेप किये हैं। यह ठीक है कि आज सङ्गीतरत्नाकर के पाठक के हृदय में इस प्रकार की शंकाएँ उठ जाना अस्वामाविक नहीं, फिर भी पर्याप्त अनुसन्धानात्मक अध्ययन के बिना ही उस ग्रन्थ पर आक्षेप करना, तथा उसके महत्त्व को कतई नकार देना हमारे विचार से उचित नहीं है। आवश्यक यह है कि इस विषय पर सूक्ष्म और विस्तृत शोध-कार्य सम्पन्न हों।

चतुर्दण्डप्रकाशाख्ये ग्रन्थे व्यङ्कटपण्डितः ।

प्राचीनरागविषये सुस्पष्टमिदमब्रवीत् ॥२५॥

“रागास्तावद्दशविधा भरताद्यैरुदीरिताः ।

ग्रामरागाश्चोपरागा रागा भाषाविभाषिकाः ॥२६॥

तथैवान्तरभाषाख्या रागाङ्गाख्यास्ततः परम् ।

भाषाङ्गानि क्रियाङ्गानि चोपाङ्गानि पुनः क्रमात् ॥२७॥

दशषुवेतेषु रागेषु ग्रामरागादयः पुनः ।

रागास्त्वन्तरभाषान्ता मार्गरागा भवन्ति षट् ॥२८॥

ततो गन्धर्वलोकेन प्रयोज्यास्ते व्यवस्थिताः ।

तस्माद्ग्रागाङ्गभाषाङ्गक्रियाङ्गोपाङ्गसंज्ञिकाः ।

रागाश्चत्वार एवैते देशिरागाः प्रकीर्तिताः” ॥२९॥

स्वराध्याय : १३

रागाङ्गादिचतुष्कं तु साम्प्रतं स्यात्सुगोचरम् ।

सङ्गीते दाक्षिणात्यानामिति सर्वत्र सम्मतम् ॥३०॥

चतुर्दण्डप्रकाशिका नामक ग्रन्थ में व्यङ्कट पण्डित ने प्राचीन रागों के विषय में स्पष्ट कहा है—“भरत आदि ने दस प्रकार के रागों का उल्लेख किया है—ग्रामराग, उपराग, राग, भाषाराग, विभाषाराग, अन्तरभाषाराग, रागांगराग, भाषांगराग, क्रियांगराग, तथा उपांगराग। पुनः, इनमें से ग्रामराग से लेकर अन्तरभाषाराग तक छह प्रकार के राग मार्गराग हैं। उनका प्रयोग गन्धर्वलोक के लिए माना गया है। अतएव रागांग, भाषांग, क्रियांग और उपांग नामक चार प्रकारों के राग ‘देशी राग’ कहे जाते हैं।” आज दाक्षिणात्य संगीत में रागांग आदि ये ४ राग-भेद स्पष्ट दिखायी देते हैं, यह सर्वसम्मत है।

टीका—प्राचीनग्रन्थगत इन दशविध रागों में से ‘मार्गराग’ बहुत पहले ही लुप्त हो चुके थे। रागांगादि चतुर्विध राग-प्रकार आज भी कर्नाटक संगीत में प्रचलित हैं। इन दस राग-भेदों का स्पष्ट और विस्तृत विवरण प्रायः नहीं मिल पाता। दक्षिणी संगीत में भी सम्भवतः इन रागांग, भाषांग, क्रियांग तथा उपांग भेदों को शास्त्रीय दृष्टि से ही स्वीकार किया जाता है। प्रचलित उत्तर भारतीय संगीत की दृष्टि से इन राग-भेदों का विशेष महत्व नहीं है।

मूर्च्छनाया रहस्यं तद्वत्नाकरप्रपञ्चितम् ।

स्फुटमेवाभावबोद्धुं न शक्तः कोऽपि पण्डितः ॥३१॥

सङ्गीतरत्नाकर में निरूपित मूर्च्छनाओं के रहस्य को कोई भी विद्वान् स्पष्ट समझ सकने में समर्थ नहीं हुआ।

जातिप्रकरणं चापि रत्नाकरनिरूपितम् ।

अनेकानुकृतं सद्यो ज्ञातुं शक्तो न कोऽपि तत् ॥३२॥

सङ्गीतरत्नाकर के जाति-प्रकरण का अनुकरण भी अनेकों ने किया है, किन्तु कोई भी उसे सरलतापूर्वक समझ नहीं पाया।

टीका—शाङ्गदेवप्रणीत मूर्च्छना-सिद्धान्त तथा जाति-प्रकरण का स्पष्ट ज्ञान उनके परवर्ती ग्रन्थकारों को प्राप्त न हो सका, फिर भी उन्होंने अपने ग्रन्थों में सङ्गीतरत्नाकर के उन अंशों को भी संकलित कर लिया है। मूर्च्छनाओं के विषय में बहुत से लेखकों ने अपने-अपने ढंग से लिखा है, परन्तु उन

१४ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

सबके मध्य संगीतरत्नाकर का वास्तविक मन्तव्य भटक गया है। जाति-संगीत के लुप्त हो जाने के कारण सङ्गीतरत्नाकर का जाति-प्रकरण अज्ञेय बन गया।

सङ्गीतसमयसारे चन्द्रिकायां सुधाकरे ।

चूडामणिशिरोमण्यो रत्नाकरानुवर्तनम् ॥३३॥

लेखकैस्त्वपुराणैस्तद्वृक्ष्यतेऽनुकृतो भृशम् ।

रत्नाकरस्वराध्यायो रागाध्यायस्त्वनावृतः ॥३४॥

सङ्गीतसमयसार, रागचन्द्रिका, सङ्गीतसुधाकर, सङ्गीतचूडामणि तथा सङ्गीतशिरोमणि में भी, उन ग्रन्थों के अर्वाचीन लेखकों ने भी, सङ्गीतरत्नाकर के स्वराध्याय का ही बहुत अंशों में अनुकरण किया है, किन्तु रागाध्याय की उपेक्षा की है।

दामोदरस्तथा सोमनाथो रत्नाकरानुगौ ।

रागाध्यायमनावृत्य चक्रतुर्ग्रन्थनिर्मितिम् ॥३५॥

सङ्गीतरत्नाकर के अनुगामी पण्डित दामोदर तथा सोमनाथ ने उस ग्रन्थ के रागाध्याय को महत्व न देते हुए अपने ग्रन्थों की रचना की।

अहोबलव्यङ्कटेशरामामात्यतुलाधिपाः ।

स्वतन्त्रा रागनिर्देशे दोषभाजो न मे मते ॥३६॥

पण्डित अहोबल, व्यङ्कटमखी, रामामात्य तथा तुलजाधिप रागों के निर्देशों के विषय में स्वतन्त्र रहे हैं। मेरे विचार से, इसमें कोई दोष नहीं है।

तात्पर्य यह कि इन पण्डितों ने भी राग-विवरणों में सङ्गीतरत्नाकर के रागाध्याय का आश्रय नहीं लिया है। 'चतुर पण्डित' के अनुसार, इसके लिए उन ग्रन्थकारों को दोष नहीं दिया जा सकता।

पुण्डरीको भावभट्टो लोचनो हृदयस्तथा ।

लक्ष्यमार्गमनुसृत्य स्वस्वग्रन्थानकुर्वत ॥३७॥

पुण्डरीक विट्ठल, भावभट्ट, लोचन तथा हृदय नारायण देव ने लक्ष्य-मार्ग, अर्थात् प्रचलित संगीत का अनुसरण करते हुए अपने-अपने ग्रन्थों की रचना की।

रागलक्षणकाराद्या बहवोऽन्ये परिस्फुटम् ।

विषये तत्र रागाणां स्वातन्त्र्यं दर्शयन्ति ते ॥३८॥

रागलक्षणकार तथा बहुत से अन्य ग्रन्थकार रागों के विषय में सङ्गीत-रत्नाकर से स्पष्टतः स्वतन्त्र अथवा असम्बद्ध दिखायी देते हैं।

श्रीमद्रत्नाकरप्रोक्तरागाध्यायाशयोऽखिलः ।

स्वश्लोकैर्ग्रथितः कैश्चिद्ग्रन्थकारैरसंशयम् ॥३९॥

तदाशयस्तथाप्येतैरवबुद्धो यथार्थतः ।

इती तल्लेखतो नैव प्रतिभाति कथञ्चन ॥४०॥

इसमें सन्देह नहीं, कि कुछ ग्रन्थकारों ने सङ्गीतरत्नाकर के समस्त आशय को अपने श्लोकों में बद्ध कर दिया है। फिर भी, उनके ग्रन्थों से यह किसी भी प्रकार मालूम नहीं होता, कि उन्होंने उक्त ग्रन्थ के रागाध्याय को वास्तविक रूप में समझा है।

टीका—ऊपर के दस श्लोकों (श्लोक ३१ से ४० तक) में 'चतुर-पण्डित' ने सङ्गीतरत्नाकरप्रणीत कुछ सिद्धान्तों की परवर्ती काल में अनुपयोगिता का संकेत किया है। इस ग्रन्थ का आधार सभी युगों के लेखकों ने यद्यपि लिया है तथापि उसमें निरूपित मूर्च्छना, जाति, एवं राग विषयक प्रकरणों को, कुछ तो उन्हें समझ सकने में अपनी असमर्थता के कारण, तथा अपने युग में उनकी व्यावहारिक अनुपयोगिता के कारण, उन ग्रन्थकारों ने महत्व नहीं दिया। सङ्गीतरत्नाकरगत मूर्च्छना-विधि का स्पष्ट ज्ञान आगामी युगों के लेखकों को क्वचित् ही प्राप्त हो सका। जाति-गान की पद्धति अस्तप्राय हो चुकी थी। शाङ्गदेवोक्त राग-वर्णन भी क्रमशः अनुपयोगी सिद्ध होने लगे। इसके अनेक कारण हैं, जिनमें से प्रमुख हैं—लोकरुचि का परिवर्तन, राग-स्वरूपों में शूनैः शूनैः परिवर्तन, भारतीय संगीत पर इस्लामी संगीत का प्रभाव, भारतीय संगीत का उत्तर और दक्षिण दो पद्धतियों में विभाजन आदि। सङ्गीतरत्नाकर का श्रुति-स्वर प्रकरण निस्सन्देह सभी ग्रन्थकारों ने सादर अपनाया, क्योंकि अपने समकालीन संगीत के स्वर-स्थानों को वे सङ्गीतरत्नाकर के अनुसार व्यक्त करने का प्रयत्न काफी दूर तक कर सके। ग्रन्थकार को अपने युग का प्रतिनिधि होना चाहिए। इस लेखकीय प्रतिबद्धता के प्रति जागरूक ग्रन्थकार यदि सङ्गीतरत्नाकर के प्रति श्रद्धावान् रहते हुए भी युगीन स्थितिवोध के कारण, उससे यथावश्यक प्रमाण में पृथक् हो गये हों तो वह न आश्चर्यजनक ही है, न शोचनीय ही ! दूसरी ओर, कतिपय ऐसे भी लेखक हुए, जिन्होंने सङ्गीतरत्नाकर का मत मात्र शाब्दिक परिवर्तन सहित

१६ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

अपने ग्रन्थों में रख दिया, किन्तु उसे स्पष्ट करने या उसका सामंजस्य अपने काल के संगीत से स्थापित करने का प्रयत्न नहीं किया ।

गूढं गूढतरं भावं प्रापयितुमसंशयम् ।

नैवोचितं कदाचित्स्याद्वीमतामिति मे मतिः ॥४१॥

जो भाव गूढ़ और अतिगूढ़ होते हैं, उन्हें अत्यन्त ही स्पष्ट रूप से अन्य लोगों तक पहुँचा पाना विद्वानों के लिए भी कदापि सम्भव नहीं; ऐसा मैं मानता हूँ ।

प्राचीनशास्त्रकेऽज्ञाते सङ्गीतपरिवर्तनात् ।

वस्तुस्थितिरुदाहार्या ग्रन्थकृद्भिरमायया ॥४२॥

संगीत की परिवर्तनशीलता के कारण प्राचीन शास्त्रों के अज्ञात हो जाने की स्थिति में ग्रन्थकारों को निष्कपट रूप से—यानी ईमानदारी के साथ—वस्तुस्थिति का ही प्रतिपादन करना चाहिए ।

टीका—संगीत लोकजीवी कला है । लोकश्च सतत परिवर्तनमयी है; तथा वह नित्य नूतन की ओर आकृष्ट होती रहती है । इसी लिए, लोकश्च से आवद्ध कलाएँ भी सर्वदा परिवर्तनों को अंगीकृत करती चली जाती हैं । एक युग में कला का जो पक्ष और जो स्वरूप आकर्षण का केन्द्र-बिन्दु रहता है, वही कालान्तर में अपना आकर्षण खो देता है, और कोई नया ही/तत्त्व उसका स्थान ग्रहण कर लेता है । प्राचीन का परित्याग और नवीन का स्वीकरण—यही कला की प्रवृत्ति है, यही उसका सामान्य विकास-क्रम है । कलाशास्त्रीय ग्रन्थ अपने समकालीन कला-तत्त्वों तथा रूपों को व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत करने एवं पूर्वपरम्परा से उनका सम्बन्ध प्रदर्शित करने के उद्देश्य से ही रचे जाते हैं । इसी लिए, ऐसे ग्रन्थों का ऐतिहासिक महत्व तो है, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि-कोण से उनकी अपनी एक सीमा भी है । इस सीमा को स्वीकृत करते हुए ही उनका उपयोग परवर्ती ग्रन्थकारों को करना चाहिए । इसके साथ ही, ग्रन्थकार का यह भी कर्तव्य है कि वह स्वयुगीन कला की यथार्थ अवस्था का निरूपण निष्पक्ष तथा पूर्वग्रह-रहित दृष्टि से करे ।

परिवर्तनशीलं यत्सङ्गीतं ग्रन्थकर्तृभिः ।

नष्टप्रायं पुराणं तत्स्पष्टीकर्तुं न शक्यते ॥४३॥

नावश्यकं हि तत्किन्तु यया कयापि भाषया ।

असामञ्जस्यवृद्धिस्तु नाभीष्टेति ब्रवीम्यहम् ॥४४॥

जो संगीत परिवर्तनशील है, नष्टप्राय है, प्राचीन है, उसका स्पष्टीकरण ग्रन्थकार न तो कर सकते हैं, और न यह आवश्यक ही है। किन्तु, जैसा-तैसा कुछ भी लिख कर असामञ्जस्य की वृद्धि नहीं की जानी चाहिए—ऐसी मेरी मान्यता है।

‘चतुर पण्डित’ का आशय यह है, कि जब प्राचीन संगीत को स्पष्ट कर पाना सम्भव नहीं है, तब उसके विषय में प्रमाणरहित रूप से चाहे जैसा लिख देना उचित नहीं, क्योंकि वह उसे और अधिक दुरुह बना देता है।

रत्नाकरोक्तरागेषु व्याख्याता जातिसूच्छनाः ।

रागमेलास्तदुत्पन्ना नैव कुत्राप्यवेक्षिताः ॥४५॥

सङ्गीतरत्नाकर के रागों में उल्लिखित जातियाँ और मूर्च्छनाएँ तथा उनसे उत्पन्न रागमेल आज कहीं भी दिखायी नहीं देते।

अज्ञाते ग्रामरागोक्तमेले ग्रन्थो निरर्थकः ।

मेलास्तु जनकाः प्रोक्ता रागाणामिति सम्मतम् ॥४६॥

ग्रामरागों में बताये गये मेलों के ज्ञात न होने के कारण वह ग्रन्थ ही निरर्थक है, क्योंकि यह सर्वसम्मत है कि मेलों को रागों का जनक कहा गया है।

टीका—सङ्गीतरत्नाकर के रागाध्याय में रागों से सम्बन्धित मूर्च्छनाओं, जातियों और रागमेलों के उल्लेख हैं। आज ये मूर्च्छनाएँ, जातियाँ और राग-मेल लुप्त हो चुके हैं। इसी ग्रन्थ में ग्रामरागों के लक्षणों के अन्तर्गत जिन मेलों का नाम-निर्देश है, वे भी आज परिचित नहीं हैं। ऐसी स्थिति में, सङ्गीतरत्नाकर आज की दृष्टि से निरर्थक प्रतीत होता है, क्योंकि बिना मेलों का ज्ञान हुए उनसे उत्पन्न रागों को समझा नहीं जा सकता।

रागादीनामुदीर्यन्ते नानाग्रन्थेषु सूतयः ।

तत्र तेषां च रागाणां न स्वराद्युपलभ्यते ॥४७॥

कतिपय ग्रन्थों में रागों की मूर्तियों—अथवा ध्यान-चित्रों—के उल्लेख हैं, परन्तु उन रागों के स्वर उनमें उपलब्ध नहीं हैं।

ग्रन्थाः सङ्गीतदृष्ट्या ते केवलं निष्फला मताः ।

मूर्तितास्ते कथं मेला इत्यप्युल्लेखमर्हति ॥४८॥

सङ्गीत की दृष्टि से ऐसे ग्रन्थ निरर्थक माने जाते हैं। वे राग-मेलों में किस प्रकार निरूपित हैं, यह भी बताया जाना चाहिए।

१८ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

हनुमन्मतमद्यापि प्रचरत्यत्र लक्ष्यके ।
 एतत्समर्थनं नित्यं श्रूयते गायकः कृतम् ॥४९॥
 को ग्रन्थस्तन्मतस्य स्यात्किं च तत्राभिधीयते ।
 इत्येवं नैव स्वप्नेऽपि तेषां समुपलभ्यते ॥५०॥

हनुमन्मत आज भी संगीत में प्रचलित है, तथा उसका समर्थन गायक प्रायः करते हैं। किन्तु उक्त मत का प्रतिपादक ग्रन्थ कौन सा है, और उसमें क्या कहा गया है—यह उन गायकों को स्वप्न में भी ज्ञात नहीं हो पाता।

टीका—राग-रागिनियों के विषय में शिवमत, भरतमत, हनुमन्मत, रागार्णवमत आदि का उल्लेख कलाकार करते हैं। पण्डित दामोदर ने भी इनमें से कुछ मतों के अनुसार राग-परिवारों को बताया है। हनुमन्मत के समर्थक बहुत से गायक आज विद्यमान हैं। परन्तु, उनमें से किसी को भी यह ज्ञात नहीं कि हनुमन्मत का आधारभूत ग्रन्थ कोई है भी या नहीं! कहते हैं कि श्रीहनुमानजी (?) इस मत के प्रवर्तक हैं। प्रमाणों के अभाव में इस सम्बन्ध में कुछ भी कह सकना कठिन है। हनुमन्मत की प्रामाणिकता भी इसी लिए विद्वानों की दृष्टि में सन्दिग्ध रही है।

जाने नाक्षेप इष्टः स्याद्ग्रन्थकारोक्तिषु भृशम् ।

नार्यः स्याद्गोपने वस्तुस्थित्यास्तथापि मे मते ॥५१॥

मैं जानता हूँ कि ग्रन्थकारों के वचनों पर अधिक आक्षेप नहीं करना चाहिए। किन्तु, मेरे विचार से, यथार्थ स्थिति को छिपाने से कोई लाभ नहीं।

जातिप्रकरणस्योपयोगः सम्यक्तया तथा ।

यत्र स्पष्टतया प्रोक्तः स ग्रन्थो नोपलभ्यते ॥५२॥

जातियों का उपयोग अच्छी तरह से तथा स्पष्टतः समझाने वाला कोई भी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

विद्यते ह्यभिमानो मे ग्रन्थोपरि महत्तरः ।

तदभ्यासे प्रयत्नोऽपि यथाशक्ति मया कृतः ॥५३॥

प्राचीन ग्रन्थों पर मुझे बहुत गर्व है, तथा उनके अध्ययन का यथाशक्ति प्रयत्न भी मैंने किया है।

रत्नाकरोक्तरागाणां युक्तमेकनिरूपणे ।

प्रयत्नो न कृतः कैश्चिदिति लक्ष्यज्ञसम्मतम् ॥५४॥

स्वराध्याय : १९

आधुनिक सङ्गीतज्ञों का मत है कि सङ्गीतरत्नाकरोक्त रागों का उनके लिए उचित मेलों में निरूपण करने का प्रयत्न नहीं किया गया है।

अतस्ते कीदृशा रागा भवेयुरिति तत्त्वतः ।

ज्ञातं तैरथवा नेति शङ्कास्पदं भवेद्भ्रुवम् ॥५५॥

इसलिए, यह भी निश्चितरूप से शंकास्पद ही है कि सङ्गीतरत्नाकर का अनुकरण करने वाले लोगों ने यह समझा भी है या नहीं कि वे राग किस तरह के हैं।

ते स्वकालीनसङ्गीतनिपुणाः स्युरसंशयम् ।

नावश्यं तेन ते रत्नाकरसङ्गीतपारगाः ॥५६॥

इसमें सन्देह नहीं कि वे ग्रन्थकार अपने समकालीन सङ्गीत में निपुण थे। किन्तु, मात्र इसी कारण से, वे सङ्गीतरत्नाकरयुगीन सङ्गीत के भी विद्वान् रहे हों, यह आवश्यक नहीं।

सङ्गीतदर्पणे नैव समीचीनतया पुनः ।

मूर्च्छानामां विवेकोऽपि सत्कृतो रागनिर्णये ॥५७॥

मूर्च्छनाओं के विषय में ठीक तरह से विचार सङ्गीतदर्पण के राग-निर्णय प्रकरण में नहीं किया गया है।

रत्नाकराभिधं ग्रन्थं पठतो यस्य कस्यचित् ।

पुरतः प्रस्फुरन्त्येव प्रज्ञा एवंविधा स्वयम् ॥५८॥

श्रुतिजात्युपयोगः क्व क्रियेत नियमैश्च कः ।

मेला आधुनिकाः के स्युर्मध्यमग्रामसंज्ञिताः ॥५९॥

मध्यमग्रामगा रागाः प्रचरन्ति न वाऽधुना ।

प्रचारेऽप्येकवाक्यत्वं भवेद्रत्नाकरस्य किम् ॥६०॥

साधारणप्रकरणं ग्रामरागनिरूपणे ।

उपयोगि कथं भूयादिति कुत्रापि नोक्तिम् ॥६१॥

मृदुगनियुता रागाः के स्यु रत्नाकरोक्ताः ।

तीव्रमध्यमयुक्तः के किं स्यात्तेषां समर्थनम् ॥६२॥

मेला ग्रासाख्यरागाणां कीदृशा लक्ष्यवर्त्मनि ।

कथमेते च सिद्धेयुरित्युदाह्यतामिह ॥६३॥

यथार्था मूर्च्छनाटीका कल्लिनाथकृताऽस्ति किम् ।

तथात्वे कीदृशा मेला सिद्धेयुरिति कथ्यताम् ॥६४॥

२० : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

प्रतिरागमलङ्कारा निश्चिताः किमतीर्यताम् ।
 रहस्यं शुद्धतानानां किमासीदित्युदीर्यताम् ॥६५॥
 रागाध्याये किमप्येषां समुल्लेखो न लभ्यते ।
 केपुचिच्छुद्धतानेषु कृतः षड्जविवर्जनम् ॥६६॥
 रागतत्स्थयादिरचना तत्त्वमाश्रित्य किं कृता ।
 रागमिश्रणमानानि तत्र ज्ञेयान्यथो कथम् ॥६७॥
 अपेक्षा मध्यमग्रामस्यासीत् प्राक्किं न साऽधुना ।
 किमासीत्तीव्रमस्यात्र सम्बन्धो रागशैलने ॥६८॥
 एवं स्युः कतिचित् प्रश्ना अर्वाचीनविदां हवि ।
 ज्ञानसामयभावे तु किं ते ब्रूयुस्तपस्विनः ॥६९॥

सङ्गीतरत्नाकर के किसी भी अध्येता के समक्ष इस प्रकार के प्रश्न स्वयमेव उपस्थित हो जाते हैं—

श्रुतियों की जातियों का क्या उपयोग है, तथा वह किस प्रकार किया जाता है ?

कौन-कौन से आधुनिक मेल मध्यमग्रामीण कहे जा सकते हैं ?

मध्यमग्रामगेय राग आज प्रचार में हैं, या नहीं ? यदि हैं, तो सङ्गीत-रत्नाकरोक्त रागों से क्या उनका साम्य भी है ?

‘साधारण’-प्रकरण ग्रामरागों के निरूपण में किस प्रकार से उपयोगी है—इसका वर्णन कहीं नहीं किया गया ।

कोमल गान्धार-निषाद युक्त राग सङ्गीतरत्नाकर के अनुसार कौन से राग हैं ?

तीव्रमध्यम वाले राग उस ग्रन्थ में वर्णित रागों में से कौन से हैं और उसका क्या प्रमाण है ?

ग्रामरागों के मेल आधुनिक सङ्गीत के अनुसार कौन-से हो सकते हैं, और वे किस प्रकार उत्पन्न होते हैं ?—यह उदाहरणों सहित बताया जाना चाहिए ।

कलिनाथकृत मूर्च्छना-टीका क्या ठीक है ? यदि है तो उनसे मेल कैसे निर्मित हो सकते हैं ?—यह स्पष्ट किया जाना चाहिए ।

यह भी बताया जाना चाहिए कि प्रत्येक राग के लिए क्या अलंकार निश्चित हैं ?

शुद्ध-तानों का रहस्य क्या था ?—यह समझाया जाना चाहिए । इन तानों का उल्लेख रागाध्याय में क्यों नहीं मिलता ? कुछ शुद्ध-तानों में षड्ज को वर्जित क्यों किया गया है ?

राग और तत्सम्बद्ध रागिनी आदि की कल्पना किस तत्त्व के आधार पर की गयी और उनमें रागों के परिमाणों को कैसे ज्ञात किया जा सकता है ?

मध्यमग्राम की आवश्यकता उस काल में क्या थी, और अब क्यों नहीं है ?

रागमेलों में तीव्रमध्यम का क्या सम्बन्ध था ?

इस प्रकार के कितने ही प्रश्न आधुनिक सङ्गीत के विद्वानों के हृदयों में उठते हैं । किन्तु, तद्विषयक ज्ञान-सामग्री के अभाव में वे कहें भी तो क्या कहें ?

टीका—सङ्गीतरत्नाकर का अध्ययन करते हुए आज के पाठक के हृदय में अनेक प्रश्न उठते हैं, जिनका समुचित समाधान नहीं हो पाता, ऐसा 'चतुर पण्डित' का अभिप्राय है । कुछ प्रश्नों को यहाँ उठाया गया है । यथा—ग्रामगत २२ श्रुतियों को प्राचीन ग्रन्थकारों ने दीप्ता, आयता, करुणा, मृदु तथा मध्या—इन पाँच जातियों में विभाजित किया है । तीव्रा, रौद्री, वज्रिका और उग्रा—ये चार श्रुतियाँ दीप्ता जाति की हैं । आयता जाति की पाँच श्रुतियाँ हैं—कुमुद्वती, क्रोधा, प्रसारिणी, सन्दीपनी और रोहिणी । करुणा जाति में तीन श्रुतियाँ दयावती, आलापिनी और मदन्ती हैं । मन्दा, रति, प्रीति, क्षिति इन चार श्रुतियों को मृदु जाति के अन्तर्गत बताया गया है । मध्या जाति की छह श्रुतियाँ—छन्दोवती, रंजनी, मार्जनी, रक्तिका, रम्या और क्षोभिणी—कही गयी हैं ।^१ श्रुतियों की जातियों का निरूपण किस प्रयोजन से किया गया है, इसे टीकाकार सिंहभूपाल ने इस प्रकार समझाया है—

“ ननु किं श्रुतिजातिनिरूपणेन प्रयोजनम् ? उच्यते—तत्तज्जातिकां श्रुतिं श्रुत्वा मनसो नामसाम्येन तथा तथा विकार उत्पद्यत इति सूचयितुं श्रुति-जातिनिरूपणम् । ततश्च दीप्तां श्रुतिमाकर्ण्य मनसो दीप्तत्वमिव भवति, आयतां श्रुतिमाकर्ण्य तत्त्वमिव, एवं करुणत्वादि ज्ञातव्यम् ॥”^२

१. सङ्गीतरत्नाकर १।३।३१-३५ ।

२. सङ्गीतरत्नाकर. प्रथम भाग. पृ. ८८ (अङ्. संस्क.) ।

२२ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

सिंहभूपाल के अनुसार श्रुतियों की ये जातियाँ उन मनोविकारों की सूचक हैं जो उन्हें सुन कर उत्पन्न होते हैं। उदाहरणार्थ—दीप्ता श्रुतियों को सुन कर मन में दीपत्व-सा लगता है।

यह व्याख्या श्रुतियों की जातियों की उपयोगिता को किसी भी प्रकार स्पष्ट नहीं करती। किसी ध्वनि को सुन कर प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में प्रत्येक समय और परिस्थिति में कोई एक विशिष्ट भाव ही उत्पन्न होगा—यह कहना बिल्कुल अवैज्ञानिक है। स्वयं सङ्गीतरत्नाकरकार ने भी श्रुतिजातियों का स्पष्टीकरण नहीं किया है। पण्डित अहोबल ने कह दिया कि जिस प्रकार ईश्वर और दूध के माधुर्य को वर्णित नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार श्रुतिगत जातियाँ भी शब्दों के द्वारा नहीं बतायी जा सकतीं, वे प्रत्यक्ष श्रवण से ही अनुभव की जा सकती हैं—

“इक्षुक्षीरगतं यद्वन्माधुर्यं नोच्यते बुधैः ।

तद्वच्छ्रुतिगता जातिर्वाचा को वा वविष्यति ॥

श्रोत्रप्रत्यक्षसिद्धास्ताः भिन्नश्रुतिसमाश्रिताः ।

तद्वच्छ्रुतिगता जातिरन्वर्थनामका भवेत् ॥”

ऐसी स्थिति में, आज के विद्यार्थी के लिए यह समझ सकने का कोई साधन नहीं कि प्राचीन शास्त्रकारों ने श्रुतियों का जातिनिरूपण किस उद्देश्य से किया था तथा श्रुति-जातियों की व्यावहारिक उपयोगिता क्या थी ?

दूसरा प्रश्न है, आधुनिक मेलों में से मध्यमग्राम के स्वरों से युक्त मेल कौन से हो सकते हैं ? विद्वानों के मतानुसार ‘मेल’ शब्द का व्यवहार दाक्षिणात्य पण्डित विद्यारण्य ने प्रचलित किया, एवं ‘मेल’ एक तरह से मूच्छना ही है। सङ्गीतरत्नाकर में यद्यपि मेलों की चर्चा नहीं है, तथापि मध्यमग्रामीण मूच्छनाओं का परवर्ती काल में किन मेलों में रूपान्तरण हो गया, यह प्रश्न सङ्गीतरत्नाकर की मूच्छनाओं और रागों के अध्ययन के समय उत्पन्न हो सकता है। इस प्रश्न का सन्तोषजनक उत्तर अब तक नहीं मिल सका है। इसी प्रकार, सङ्गीतरत्नाकरोक्त विभिन्न प्रकार के रागों में से जो मध्यमग्रामजन्य राग कहे गये हैं, उनके वर्तमान रागों से सम्बन्ध भी स्पष्ट नहीं हो सके हैं।

प्राचीन ग्रन्थों में ‘स्वर-साधारण’ और ‘जाति-साधारण’ के विवरण मिलते हैं। ‘साधारण’ वह स्वर कहा गया है जो अपनी शुद्धस्थिति से तो आगे

१. सङ्गीतपारिजात, पृ. १६, १८ (संगीत कार्यालय, हाथरस) ।

स्वराध्याय : २३

बड़ा हुआ होता है, किन्तु आगामी शुद्धस्वर तक पहुँचा हुआ नहीं होता। दूसरे शब्दों में, दो शुद्धस्वरों के मध्य में स्थित स्वर 'साधारण' कहा जा सकता है। सङ्गीतरत्नाकर में काकली, अन्तर, षड्ज तथा मध्यम नामक चार 'साधारण' बताये गये हैं। सङ्गीतरत्नाकरोक्त १२ विकृत स्वरों में इन 'साधारण' स्थितियों वाले स्वर हमें दिखायी देते हैं। इन १२ विकृत स्वरों में से स्वतन्त्र स्वर-स्थान तो ७ ही हैं—साधारण और अन्तरगान्धार, च्युतमध्यम, त्रिश्रुतिक पंचम, कैशिक और काकली निषाद; शेष ५ स्वर अच्युत षड्ज, विकृत ऋषभ, अच्युत मध्यम, कैशिक पंचम और विकृत धैवत क्रमशः शुद्ध षड्ज, शुद्ध ऋषभ, शुद्ध मध्यम, त्रिश्रुतिक पंचम तथा शुद्ध धैवत ही हैं। रागाध्याय में जिन रागों का वर्णन है, उनसे साधारण स्वरों के रागों में प्रयोग पर प्रकाश नहीं डाला गया है। इसलिए यह समझ सकना कठिन है कि स्वर-साधारण्य की व्यावहारिक उपयोगिता उस काल में क्या थी।

इसी प्रकार, सङ्गीतरत्नाकर जैसे महत्वपूर्ण ऐतिहासिक ग्रन्थों के अध्ययन के समय अनेक उल्लेखन-भरे प्रश्न उपस्थित होते हैं, जिनमें से कुछ यहाँ उद्धृत किये गये हैं। सौभाग्य से, कतिपय आधुनिक विद्वान प्राचीन शास्त्र-ग्रन्थों को स्पष्ट करने की दिशा में प्रयत्नशील हैं।

दुर्वोधांशं परित्यज्य प्रचारमनुसृत्य च ।

यत्तेषां ग्रन्थनिर्माणं समीचीनं हि मे मते ॥७०॥

अतएव, ग्रन्थकारों द्वारा प्राचीन ग्रन्थों—विशेषतः सङ्गीतरत्नाकर के दुर्वोधांशों को छोड़ कर तथा समकालीन सङ्गीत का अनुसरण कर ग्रन्थों का सृजन किया जाना मेरे मत से समुचित ही है।

स्वाभिप्रायं सदा स्पष्टं जानीयुः सकलाः जनाः ।

एतदेव भवेद्ध्येयं ग्रन्थानामित्यसंशयम् ॥७१॥

ग्रन्थों का ध्येय, निश्चय ही, यह हुआ करता है कि उनमें निहित ग्रन्थ-कार के अभिप्राय को समी पाठक स्पष्ट रूप से समझ सकें।

रागपूर्वविबोधोऽथ चतुर्वण्डिकलानिधी ।

तरङ्गिणी तथा रागमञ्जरी पारिजातकः ॥७२॥

कौमुदी तत्त्वबोधोऽपि हृत्प्रकाशश्च कौतुकम् ।

ग्रन्थानेतान् प्रकुर्वाणा यान्ति ते धन्यतां ध्रुवम् ॥७३॥

२४ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

रागविबोध, चतुर्दण्डप्रकाशिका, कलानिधि, रागतरङ्गिणी, राग-मञ्जरी, सङ्गीतपारिजात, रागकौमुदी, रागतत्त्वविबोध, हृदयप्रकाश और हृदयकौतुक के रचयिता निम्न ही धन्य हैं।

निर्व्याजं निर्भयं स्पष्टं प्रोक्तानि स्वमतानि तैः ।

अकारि च समीचीनं यद्दृष्टं लक्ष्यवर्त्मनि ॥७४॥

इन ग्रन्थकारों ने अपने समकालीन सङ्गीत में जो भी देखा, उसका बड़ा ही सच्चा, निर्भीक, स्पष्ट और समीचीन वर्णन उन्होंने अपने मतानुसार किया।

ननु नावगताः सम्यग्रन्यास्त इति चेन्मतम् ।

तदास्पल्लेखजाह्नवादिष्टः स्यात्तत्त्वनिर्णयः ॥७५॥

यदि ऐसा लगता हो, कि ये ग्रन्थ सम्यक् रूप से ज्ञात नहीं हो पाते तो हमारे ग्रन्थ में प्रतिपादित विचारों से उनके विषय में तत्त्वनिर्णय हो सकता है।

‘चतुर पण्डित’ का आशय यह है कि रागविबोध इत्यादि उपयोगी ग्रन्थों में प्रतिपादित तात्त्विक विचारों का स्पष्ट ज्ञान श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम् की सहायता से हो सकता है, क्योंकि आगे इस ग्रन्थ में पूर्ववर्ती ग्रन्थों के वे अंश यथास्थान उद्धृत किये गये हैं, जो वर्तमान सङ्गीत की दृष्टि से उपयोगी एवं ज्ञातव्य हैं।

सङ्गीतं ग्रन्थगं लक्ष्यगं भाविगमिति त्रिधा ।

ग्रन्थगोऽन्तर्गतं सर्वं सङ्गीतं शास्त्रगोचरम् ॥७६॥

यदीदानीं प्रचरति लक्ष्यसङ्गीतमेव तत् ।

एतावदेव ग्रन्थेऽस्मिन्नान्यच्छास्त्ररहस्यकम् ॥७७॥

सङ्गीत के तीन प्रकार हैं : ग्रन्थगत सङ्गीत, लक्ष्य-संगीत एवं भावी संगीत। शास्त्रग्रन्थों में वर्णित संगीत को ग्रन्थगत सङ्गीत कहा जाता है। जो सङ्गीत आज प्रचार में है वही लक्ष्य-सङ्गीत है। हमारे इस ग्रन्थ में इसी लक्ष्य-सङ्गीत का प्रतिपादन किया गया है, न कि अन्य शास्त्रों के रहस्यों का।

केनोपायेनाधुनिकं लक्ष्यसङ्गीतमाशिवदम् ।

अवगन्तव्यमित्येव साध्यमत्र न संशयः ॥७८॥

वह कौन-सा उपाय अथवा विधि है, जिसके द्वारा आधुनिक सङ्गीत को शीघ्र ही समझा जा सकता है—यही इस ग्रन्थ का साध्य है, इसमें सन्देह नहीं।

टीका—सङ्गीत के तीन भेद यहाँ उल्लिखित हैं, जिन्हें हम ऐतिहासिक, वर्तमान एवं भविष्यत् सङ्गीत भी कह सकते हैं। ऐतिहासिक सङ्गीत वह है जो पूर्वकालीन सङ्गीतशास्त्रों में वर्णित है। इस सङ्गीत की कल्पना मात्र हम ग्रन्थों के अध्ययन से कर सकते हैं। उसके ज्ञान का एकमात्र मार्ग हमारे लिए ग्रन्थों का अवगाहन ही है। वर्तमान प्रचार में जो सङ्गीत है, उसे ही लक्ष्य-सङ्गीत कहा जाता है। आगामी युगों के सङ्गीत को भावी सङ्गीत कहा गया है।

श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम् ने, अपने नाम के अनुकूल ही, आधुनिक युग के सङ्गीत को अपना वर्ण्य विषय बनाया है। पुराकालीन शास्त्रग्रन्थों के सिद्धान्तों को स्पष्ट करना इसका लक्ष्य नहीं। यहाँ तो वह मार्ग प्रस्तुत करने का प्रयास 'चतुर पण्डित' ने किया है जिसके द्वारा समकालीन सङ्गीत का ज्ञान शीघ्रता से, साथ ही सरलता से, हो सकता है। 'चतुर पण्डित' भातखण्डे ने यावज्जीवन अपना सम्पूर्ण परिश्रम आधुनिक सङ्गीत का सुबोध एवं वैज्ञानिक ज्ञान सर्वसाधारण के लिए सुलभ करने की दिशा में ही किया। इन्हीं प्रयासों का प्रतिफल 'श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्' है।

सङ्गीतप्रशस्ति

आगामी ९ श्लोकों में सङ्गीत-कला की प्रशंसा अथवा महात्म्य को स्पष्ट करने के लिए प्राचीन ग्रन्थों के कुछ उद्धरण प्रस्तुत किये गये हैं।

सामवेदादिवं गीतं सञ्जग्राह पितामहः ॥७९॥

गीतेन प्रीयते देवः सर्वज्ञः पार्वतीपतिः ।

गोपीपतिरनन्तोऽपि वंशध्वनिवशं गतः ॥८०॥

सामगीतिरतो ब्रह्मा वीणासक्ता सरस्वती ।

किमन्ये यक्षगन्धर्वदेवदानदमानवाः ॥८१॥

अज्ञातविषयास्वादो बालः पर्यङ्कितागतः ।

रुदन् गीतामृतं पीत्वा हर्षोत्कर्षं प्रपद्यते ॥८२॥

वनेचरस्तृणाहारश्चित्रं मृगशिशुः पशुः ।

लुब्धो लुब्धकसङ्गीते गीते त्यजति जीवितम् ॥८३॥

तस्य गीतस्य माहात्म्यं के प्रशंसितुमीशते ।

धर्मार्थकाममोक्षाणामिदमेवैकसाधनम् ॥८४॥

—सङ्गीतरत्नाकरे ।

२६ : श्रीमल्लक्ष्म्यसङ्गीतम्

संगीतरत्नाकर के अनुसार पितामह ब्रह्मा जी ने सामवेद में से गीत को ग्रहण किया ।

सर्वज्ञ देव पार्वतीपति महादेव गीत से प्रसन्न होते हैं । गोपीजनवल्लभ भगवान् श्रीकृष्ण वंशी की ध्वनि के वशीभूत हैं । ब्रह्मा जी सदैव सामगान में रत रहते हैं । भगवती सरस्वती वीणा में आसक्त हैं । और ही क्या—यक्ष, गन्धर्व, देव, दानव, मानव—सभी गीत से मुग्ध हैं ।

सांसारिक विषयों के ज्ञान और आस्वाद से अपरिचित, पालने में सोता हुआ शिशु भी रोते हुए गीत के माधुर्य का पान कर हर्षित हो उठता है ।

कितने आश्चर्य की बात है कि वन में घास चरता हुआ मृगशावक भी शिकारी के हृदयहारी सङ्गीत को सुन कर प्राणों को खो बैठता है ।

ऐसे गीत की महत्ता का वर्णन भला कौन कर सकता है ? धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष—चारों ही पुरुषार्थों के लिए एकमात्र साधन गीत ही है !

वीणावादनतत्त्वज्ञः श्रुतिजातिविशारदः ।

तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्षमार्गं च गच्छति ॥८५॥^१

वीणावादन के तत्त्वों अथवा रहस्यों का ज्ञाता, श्रुतिजाति के ज्ञान का पारंगत एवं तालविद्या का ज्ञाता बिना प्रयास के ही मोक्ष के मार्ग को प्राप्त कर लेता है ।

साहित्यसङ्गीतकलाविहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः ।

तृणं न खादन्नपि जीवमानः तद्भागधेयं परमं पशूनाम् ॥८६॥^२

साहित्य और सङ्गीतकला से रहित मनुष्य बिना सींग और पूँछ का साक्षात् पशु ही है ! पशुओं का, अर्थात् अन्य चतुष्पदों का यह परम सौभाग्य है कि यह पशु घास न खा कर भी जीवित रहता है ।

मर्तृहरि के इस कथन में बड़ा गहरा व्यंग्य छिपा हुआ है । इस संसार में ऐसे लोग बहुत बड़ी संख्या में हैं, जो सभ्य जाति के हो कर भी साहित्यिक तथा कलात्मक अभिरुचियों से विहीन हैं, तथा जिनमें कोमल मानवीय संवेदनाओं और सौन्दर्य-संचेतना का अभाव है । ऐसे लोग मानवदेहधारी होकर भी पशुतुल्य हैं । यदि ये मानवरूपी पशु तृणाहारी होते तो अन्य पशुओं के लिए बड़ा दुर्भाग्य होता, क्योंकि तब उन्हें खाने के लिए घास न मिल पाती !

१. यह उद्धरण याज्ञवल्क्यस्मृति से लिया गया है ।

२. यह श्लोक भर्तृहरिनीतिशतक से उद्धृत है ।

सुखिनि सुखनिदानं दुःखितानां विनोदः श्रवणहृदयहारी मन्मथस्याग्रदूतः ।

अतिचतुरसुगम्यो वल्लभः कामिनीनां जयति जयति नादः पञ्चमश्रोपवेदः ॥८७॥

उस नाद तथा पंचम उपवेद, अर्थात् गान्धर्व या संगीत की जय हो जो सुखी मनुष्यों के लिए सुखवर्धक तथा दुःखियों के लिए मनोरंजन का साधन है; जो श्रवणमात्र से चित्त को वशीभूत कर लेता है, जो कामदेव का अग्रदूत है; जो विद्वज्जनों के लिए अत्यन्त सुगम है, तथा जो नारियों का प्रियकर है।

नाद

अथ नादः

गीतं नादात्मकं वाद्यं नादव्यक्त्या प्रशस्यते ।

तद्द्वयानुगतं नृत्तं नादाधीनमतस्त्रयम् ॥८८॥^१

गीत नादमय होता है। वाद्य का महत्त्व नाद की अभिव्यक्ति करने में ही है। नृत्य गीत और वाद्य का अनुगामी होता है। इस प्रकार, ये तीनों ही नाद के अधीन हैं।

नादेन व्यज्यते वर्णः पदं वर्णात्पदाद्वचः ।

वचसा व्यवहारोऽयं नादाधीनमतो जगत् ॥८९॥^२

वर्णों, अर्थात् अक्षरों की अभिव्यंजना नाद से होती है। वर्णों से पदों की, तथा पदों से वाणी, अथवा भाषा की अभिव्यक्ति होती है। जीवन का समस्त व्यवहार वाणी के द्वारा होता है। अतः समस्त जगत् नाद के अधीन है।

सर्वसङ्गीतशास्त्रस्य नादो जीवितमीरितम् ।

अतो नादस्य साहात्म्यं व्याख्यातुं केन शक्यते ॥९०॥

नाद को सङ्गीतशास्त्र का प्राण-तत्त्व कहा गया है। अतः, नाद के महत्त्व की व्याख्या भला कौन कर सकता है ?

नाद-स्थान

नादस्थानानि

व्यवहारे त्वसौ त्रेधा हृदि मन्द्रोऽभिधीयते ।

कण्ठे मध्यो मूर्ध्नि तारो द्विगुणश्चोत्तरोत्तरः ॥९१॥^३

१. २. सङ्गीतरत्नाकर, १।२।१, २।

३. सङ्गीतरत्नाकर, १।३।७।

२८ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

व्यावहारिक रूप में नाद के तीन स्थान हैं—हृदय में मन्द्रस्थान, कण्ठ में मध्यस्थान, एवं शीर्ष या मस्तिष्क में तारस्थान । ये तीनों स्थान क्रमशः दुगुने ऊँचे होते हैं ।

टीका—संगीत कला का आधारभूत तत्व नाद अथवा ध्वनि है । ध्वनि मधुर भी हो सकती है, और कर्णकटु भी । सङ्गीत का सम्बन्ध केवल श्रवणमधुर ध्वनियों से है । साङ्गीतिक शब्दावली में नाद मधुर ध्वनि का ही पर्यायवाची है । गायन और वादन दोनों ध्वनि-माध्यम की कलाएँ हैं । नृत्य को गान और वादन का अनुगामी माना गया है ।

प्राचीन शास्त्रकारों ने नादोत्पत्ति के तीन स्थान बताये हैं—हृदय, कण्ठ तथा शीर्ष । इन स्थानों से उत्पन्न नादों को क्रमशः मन्द्र, मध्य तथा तार कहा गया है । ये तीनों क्रमशः उत्तरोत्तर द्विगुणोच्च माने गये हैं—यानी, मध्यस्थान मन्द्रस्थान से दुगुना ऊँचा, तथा तारस्थान मध्यस्थान से दुगुना ऊँचा है ।

श्रुति

अथ श्रुतयः १

तस्य द्वाविंशतिर्भेदाः श्रवणाच्छ्रुतयो मतः ।

हृद्यूर्ध्वनाडीसंलग्ना नाड्यो द्वाविंशतिर्भेदाः ॥९२॥

तिरश्च्यस्तासु तावत्यः श्रुतयो मास्ताहताः २ ।

उच्चोच्चतरतायुक्ताः प्रभवन्त्युत्तरोत्तरम् ॥

एवं कण्ठे तथा शीर्षे श्रुतिर्द्वाविंशतिर्भेदाः ॥९३॥

नाद के २२ भेद हैं, जिन्हें उनकी धाव्यता के कारण श्रुतियाँ कहा गया है । ऐसा माना जाता है कि हृदय के ऊपर २२ तिरछी नाड़ियाँ हैं, जिन पर वायु का आघात होने पर श्रुतियाँ उत्पन्न होती हैं । ये श्रुतियाँ उत्तरोत्तर क्रमशः उच्चतर होती जाती हैं । इसी प्रकार, कण्ठ और शीर्ष में भी २२-२२ श्रुतियाँ मानी गयी हैं ।

टीका—श्रुति विशिष्ट ध्वनि है । मन्द्र, मध्य और तार प्रत्येक स्थान में २२ श्रुतियाँ मानी गयी हैं । प्राचीन पण्डितों ने हृदय के ऊपर २२ तिरछी नाड़ियों की कल्पना की है जिन पर प्राण-वायु के आघात से जन्य कम्पनों के

१. सङ्गीतरत्नाकर, १।३।८-१० ।

२. मास्ताहते; (अड्यार-संस्करण पाठ) ।

द्वारा श्रुतियों की उत्पत्ति बतायी है। यह कल्पना किसी भी तरह से वैज्ञानिक प्रतीत नहीं होती।

श्रुति का लक्षण

नित्यं गीतोपयोगित्वमभिज्ञेयत्वमप्युत ।

लक्ष्यविद्धिः समादिष्टं पर्याप्तं श्रुतिलक्षणम् ॥१४॥

प्रतिस्थानसमासक्ता श्रुतिर्द्वाविंशतिर्मता ।

सङ्गीताद्यस्वराणां स्यात् सम्मता जन्मभूरसौ ॥१५॥

लक्ष्यसङ्गीत के मर्मज्ञों ने नित्य गीतोपयोगिता और अभिज्ञेयता को श्रुति का पर्याप्त लक्षण बताया है। प्रत्येक 'स्थान', अर्थात् मन्द्र, मध्य और तार स्थानों में २२ श्रुतियाँ मानी गयी हैं। श्रुति को सङ्गीत के आदि सप्त-स्वरों की जननी माना गया है।

टीका—'श्रुति' सङ्गीतशास्त्र का एक बहुचर्चित तथा महत्त्वपूर्ण विषय है। समस्त ग्रन्थों में 'श्रुति' को स्थान प्राप्त हुआ है। 'श्रुति' के अर्थ, परिमाण, प्रयोजन इत्यादि के सम्बन्ध में विभिन्न मत व्यक्त किये गये हैं।

उपलब्ध ग्रन्थों में से प्राचीनतम माने जानेवाले भरतनाट्यशास्त्र में 'श्रुति' की व्याख्या नहीं की गयी है। आचार्य भरत ने दो ग्रामों (पङ्कजग्राम और मध्यमग्राम) को बताने के पश्चात् कहा है कि इन दोनों ग्रामों में २२ श्रुतियाँ हैं। तदनन्तर वे पङ्कज के पञ्चाद्वर्ती ऋषभादि स्वरों के बीच पारस्परिक अन्तरों को श्रुतियों के द्वारा इस प्रकार व्यक्त करते हैं:—

“तिलो द्वे च चतस्रश्च चतस्रस्तिल एव च ।

द्वे चतस्रश्च षड्जाख्ये ग्रामे श्रुतिनिदर्शनम् ॥”

भरताचार्य ने इसके आगे मध्यमग्राम के विषय में कहा है कि उसमें पंचम को एक श्रुति अपकृष्ट (उतरा हुआ; नीचा) रखा जाता है। वे द्विग्रामस्थ २२ श्रुतियों का प्रत्यक्ष निदर्शन भी सम-प्रमाण की तन्त्रियों, उपवादन ढण्ड (वह 'कोण' या मिजराब जिससे वीणा बजायी जाती है) और मूर्च्छना (स्वर-स्थापना) वाली दो वीणाओं पर करते हैं; एवं पङ्कज-मध्यम-पंचम का चतुः-श्रुतिकत्व, ऋषभ-धैवत का त्रिश्रुतिकत्व, तथा गान्धार-निषाद का द्विश्रुतिकत्व भी सिद्ध करते हैं। श्रुति-निदर्शन के इस प्रयोग का (जिसे परवर्ती ग्रन्थों में 'सारणा चतुष्टय' या 'चतुः सारणा' कहा गया) आधार दोनों ग्रामों के पंचमों का अन्तर है, जिसे नाट्यशास्त्रकार ने 'प्रमाण श्रुति' कहा है—“मध्यमग्रामे तु

३० : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

श्रुत्यपकृष्टः पञ्चमः कार्यः । पञ्चमश्रुत्युत्कर्षादपकर्षाद्वा यदन्तरं मार्दवादाय-
तत्वाद्वा तत्प्रमाणश्रुतिः ।'

बृहद्देशी नामक परवर्ती ग्रन्थ में आचार्य मतङ्ग ने 'श्रुति' को ध्वनि का ही पर्यायवाची माना है—“श्रूयन्त इति श्रुतयः” ।

“श्रु श्रवणे चास्य धातोः क्तिन्प्रत्ययसमुद्भवः ।

श्रुतिशब्दः प्रसाध्योऽयं शब्दज्ञैर्भावसाधनः ॥”

बृहद्देशी में विश्वावसु के वचन भी उद्धृत हैं, जिनमें ध्वनि को ही उसकी श्रवणेन्द्रियग्राह्यता के कारण श्रुति कहा गया है—“श्रवणेन्द्रियग्राह्यत्वाद् ध्वनिरेव श्रुतिर्भवेत् ।” बृहद्देशी में भी ग्राम में २२ श्रुतियाँ बतायी गयी हैं ।

सङ्गीतरत्नाकर में भी श्रुति को नाद का ही भेद कहा गया है, जो अपने श्राव्यत्वगुण के कारण ही 'श्रुति' कहलाता है । इस ग्रन्थ में भी ग्राम में २२ श्रुतियों को स्वीकार किया गया है ।

इस प्रकार, नाट्यशास्त्र को आधार मान कर अद्यावधि समस्त ग्रन्थ-कारों ने २२ श्रुतियाँ ग्राम अथवा सप्तक में मान्य की हैं, तथा स्वरों की षड्जग्रामगत श्रुति-सम्पन्नता को उनकी शुद्धता का आधार माना है ।

श्रुति के प्रयोजन के सम्बन्ध में सभी विद्वानों का मत है कि ग्रामगत स्वरों के पारस्परिक अन्तरों को श्रुतियों के द्वारा व्यक्त किया गया है ।

कुछ आधुनिक विद्वानों का विचार है कि श्रुतियाँ समपरिमाण की होती हैं । भरत, मतङ्ग, शाङ्गदेव आदि ने 'प्रमाण श्रुति' को आधार मान कर ग्राम में २२ श्रुतियाँ बतायी हैं, अतः सभी श्रुतियों का परिमाण समान ही होना चाहिए, ऐसा उनका तर्क है । इसके विपरीत, कुछ विद्वान कहते हैं कि श्रुतियों को समपरिमाण का मानना उचित नहीं है । उनके मतानुसार 'प्रमाणश्रुति' श्रुति का परिमाण नहीं, अपितु एक विशिष्ट श्रुति—षड्जग्रामिक और मध्यम-ग्रामिक पंचमों का अन्तर मात्र है । आचार्य बृहस्पति ने तो श्रुतियों के विषम परिमाणों को दृष्टिगत रख कर महती, उपमहती तथा प्रमाणश्रुति की अभिनव कल्पना स्थापित की है ।

हमारा विनम्र मत है कि श्रुति-व्यवस्था के प्रवर्तक आचार्यों ने श्रुति को अवश्य ही एक निश्चित ध्वन्यन्तर-परिमाण मान कर ही ग्राम में २२ श्रुतियाँ बतायी होंगी । दूसरे शब्दों में कहा जाय तो 'श्रुति' नामक नियत परिमाण को इकाई (Unit) मान कर ही ग्राम के प्रथम स्वर से ले कर अन्तिम

स्वर तक ध्वनि की तारता को २२ श्रुति-इकाइयों द्वारा व्यक्त किया गया होगा। बिना नियत परिमाण के २२ संख्या का कोई अर्थ नहीं रह जाता। हमारा यह भी निवेदन है कि 'श्रुति' शब्द का प्रयोग मूलतः एक विशिष्ट ध्वन्यन्तर के अर्थ में किया गया, न कि विशिष्ट ध्वनि के अर्थ में। नाट्यशास्त्र में तो कहीं भी श्रुति को ध्वनि के पर्याय के रूप में प्रयुक्त किया गया हो, ऐसा नहीं लगता। नाट्यशास्त्र में प्रमाण श्रुति को स्पष्ट रूप से दो ग्रामों के पंचमों का अन्तर कहा गया है। भरत-प्रतिपादित श्रुति-निदर्शन प्रयोग इसी अन्तर को आधार मान कर ग्राम में २२ श्रुतियों की सिद्धि करता है। अतः यह भी कहा जा सकता है कि सभी श्रुतियों का परिमाण 'प्रमाण श्रुति' माना गया होगा। एक ग्राम की आदि स्वर से अन्तिम स्वर तक की ध्वनि-तारता को 'श्रुति' नामक २२ भागों में विभक्त करने वाले २२ नादों की कल्पना की गयी। ये २२ नाद एक दूसरे से एक-एक श्रुति दूर अथवा ऊँचे थे। ये ही २२ 'नाद' कालान्तर में २२ 'श्रुतियाँ' मान लिये गये हों, यह विल्कुल सम्भव है। इस प्रकार 'श्रुति' का अर्थ-परिवर्तन हो गया।

'श्रुति' को ध्वनि मान लेने के पश्चात् ग्रन्थों में बताया गया कि 'श्रुति' कोई भी नाद है, जो अनुरणनविहीन है, किन्तु 'स्वर' गीतोपयोगी, स्निग्ध, अनुरणनयुक्त, स्वतः रंजक नाद है। बाद में श्रुति को भी गीतोपयोगी नाद माना जाने लगा। अभिनवरागमञ्जरी से यहाँ उद्धृत श्लोक ९४ में भी यही कहा गया है। ग्राम में स्थित श्रुति नामक २२ नादों में ही स्वर भी सम्मिलित हैं। वस्तुतः किसी स्वर-विशेष के लिए उसकी ग्रन्थोक्त श्रुति-सम्पन्नता आवश्यक है। इसके बिना स्वर स्वर नहीं हो पाता। इसी दृष्टि से श्रुतियों को स्वरों की जन्मभूमि अथवा जननी कहा गया है। ध्वनि-दृष्टि से श्रुति और स्वर में भेद नहीं है, परन्तु स्वरूप और प्रत्यक्ष उपयोगिता की दृष्टि से अवश्य ही है। मध्यकालीन पण्डित अहोबल ने श्रुति और स्वर के इस भेद को "अहिकुण्डलिवत्" भेद कहा है। दाक्षिणात्य विद्वान् वेङ्कटमखी के अनुसार श्रुति और स्वर में परिणामित्व-परिणामत्व सम्बन्ध है, तथा इनका भेद स्वर्ण-पिण्ड और स्वर्ण-मुकुट के भेद के समान है।

भरतादि प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रतिपादित श्रुति-सिद्धान्त अनेक कारणों से परवर्ती काल में दुर्बोध्य हो गया। फिर भी, प्राचीन ग्रन्थ-वचनों पर अनन्य श्रद्धा रखने वाले ग्रन्थकारों ने इस सिद्धान्त को न केवल अपनाया, अपितु स्वयुगीन स्वरों को उसी सिद्धान्त के अनुसार बता दिया। यहीं श्रुति-

३२ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

सिद्धान्त अधिक दुरूह हो चला। क्या विडम्बना है कि आज उत्तर भारतीय शुद्ध सप्तक बिलावल और दाक्षिणात्य शुद्धसप्तक मुख्तारी दोनों को ही “चतुश्चतुश्चतुश्चैव षड्जमध्यमपञ्चमाः। द्वे द्वे निषादगान्धारौ त्रिस्त्री ऋषभचैवतौ ॥” इस श्रुति-व्यवस्था से युक्त माना जाता है; किन्तु बिलावल सप्तक दाक्षिणात्य दृष्टि से ‘सा-ग-अन्तर ग-म-प-नि काकली नि’ है। जिसे हम शुद्धऋषभ कहते हैं, वही दाक्षिणात्य शुद्धगान्धार होने के कारण षड्ज से ७ श्रुतियाँ दूर है।

प्राचीन श्रुतिसिद्धान्त की अनुपयोगिता को लक्ष्य कर अहोबलादि मध्य-युगीन कुछ ग्रन्थकारों ने वीणा पर स्वर-स्थान-निर्देश की विधि को अपनाया। इन ग्रन्थकारों ने प्राचीन ग्रन्थोक्त श्रुति-नियमों को भी अङ्गीकृत किया है।

पूज्य आचार्यों की श्रुति का परिमाण न समझते हुए भी हम परम्परा-नुगत दृष्टि से सप्तक में २२ श्रुतियाँ तथा षड्ज इत्यादि स्वरों की श्रुति-संख्याएँ मानते चले आ रहे हैं। व्यावहारिक रूप से आज यह सिद्धान्त उपयोगी नहीं जान पड़ता, ऐसी विद्वानों की मान्यता है।

श्रुति-प्रमाण आदि का वीणा पर निदर्शन

नाट्यशास्त्रकार आचार्य भरत ने ग्रामगत श्रुतियों, श्रुतिप्रमाण, तथा षड्जादि सप्तस्वरों की श्रुतियों की संख्याओं का निदर्शन वीणा पर किया है। इस निदर्शन-प्रयोग को पण्डित शाङ्गदेव ने भी अल्प परिवर्तनों के साथ ग्रहण किया है। मतङ्ग एवं अन्य ग्रन्थकारों ने भी भरत अथवा शाङ्गदेव के वचनों को ही श्रुति-प्रमाण एवं श्रुति-संख्या को सिद्ध करने के लिए उद्धृत किया है। ‘चतुर पण्डित’ ने इस विषय पर सङ्गीतरत्नाकर तथा उसकी कल्लिनाथ और सिंहभूपालकृत टीकाओं एवं भरतनाट्यशास्त्र के उद्धरण यहाँ प्रस्तुत किये हैं।

सङ्गीतरत्नाकर^१ में कहा गया है—

व्यक्तये कुमहे तासां वीणाद्वन्द्वे निदर्शनम् ।

इन श्रुतियों को स्पष्ट करने के लिए हम दो वीणाओं पर उनका निदर्शन करते हैं।

द्वे वीणे सदृशे कार्ये यथा नादः समो भवेत् ॥९६॥

दो वीणाओं को इस प्रकार समान बनाया जाय कि उनसे उत्पन्न नाद समान ही हो।

टीका—यहाँ वीणाओं के सादृश्य से आशय उनकी ध्वनियों की समानता से है, न कि उनके आकार-प्रकार से ।^१

ततोर्द्वाविंशतिस्तन्त्र्यः प्रत्येकं तासु चादिमा ।

कार्या मन्द्रतमध्वाना द्वितीयोच्चध्वनिर्मनाक् ॥

स्यान्निरन्तरता श्रुत्योर्मध्ये ध्वन्यन्तराश्रुतेः ॥९७॥

दोनों वीणाओं में २२-२२ तन्त्रियाँ हों । उन दोनों की प्रथम तन्त्रियों को मन्द्रतम ध्वनि में मिलाया जाय । द्वितीय तन्त्रियाँ प्रथम तन्त्रियों से किंचित् उच्च ध्वनि में मिलायी जायें । इन प्रथम और द्वितीय तन्त्रियों से उत्पन्न श्रुतियों के बीच कोई अन्य ध्वनि सुनायी न दे इस प्रकार की निरन्तरता उन श्रुतियों के बीच बनी रहनी चाहिए । इसी विधि से दोनों वीणाओं की अन्य तन्त्रियाँ भी मिलायी जानी चाहिए ।

कल्लिनाथ कृत टीका

सङ्गीतरत्नाकर के इस अंश की टीका कल्लिनाथ ने इस प्रकार की है—

आदिमा प्रथमा तन्त्री ।

‘आदिमा’ का अर्थ है—पहली तन्त्री ।

मन्द्रतमध्वाना अतिमन्द्रस्वना ।

मन्द्रतमध्वाना का अर्थ है—अत्यन्त मन्द्र स्वर वाली ।

उत्तरोत्तरापेक्षया पूर्वपूर्वस्य मन्द्रत्वे सम्भक्ष्यपि सवपेक्षया मन्त्रेति तमप्रयोगः ।

यहाँ ‘मन्द्रतम’ इसलिए प्रयुक्त किया गया है कि प्रत्येक अगली तन्त्री से उसके पहले की तन्त्री की ध्वनि मन्द्र होते हुए भी इस प्रथम तन्त्री की ध्वनि सबसे मन्द्र है ।

अतिमन्द्रत्वं च तन्त्र्या अतिशिथिलीकरणेन भवति ।

तन्त्री का अतिमन्द्रत्व उसे बहुत ही ढीली कर देने से होता है ।

द्वितीया तन्त्री मनागुच्चध्वनिः कार्या ।

दूसरी तन्त्री को कुछ ऊँची ध्वनि में मिलाया जाय ।

१. द्रष्टव्य—कल्लिनाथ टीका—पृ० ६९, सिंहभूपाल टीका—पृ० ७४, सङ्गीतरत्नाकर प्रथम भाग (अङ्. सं०) ।

३४ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

मनागुच्चध्वनिस्त्वस्यैव व्यवस्थापकं स्थान्तिरन्तरतेति ।

‘निरन्तरता’ से आशय इसी किञ्चित् ऊँची ध्वनि की व्यवस्थापना से है ।

टीका—अर्थ यह है कि पहले तार की अपेक्षा दूसरे तार की ध्वनि की उच्चता का अन्तर इतना सूक्ष्म होना चाहिए कि उन दो ध्वनियों के बीच अन्य किसी ध्वनि की सम्भावना प्रतीत न हो । इसी नैरन्तर्य की स्थापना दोनों तारों की ध्वनियों के मध्य की जानी चाहिए ।

श्रुत्योः पूर्वोत्तरान्युत्पन्नयोर्मध्ये ध्वन्यन्तराश्रुतेर्ध्वन्यन्तरस्य पूर्वोत्तर-श्रुतिविलक्षणस्य पूर्वश्रुतेः किञ्चिदुच्चस्योत्तरश्रुतेः किञ्चिन्नीचस्यान्यध्वनेर-श्रुतिश्रवणम् ।

‘श्रुत्योर्मध्ये’, यानी पिछली और अगली तन्त्रियों की ध्वनियों के बीच ‘ध्वन्यन्तराश्रुतेः’, यानी पूर्वोक्त दोनों ध्वनियों से विलक्षण या भिन्न ध्वनि की सम्भावना प्रतीत न होना । विलक्षण अथवा भिन्न ध्वनि से तात्पर्य यहाँ उस ध्वनि से है, जो पूर्वोक्त पहली तन्त्री की ध्वनि से कुछ ऊँची और दूसरी तन्त्री की ध्वनि से कुछ नीची हो ।

मध्यगत ध्वन्यन्तराश्रवणं निमित्तीकृत्य श्रुत्योनिरन्तरता यथा स्यात्तथा तन्त्री किञ्चिद्बृढीकरणेन मनागुच्चध्वनिः कार्येत्यर्थः ।

ऐसी मध्यवर्ती ध्वनि सुनायी न दे, इसे निमित्त बना कर श्रुतियों की निरन्तरता जिस भी तरह से हो सके उस तरह से दूसरी तन्त्री को थोड़ा-सा कसते हुए उसकी ध्वनि को पहली तन्त्री की ध्वनि से किञ्चित् उच्च किया जाना चाहिए ।

अत्र नैरन्तर्यं ध्वन्योरेवोक्तम् ।

यहाँ निरन्तरता ध्वनियों की ही बतायी गयी है ।

टीका—सङ्गीतरत्नाकर तथा कल्लिनाथ-टीका के इन अंगों का सारांश यह है—दो वीणाएँ बिल्कुल एक जैसी मिला ली जाती हैं । प्रत्येक वीणा में २२ तार होने चाहिए । दोनों वीणाओं के पहले तारों को इस सीमा तक ढीला किया जाय कि उनसे मन्द्रतम सम्भव साङ्गीतिक ध्वनि उत्पन्न हो । दोनों वीणाओं के दूसरे तारों को इस मन्द्रतम ध्वनि से कुछ ऊँची ध्वनि में इस प्रकार मिलाना होगा कि दोनों ध्वनियों के बीच अन्तर इतना सूक्ष्म हो कि वहाँ पहली से कुछ ऊँची और दूसरी से कुछ नीची किसी अन्य ध्वनि की सम्भावना न प्रतीत हो । यह ध्वनि-नैरन्तर्य दोनों वीणाओं के सभी तारों को मिलाने के लिए आधार होना चाहिए ।

भरतनाट्यशास्त्र में श्रुति-निदर्शन

इसी प्रकार भरताचार्य ने नाट्यशास्त्र में द्विग्रामस्थ श्रुतियों का निदर्शन वीणाओं पर किया है ।

अथ ग्रामौ । षड्जग्रामो मध्यमग्रामश्चेति ।

ग्राम दो हैं—षड्जग्राम और मध्यमग्राम ।

तत्र वा द्वाविंशतिः श्रुतयः ।

दोनों में २२ श्रुतियाँ हैं ।

यथा—तिस्रो द्वे च चतस्रश्च चतस्रस्तिस्र एव च ।

द्वे चतस्रश्च षड्जाख्ये ग्रामे श्रुतिनिदर्शनम् ॥९८॥

जैसे कि षड्जग्राम में श्रुतियों का निदर्शन इस प्रकार है—३, २, ४, ४, ३, २, ४ ।

मध्यमग्रामे तु श्रुत्यपकृष्टः पञ्चमः कार्यः । पञ्चमश्रुत्युत्कर्षादिपकर्षाद्वा यदन्तरं मारदवादायतत्वाद्वा तत्प्रमाणश्रुतिः ।

किन्तु मध्यमग्राम में पञ्चम एक श्रुति से अपकृष्ट, अर्थात् नीचा किया जाता है । पञ्चम की श्रुति के उत्कर्ष या अपकर्ष अथवा मृदुत्व या आयतत्व से यानी ऊँची या नीची की जाने से जो अन्तर होता है, वह प्रमाण-श्रुति है ।

निदर्शनं त्वाक्षामभिख्याख्यास्थामः ।

उनका, अर्थात् द्विग्रामगत श्रुतियों का—निदर्शन हम करते हैं ।

यथा—द्वे वीणे तुल्यप्रमाणतन्त्र्युपवादनदण्डमूर्च्छने षड्जग्रामाश्रिते कार्ये ।

एक ही प्रमाण की तन्त्रियों, उपवादनदण्ड, यानी वीणा को बजाने के लिए प्रयुक्त किया जाने वाला कोण या मिजराव और मूर्च्छना यानी स्वर-स्थापना-वाली दो वीणाओं को षड्जग्राम में मिलाया जाय ।

तयोरेकतरस्थां मध्यमग्रामिकीं कृत्वा पञ्चमस्यापकर्षे श्रुतिं तामेव पञ्चमवशात् षड्जग्रामिकीं कुर्यात् ।

उन वीणाओं में से एक को मध्यमग्राम की बना कर, पञ्चम का अपकर्ष होने पर उसी श्रुति को षड्जग्रामिक पञ्चम मान कर—अर्थात्, इस एक श्रुति उतरे हुए मध्यमग्रामिक पञ्चम को ही षड्जग्रामिक मानते हुए—उसके अनुसार षड्जग्राम में लाया जाय ।

३६ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

आशय यह कि मध्यमग्राम के पञ्चम को ही षड्जग्रामिक मान कर वीणा के अन्य तारों को यथायोग्य प्रमाण में उतार कर षड्जग्राम की स्थापना की जानी चाहिए। इस वीणा पर प्राप्त षड्जग्राम मूल षड्जग्रामिक पञ्चम (जो प्रथम वीणा में है) के एक श्रुति अपकृष्ट होकर मध्यमग्रामिक बन जाने के पश्चात् उसे ही आधार मान कर बनाया गया है, अतः प्रथम वीणा के षड्जग्राम से इस वीणा का षड्जग्राम निश्चय ही नीचा होगा।

एवं श्रुतिरपकृष्टा भवति ।

इस प्रकार यह वीणा एक श्रुति से अपकृष्ट हो जाती है। अर्थात् इस वीणा पर निर्मित षड्जग्राम प्रथम वीणा पर विद्यमान मूल षड्जग्राम से एक श्रुति उतरा हुआ है।

पुनरपि तद्वदेवापकर्षाद्गान्धारनिषादवन्तावितरस्यां धैवतर्षभौ प्रविशतो द्विश्रुत्यधिकत्वात् ।

पुनः इसी प्रकार के अपकर्ष से, यानी, इस वीणा के षड्जग्रामिक पञ्चम को एक श्रुति से उतार कर मध्यमग्रामिक कर उसी अपकृष्ट पञ्चम के अनुसार षड्जग्राम की स्थापना करने पर—इस वीणा के गान्धार और निषाद अन्य वीणा के ऋषभ और धैवत में मिलने लगते हैं, क्योंकि वे ऋषभ और धैवत से दो-दो श्रुतियाँ ऊँचे हैं।

इस सोपान तक यह वीणा एक-एक कर दो बार पञ्चम की श्रुति के अनुसार उतारी जा चुकी है। इस अवस्था में इस वीणा पर प्राप्त होने वाले गान्धार और निषाद मूल षड्जग्राम को व्यक्त करने वाली प्रथम वीणा के क्रमशः ऋषभ और धैवत में मिल जाते हैं। अतः यह सिद्ध होता है कि गान्धार और निषाद द्विश्रुतिकस्वर हैं, तथा दोनों की २-२ मिलाकर कुल ४ श्रुतियों का निदर्शन भी हो जाता है।

पुनस्तद्वदेवापकर्षाद्धैवतर्षभावितरस्यां पञ्चमषड्जौ प्रविशतस्त्रिश्रुत्यधिकत्वात् ।

पुनः इसी प्रकार का अपकर्ष किये जाने पर इस वीणा के धैवत और ऋषभ अन्य वीणा के पञ्चम और षड्ज में मिलने लगते हैं, क्योंकि वे तीन श्रुति अधिक हैं।

आशय यह है कि एक-एक श्रुति कर तीन बार उतारी हुई इस वीणा का षड्जग्राम प्रथम वीणा पर स्थित मूल षड्जग्राम से तीन श्रुतियाँ नीचा है।

इस स्थिति में इस वीणा के ऋषभ-धैवत का मूलषड्जग्राम के षड्ज-पञ्चम में मिलना ऋषभ और धैवत के त्रिश्रुतिकत्व को प्रमाणित करता है, तथा उन दोनों स्वरों की कुल ६ श्रुतियों का निदर्शन भी हो जाता है।

तद्वत्पुनरपकृष्टायां तस्यां पञ्चममध्यमषड्जा इतरस्यां मध्यमगान्धार-निषादवन्तः प्रवेक्ष्यन्ति चतुःश्रुत्यधिकत्वात् ।

इसी प्रकार पुनः अपकृष्ट की जाने पर इस वीणा के पञ्चम, मध्यम और षड्ज अन्य वीणा के क्रमशः मध्यम, गान्धार और निषाद प्रतीत होते हैं; क्योंकि वे इन स्वरों से चार श्रुति अधिक हैं।

अर्थात्, इस सोपान में षड्ज, पञ्चम तथा मध्यम का चतुःश्रुतित्व सिद्ध होता है; साथ ही उनमें से प्रत्येक की ४ श्रुतियाँ प्रत्यक्ष होने के कारण कुल १२ श्रुतियों का निदर्शन हो जाता है।

एवमनेन श्रुतिनिदर्शनेन द्वैग्राभिक्यो द्वाविंशतिश्रुतयः प्रत्यवगन्तव्याः ।

इस प्रकार, इस श्रुति-निदर्शन प्रयोग से दोनों ग्रामों की २२ श्रुतियों का ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

भरतोक्त श्रुतिनिदर्शन पर टीका—भरत ने षड्जग्राम और मध्यम-ग्राम की २२ श्रुतियों को अत्यन्त सरल प्रयोग से स्पष्ट किया है। हमारे मतानुसार, भरतोक्त श्रुति-निदर्शन प्रयोग न केवल सरल है वरंच वैज्ञानिक भी है। हम इसे वैज्ञानिक विधि इसलिए मानते हैं कि एक तो इसमें प्रत्यक्ष तुलना-पद्धति अपनायी गयी है; दूसरे, इसमें प्रयोगकर्ता के व्यक्तिगत गुण-दोष या श्रवण-योग्यता आदि तथ्यों (Personal factors) के लिए कोई स्थान नहीं है। इस प्रयोग के लिए एकमात्र आवश्यक बात यह है कि दोनों ग्रामों के स्वर-स्थानों का सूक्ष्म ज्ञान प्रयोगकर्ता को होना चाहिए, क्योंकि दोनों ग्रामों के पञ्चमों का अन्तर, जिसे भरताचार्य ने 'प्रमाण-श्रुति' कहा है, इस प्रयोग के आधार हैं। नाट्यशास्त्रकालीन सामान्य सङ्गीत-रसिक भी दोनों ग्रामों के स्वरों से सुपरिचित रहा होगा, इसमें सन्देह नहीं। इसलिए वह भरतोक्त 'प्रमाण-श्रुति' को भी सरलता से समझ सकता रहा हो तो आश्चर्य ही क्या? भरतमुनि के युग में वीणा के तारों को षड्जग्राम में मिला कर उसी को आवश्यकतानुसार मध्यमग्राम में परिवर्तित कर देना या मध्यमग्राम को षड्जग्राम में परिवर्तित कर देना बड़ा साधारण कृत्य रहा होगा, ऐसा कहा जा सकता है। नाट्यशास्त्रकार ने इसी लिए इस सामान्य कृत्य तथा

३८ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

‘प्रमाण-श्रुति’ की सुगम्य धारणा की सहायता से श्रुति-निदर्शन जैसा सूक्ष्म विषय स्पष्ट किया। इस प्रकार, यह प्रयोग अत्यन्त व्यावहारिक भी है।

श्रुति-निदर्शन की भरतोक्त विधि को परवर्ती ग्रन्थकारों ने ‘सारणा-प्रयोग’ कहा है।

इस प्रयोग के लिए दो वीणाओं की आवश्यकता बतायी गयी है। दोनों वीणाएँ तारों और उपवादनदण्ड (वह दण्ड या कोण जिससे वीणा बजायी जाती थी; मिज़राब) और स्वर-स्थापना की दृष्टि से तुल्य प्रमाण की, अर्थात् बिल्कुल समान होनी चाहिए। श्रुति-निदर्शन प्रयोग प्रारम्भ करने के पूर्व दोनों वीणाओं को षड्जग्राम में बिल्कुल एक समान मिलाया जाना चाहिए। इनमें से एक वीणा केवल तुलना के लिए होती है, जो अन्त तक अपरिवर्तित रहती है। दूसरी वीणा के तारों को क्रमशः उतार कर प्रयोग सम्पन्न होता है। इन्हें क्रमशः ‘ध्रुव वीणा’ और ‘चल वीणा’ कहा गया।

प्रयोगाधीन वीणा पर प्रत्येक सोपान में दो क्रियाएँ होती हैं:—प्रथम, पञ्चम को एक श्रुति अपकृष्ट कर मध्यमग्राम का निर्माण; तथा द्वितीय, अपकृष्ट पञ्चम को षड्जग्रामिक मान कर तदनुसार अन्य तारों को मिला कर एक नवीन षड्जग्राम का निर्माण। यह द्विविध क्रिया कुल ४ बार की जाती है, अतः इसे ‘सारणाचतुष्टय प्रयोग’ या ‘चतुःसारणा प्रयोग’ भी कहा जाता है।

प्रयोग के प्रथम सोपान में चल वीणा का षड्जग्राम ध्रुववीणा के षड्जग्राम से एक ‘प्रमाण-श्रुति’ नीचा हो जाता है। द्वितीय सोपान में वह दो ‘प्रमाण-श्रुति’ नीचा हो जाता है। इस सोपान में गान्धार और निषाद का द्विश्रुतिकत्व प्रमाणित हो जाता है तथा कुल ४ श्रुतियाँ प्रत्यक्ष ज्ञात हो जाती हैं। तृतीय सोपान में चलवीणा के तीन प्रमाण-श्रुति उतर जाने पर ऋषभ-वैवत का त्रिश्रुतिकत्व सिद्ध होकर कुल ६ श्रुतियाँ स्पष्ट हो जाती हैं। चतुर्थ सोपान में चार ‘प्रमाण-श्रुति’ उतरी इस वीणा की तुलना ध्रुववीणा से करने पर षड्ज, मध्यम और पञ्चम का चतुःश्रुतिकत्व सिद्ध हो कर कुल १२ श्रुतियाँ स्पष्ट हो जाती हैं। इस प्रकार, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ सोपानों में $४ + ६ + १२ = २२$ श्रुतियों का ज्ञान हो जाता है।

सिंहभूपालकृत टीका में—

सङ्गीतरत्नाकर के पूर्वोक्त अंश की सिंहभूपालकृत सुधाकर-टीका इस प्रकार है :—

यथा—मध्ये विसदृशं ध्वन्यन्तरं नोत्पद्यते तथा नरन्तर्यं विधेयम् ।

निरन्तरता की स्थापना इस प्रकार की जाय कि उपर्युक्त प्रथम और द्वितीय तन्त्रियों से उत्पन्न ध्वनियों के मध्य कोई विषम या असमान ध्वन्यन्तर उत्पन्न न हो ।

तदुक्तम्—‘द्वितीया तु ततस्तीव्रध्वनिस्तन्त्री विधीयते । तथा यथा तयो-
मध्ये तृतीयो न ध्वनिर्भवेत् ।’

कहा गया है, द्वितीय तन्त्री की तीव्र ध्वनि, अर्थात् किंचित् ऊँची ध्वनि का विधान इस प्रकार किया जाता है कि पहली और दूसरी तन्त्रियों की ध्वनियों के बीच कोई तीसरी ध्वनि न हो ।

श्रुतेः प्रमाणमुक्तं मतज्ञेन ।

मतज्ञ ने श्रुति का प्रमाण बताया है ।

ननु श्रुतेः किं प्रमाणम् ?

श्रुति का प्रमाण क्या है ?

उच्यते—पञ्चमस्तावद्ग्रामद्वयस्थो लोके प्रसिद्धः । तस्योत्कर्षणापकर्षणा-
भ्यां मार्गवादायतत्वाद्वा यदन्तरं तत्प्रमाणश्रुतिः ।

कहा गया है—पञ्चम की द्विग्रामिक स्थिति सर्वविदित है । पञ्चम के उत्कर्ष और अपकर्ष अथवा मृदुत्व और आयतत्व का अन्तर प्रमाण-श्रुति है ।

श्रुतियों पर स्वर-स्थापना की सङ्गीतरत्नाकरोक्त विधि

अधराधरतीत्रास्तातज्जो नादः श्रुतिमंतः ।

वीणाद्वये स्वराः स्थाप्यास्तत्र षड्जश्चतुःश्रुतिः ॥९९॥

स्थाप्यस्तन्त्र्यां तुरीयायामृषभस्त्रिश्रुतिस्ततः ।

पञ्चमीतस्तृतीयायां गान्धारो द्विश्रुतिस्ततः ॥१००॥

अष्टमीतो द्वितीयायां मध्यमोऽथ चतुःश्रुतिः ।

दशमीतश्चतुर्थ्यां स्यात्पञ्चमोऽथ चतुःश्रुतिः ॥१०१॥

चतुर्दशीतस्तुर्यायां धैवतस्त्रिश्रुतिस्ततः ।

अष्टादश्यास्तृतीयायां निषादो द्विश्रुतिस्ततः ॥१०२॥

एकविंश्या द्वितीयायां वीणकाऽत्र ध्रुवा भवेत् ।

चलवीणा द्वितीया तु तस्यां तन्त्रीस्तु सारयेत् ॥१०३॥

४० : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

ये तन्त्रियाँ एक-एक करं नीचे क्रमशः तीव्र होती जाती हैं,^१ तथा उनसे उत्पन्न नादों को श्रुति माना गया है। दोनों वीणाओं पर स्वर स्थापित किये जायें। षड्ज, जो चतुःश्रुतिक स्वर है, चौथी तन्त्री पर स्थापित कर पाँचवीं से तीसरी तन्त्री (यानी, ७वीं तन्त्री) पर त्रिश्रुतिक ऋषभ स्थापित किया जाय। द्विश्रुतिक गान्धार आठवीं से दूसरी (यानी, ९वीं) तन्त्री पर, चतुःश्रुतिक मध्यम, दसवीं से चौथी (यानी, १३वीं) पर, चतुःश्रुतिक पञ्चम चौदहवीं से चौथी (अर्थात्, १७वीं) पर, त्रिश्रुतिक धैवत अठारहवीं से तीसरी (यानी २०वीं) पर और द्विश्रुतिक निषाद इक्कीसवीं से दूसरी (यानी, २२वीं) तन्त्री पर स्थापित किये जायें। इन दो वीणाओं में से एक ध्रुव रहती है, और दूसरी चलवीणा होती है, जिसकी तन्त्री पर सारणा की जाय।

श्रुति-स्वर के परिमाण के ज्ञान के लिए चलवीणा पर सारणा-प्रयोग^२

स्वोपान्त्यतन्त्रीमानेयास्तस्यां सप्तस्वरा बुधः।

ध्रुववीणाःस्वरेभ्योऽस्यां चलायां ते स्वरास्तदा ॥१०४॥

एकश्रुत्यपकृष्टाः स्थुरेवमन्यापि सारणा।

श्रुतिद्वयलयादस्यां चलवीणागतौ गनी ॥१०५॥

ध्रुववीणोपगतयो रिचयोर्विशतः क्रमात्।

तृतीयस्यां सारणायां विंशतः सप्तयो रिचौ।

निगमेषु चतुर्थ्यां तु विंशन्ति सप्तपाः क्रमात् ॥१०६॥

प्रथम सारणा में^३ इस चलवीणा के स्वरों को विद्वज्जन ध्रुववीणा के के स्वरों से अपनी-अपनी उपान्त्य अर्थात्, षड्जादि स्वर ४थी, ७वीं आदि तन्त्रियों पर न रखकर ३री, ६वीं आदि तन्त्रियों पर स्थापित करते हैं। तब

१. 'अधराधरतीव्रा :.....' का यह अर्थ टीकाकार कल्लिनाथ के अनुसार है—
'एवं कृते तास्तन्त्र्यो अधराधरतीव्रा उच्चोच्चध्वनयो भवन्ति। यथा शरीरे श्रुतय उत्तरोत्तरोच्चा उत्पद्यन्ते तथा वीणायामधराधरोच्चा उत्पद्यन्त इति बोद्धव्यम्। तज्जः, तासु तन्त्रीष्वहृत्योत्पन्नो नादः श्रुतित्वेन मतः।' (सं. र. भाग १. पृ. ७० अड्यार संस्क.)।

२. सङ्गीतरत्नाकर, १।३।१८-२१

३. तस्यां प्रथमायां सारणायाम्—कल्लिनाथ टीका, पृ० ७६ (सं० २० भाग १, अड्यार)।

इस चलवीणा के स्वर ध्रुववीणा के स्वरों से एक श्रुति नीचे हो जाते हैं। इसी प्रकार अगली सारणा करने पर दो श्रुतियों के लय (अर्थात् न्यूनत्व या विलीनता) के कारण चलवीणा के ग-नि ध्रुववीणा के रे-ध में क्रमशः मिल जाते हैं। तृतीय सारणा में ध्रुववीणा के सा-प में चलवीणा के रे-ध मिल जाते हैं। चतुर्थ सारणा में ध्रुववीणा के नि-ग-म में चलवीणा के क्रमशः सा-म-प मिल जाते हैं।

सारणा फल

श्रुतिद्वाविंशतावेवं सारणानां चतुष्टयम् ।

ध्रुवश्रुतिषु लीनायामियत्ता ज्ञायते स्फुटम् ॥१०७॥

सारणाचतुष्टय प्रयोग में, २२ श्रुतियों का ज्ञान होता है, तथा ध्रुव-वीणा की श्रुतियों में उनके विलीन होने से उनके परिणाम का भी ज्ञान हो जाता है।

नाट्यशास्त्रे तथा रत्नाकरग्रन्थेऽपि सर्वथा ।

श्रुतयः स्यु समानास्ता इतिसङ्गीतविन्मतम् ॥१०८॥

संगीतज्ञों की मान्यता है कि नाट्यशास्त्र और सङ्गीतरत्नाकर में श्रुतियाँ सभी प्रकार से समान हैं।

श्रुतियों के नाम

तीव्रा कुमुद्वतीमन्दाछन्दोवत्यस्तु षड्जगाः ।

दयावती तुरेङ्गेया रञ्जनी रक्तिकेत्यमूः ॥१०९॥

रौद्री क्रोधीति गान्धारे वज्रिकाऽथ प्रसारिणी ।

प्रीतिश्च मार्जनीत्येताः श्रुतयो मध्यमाधिताः ॥११०॥

क्षिती रक्ता च सन्दीपिन्यालापिन्यपि पञ्चमे ।

मदन्ती रोहिणी रम्येत्येतास्तिलस्तु धैवते ।

उग्रा च क्षोभणीति द्वे निषादे वसतः श्रुती ॥१११॥

तीव्रा, कुमुद्वती, मन्दा और छन्दोवती—ये षड्ज की श्रुतियाँ हैं। ऋषभ की श्रुतियाँ हैं—दयावती, रंजनी और रक्तिका। रौद्री और क्रोधी गान्धार की श्रुतियाँ हैं। वज्रिका, प्रसारिणी, प्रीति और मार्जनी श्रुतियाँ मध्यम की हैं। पञ्चम की श्रुतियाँ क्षिति, रक्ता, सन्दीपिनी और अलापिनी हैं। मदन्ती,

४२ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

रोहिणी और रम्या ये तीन श्रुतियाँ वैवत की हैं। निषाद की दो श्रुतियाँ हैं—उग्रा और क्षोभिणी।

श्रुतिवितरण-नियम

चतुश्चतुश्चतुश्चैव षड्जमध्यमपञ्चमाः ।

द्वे द्वे निषादगान्धारौ त्रिस्त्रीरिषभवैवतौ ॥११२॥

षड्ज, मध्यम और पञ्चम प्रत्येक की ४ श्रुतियाँ हैं। निषाद और गान्धार की दो-दो और ऋषभ और वैवत की ३-३ श्रुतियाँ हैं।

यदि द्वाविंशतिः प्रोक्ताः श्रुतयः पूर्वसूरिभिः ।

व्यवहारे न ताः सर्वाः प्रयुक्तास्तैरिति स्फुटम् ॥११३॥

यद्यपि पूर्वाचार्यों ने श्रुतियाँ २२ बतायी हैं, तथापि उन्होंने प्रत्यक्ष व्यवहार में उन सभी का प्रयोग नहीं किया है, यह स्पष्ट ही है।

तात्पर्य यह कि प्रत्यक्षतः केवल वही श्रुतियाँ व्यवहृत होती रही हैं, जिन्हें 'स्वर' मान लिया गया है। शेष श्रुतियाँ केवल स्वरान्तर व्यक्त करती हैं।

सौकर्यार्थं स्वराणां चापराः संज्ञाः समादृताः ।

सरिगमपवनीतिसंक्षिप्ता लक्ष्यवर्त्मनि ॥११४॥

सुविधा की दृष्टि से वर्तमान सङ्गीत पद्धति में स्वरों की संक्षिप्त संज्ञाएँ सा, रि या रे, ग, म, प, ध, नि मान्य की जाती हैं।

(देखें तालिका पृष्ठ ४३ पर)

ग्राम

सङ्गीतरत्नाकर के अनुसार—

ग्रामः स्वरसमूहः स्यात्सूच्यनादेः समाश्रयः ।

ग्राम स्वरों का वह समूह है, जो सूच्यना आदि का आधार है।

तौ द्वौ धरातले प्रोक्तौ षड्जग्रामोऽत्र चादिमः ॥११५॥

द्वितीयो मध्यमग्रामस्तयोर्लक्षणमुच्यते ।

षड्जग्रामः पञ्चमे स्वचतुर्थश्रुतिसंस्थिते ॥११६॥

स्वोपान्त्यश्रुतिसंस्थेऽस्मिन्मध्यमग्राम इष्यते ।

यदाधस्त्रिश्रुतिः षड्जे मध्यमे तु चतुःश्रुतिः ॥११७॥

पृथ्वी पर दो ग्राम प्रचलित हैं—षड्जग्राम और मध्यमग्राम। उनके लक्षण इस प्रकार बताये गये हैं—पञ्चम के अपनी चतुर्थश्रुति पर स्थित होने पर षड्जग्राम होता है, तथा उसके अपनी उपान्त्यश्रुति पर होने पर उस ग्राम

स्वराध्याय : ४३

प्राचीन ग्रन्थकारों के अनुसार वीणादण्ड पर शुद्ध स्वरों की स्थापना

	श्रुतियों के नाम	शुद्ध स्वर
१	तीव्रा	
२	कुमुद्वती	
३	मन्दा	
४	छन्दोवती	शुद्धषड्ज
५	दयावती	
६	रञ्जनी	
७	रक्तिका	शुद्धऋषभ
८	रीद्री	
९	क्रोधी	शुद्धगान्धार
१०	वज्रिका	
११	प्रसारिणी	
१२	प्रीति	
१३	मार्जनी	शुद्धमध्यम
१४	क्षिति	
१५	रक्ता	
१६	सन्दीपिनी	
१७	आलापिनी	शुद्धपंचम
१८	मदन्ती	
१९	रोहिणी	
२०	रम्या	शुद्धधैवत
२१	उग्रा	
२२	क्षोमिणी	शुद्धनिषाद
१	तीव्रा	
२	कुमुद्वती	
३	मन्दा	
४	छन्दोवती	शुद्धषड्ज

४४ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

को मध्यम ग्राम कहा जाता है। षड्जग्राम में धैवत त्रिश्रुतिक होता है, किन्तु मध्यमग्राम में चतुःश्रुतिक हो जाता है।

रिमयोः श्रुतिमेकैकां गान्धारश्चेत्समाश्रितः।

पश्रुति षो निषादस्तु धश्रुति सश्रुति श्रितः॥११८॥

गान्धारग्रामसाचष्टे तदा तं नारदो मुनिः।

प्रवर्तते स्वर्गलोके ग्रामोऽसौ न महीतले॥११९॥

जब गान्धार ऋषभ और मध्यम की एक-एक श्रुति ले लेता है, और धैवत पञ्चम की, तथा निषाद धैवत और षड्ज की एक-एक श्रुति ले लेता है, तब महर्षि नारदोक्त गान्धारग्राम बन जाता है, जो स्वर्ग में विद्यमान है, इस पृथ्वी पर नहीं।

टीका—उपर्युक्त तीन ग्रामों के स्वर इस तालिका से स्पष्ट हो सकेंगे:—

श्रुतियाँ—	१-२	३-४	५-६	७-८	९-१०	११-१२	१३-१४	१५-१६	१७-१८	१९-२०	२१-२२	२३-२४
षड्जग्राम	सा	रे	ग	म	म	य	ध	नि	सा			
मध्यमग्राम	सा	रे	ग	म	म	य	ध	नि	सा			
गान्धारग्राम	सा	रे	ग	म	म	य	ध	नि	सा			

षड्जग्राम के स्वर अपनी-अपनी नियत श्रुतियों पर स्थित होते हैं। मध्यम-ग्राम में पञ्चम अपनी उपान्त्य श्रुति—अर्थात् १६वीं श्रुति—पर होता है, और पञ्चम की अन्तिम श्रुति धैवत को प्राप्त हो जाती है। इस तरह मध्यमग्राम में पञ्चम त्रिश्रुतिक और धैवत चतुःश्रुतिक हो जाते हैं। गान्धारग्राम की श्रुति-स्वर-व्यवस्था जटिल और विवादास्पद रही है। इस ग्राम में गान्धार और निषाद द्विश्रुतिक के स्थान पर चतुःश्रुतिक हो जाते हैं, क्योंकि वे अपने पूर्ववर्ती स्वरों की एक-एक श्रुति लेते हैं। गान्धार द्वारा ऋषभ और मध्यम की एक-एक श्रुति ली जाने के कारण ऋषभ की दो और मध्यम की तीन श्रुतियाँ रह जाती हैं। अतः ऋषभ छठी श्रुति पर और गान्धार १०वीं पर स्थित होता है। ठीक इसी प्रकार, निषाद द्वारा धैवत और षड्ज की एक-एक श्रुति ली जाती है, इसलिए वह चतुःश्रुतिक हो जाता है, और षड्ज त्रिश्रुतिक। धैवत द्विश्रुतिक रह जाता है, किन्तु वह भी पञ्चम की एक श्रुति ग्रहण करता है, इसलिए निषाद द्वारा एक श्रुति ली जाने पर भी धैवत त्रिश्रुतिक ही रहता है। पञ्चम त्रिश्रुतिक रह जाता है, क्योंकि उसकी अन्तिम श्रुति धैवत ले लेता है। इस

तरह पञ्चम १६वीं श्रुति पर, धैवत १९वीं पर और निषाद १ली श्रुति पर आ जाते हैं। मध्यम अपनी १३वीं श्रुति पर ही होता है। संक्षेपतः गान्धार ग्राम में ग-नि चतुःश्रुतिक, सा-म-प-ध त्रिश्रुतिक तथा रे द्विश्रुतिक हैं। गान्धार ग्राम की श्रुतिव्यवस्था विषयक अन्य मत भी प्रचलित हैं।

भरतनाट्यशास्त्र के अनुसार—

अथ ग्रामौ—षड्जग्रामो मध्यमग्रामश्च । तत्र वा द्वाविंशति श्रुतयः । यथा—
ग्राम दो हैं—षड्जग्राम और मध्यमग्राम। प्रत्येक में २२ श्रुतियाँ इस प्रकार हैं—

तिलो द्वे च चतस्रश्च चतस्रस्तिल एव च ।

द्वे चतस्रश्च षड्जाख्ये ग्रामे श्रुतिनिदर्शनम् ॥१२०॥

षड्जग्राम का श्रुति-निदर्शन इस प्रकार है—३, २, ४, ४, ३, २, ४,

षड्जश्चतुःश्रुतिज्ञेय ऋषभस्त्रिश्रुतिस्तथा ।

द्विश्रुतिश्चैव गान्धारो मध्यमश्च चतुःश्रुतिः ॥१२१॥

चतुःश्रुतिः पञ्चमः स्याद् धैवतस्त्रिश्रुतिस्तथा ।

निषादो द्विश्रुतिश्चैव षड्जग्रामे भवन्ति हि ॥१२२॥

षड्जग्राम के स्वर इस प्रकार होते हैं—षड्ज-चतुःश्रुतिक, ऋषभ-त्रिश्रुतिक, गान्धार-द्विश्रुतिक, मध्यम-चतुःश्रुतिक, पञ्चम-चतुःश्रुतिक, धैवत-त्रिश्रुतिक, और निषाद-द्विश्रुतिक।

चतुःश्रुतिस्तु विज्ञेयो मध्यमः पञ्चमः पुनः ।

त्रिश्रुतिर्धैवतस्तु स्याच्चतुःश्रुतिक एव हि ॥१२३॥

निषादषड्जौ विज्ञेयौ द्विचतुःश्रुतिसम्भवौ ॥

ऋषभस्त्रिश्रुतिश्च स्याद् गान्धारो द्विश्रुतिस्तथा ॥१२४॥

मध्यम ग्राम में मध्यम चतुःश्रुतिक, पञ्चम त्रिश्रुतिक, धैवत चतुःश्रुतिक, निषाद द्विश्रुतिक, षड्ज चतुःश्रुतिक, ऋषभ त्रिश्रुतिक, और गान्धार द्विश्रुतिक होते हैं।

सङ्गीतपारिजात के अनुसार :—

अथ ग्रामास्त्रयः प्रोक्ताः स्वरसन्दोहरूपिणः ।

षड्जमध्यमगान्धारसंज्ञाभिस्ते समन्विताः ॥१२५॥

स्वरों के समूह रूपी ग्राम तीन हैं, जिनके नाम हैं : षड्जग्राम, मध्यम-ग्राम और गान्धारग्राम।

४६ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

मूर्च्छनाधारभूतास्ते षड्जग्रामस्त्रिषूततमः ।

रागाग्रामद्वयालभ्याः षड्जग्रामोद्भवा इति ॥१२६॥

ग्राम मूर्च्छनाओं के आधार हैं । तीनों में से षड्जग्राम सर्वोत्तम है । जो राग अन्य दोनों ग्रामों में अनुपलब्ध हैं, वे भी षड्जग्राम से उद्भूत हो सकते हैं ।

यथोक्तश्रुतिकाः प्रोक्ताः षड्जग्रामेऽखिला स्वराः ।

षड्जग्राम के समस्त स्वर अपनी शास्त्रोक्त नियत श्रुतियों से युक्त होते हैं ।

रागतत्त्वबिबोध के अनुसार—

गान्धारमध्यमग्रामावप्रयोजनकौ मतौ ॥१२७॥

गान्धारग्राम और मध्यमग्राम अनुपयोगी माने जाते हैं ।

रागमञ्जरी के अनुसार—

स्वराणां निचयो ग्रामो मूर्च्छनादिसमाश्रयः ।

त्रिधा स कथितो भेदात् समध्यमगाव्यया ॥१२८॥

स्वरों के उस समूह को ग्राम कहते हैं, जो मूर्च्छना आदि के लिए आधारभूत है । ग्राम के तीन भेद हैं—षड्जग्राम, मध्यमग्राम और गान्धारग्राम ।

षड्जग्रामः षड्जकस्य संवादी पञ्चमोऽचलः ।

पञ्चमो नृपसंस्थश्चेन्मध्यमग्रामकश्च सः ॥१२९॥

षड्ज का संवादी अचल पञ्चम होने पर षड्जग्राम होता है । पञ्चम राजा अर्थात् प्रमुख के स्थान पर होने पर वह मध्यमग्रामिक होता है ।

यहाँ ग्रन्थकार का अभिप्राय स्पष्ट नहीं है ।

स्वस्वपूर्वापरस्वरश्रुतिस्थौ युग्मके गनी ।

गान्धारग्रामकः ख्यातः शाङ्गदेवेन सूरिणा ॥१३०॥

जब गान्धार और निषाद अपने-अपने पूर्व और पर स्वरों की श्रुतियों को ग्रहण कर लेते हैं, तब पण्डित शाङ्गदेव द्वारा वह ग्राम गान्धारग्राम माना गया है ।

षड्जग्रामाश्रितान् रागान् सर्वे गायन्ति गायकाः ।

तस्मान्मुह्यतमः षड्जग्राम एव न चापरी ॥१३१॥

सभी गायक षड्जग्राम पर आश्रित रागों को ही गाते हैं। इसलिए सबसे प्रमुख ग्राम षड्जग्राम ही है, अन्य दोनों नहीं।

सव्रागचन्द्रोदय के अनुसार—

षड्जः स्वराणां जनको यतः स्याद् ग्रामस्ततो मुख्यतयैव एषः ।

रागेषु सग्रामजनित्वमेव दृष्टं ततो ग्रामयुगं न हीष्टम् ॥१३२॥

षड्ज सभी स्वरों का जनक है। इसी लिए, प्रमुखतः षड्जग्राम ही व्यवहार में है। प्रचलित राग षड्जग्राम से उत्पन्न ही दिखाई देते हैं, अतः दो ग्राम—अर्थात्, गान्धारग्राम और मध्यमग्राम—वांछनीय नहीं हैं।

तात्पर्य यह कि दो ग्राम मानने की आवश्यकता नहीं, केवल षड्ज-ग्राम पर्याप्त है।

रागविबोध के अनुसार—

स्वान्त्यश्रुतावुपान्त्यश्रुतौ च सति पञ्चमे क्रमात् स स्यात् ।

किन्तु विकारो देश्यां न पञ्चमे तद्विह स प्रथमः ॥१३१॥

पञ्चम के अपनी अन्तिम और उपान्त्य श्रुतियों पर होने से ग्रामों को क्रमशः षड्ज और मध्यम कहा जाता रहा होगा, किन्तु प्रचलित देशी सङ्गीत में पञ्चम विकृत नहीं होता, इसलिए इन दोनों ग्रामों में से प्रथम, अर्थात् षड्जग्राम ही प्रचार में है।

चतुर्दण्डप्रकाशिका के अनुसार—

ग्रामेष्वेतेषु गान्धारग्रामो नास्ति महीतले ।

स्वर्गलोके वर्ततेऽसौ सर्वेषामेव सम्मतम् ॥१३४॥

इन तीन ग्रामों में से गान्धार ग्राम इस पृथ्वी पर नहीं है। सभी यह मानते हैं कि गान्धारग्राम स्वर्गलोक में विद्यमान है।

अस्माभिर्मध्यमग्रामोऽप्यसत्प्राय इतीयन्ते ।

यथा हि मध्यमग्रामे त्रिश्रुतिः पञ्चमः खलु ॥१३५॥

वराळीमध्यमो जातः स पुनर्लक्ष्यवर्त्मनि ।

मध्यमादिप्रभृतिषु मध्यमग्रामजन्मसु ॥१३६॥

रागेषु दृश्यते नैव वराळीमध्यमस्ततः ।

अयुक्तो मध्यमग्रामो लक्ष्यमार्गविरोधतः ॥१३७॥

४८ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

हम लोग तो मध्यमग्राम को भी असत्प्राय या लुप्त मानते हैं। मध्यम-ग्रामिक त्रिश्रुतिक पञ्चम वर्तमान सङ्गीत में बराळी मध्यम हो गया है। किन्तु कथित मध्यमग्रामजन्य मध्यमादि जैसे रागों में आज बराळी मध्यम का प्रयोग दिखायी नहीं देता। अतएव, वर्तमान प्रचार से विरुद्धता के कारण मध्यम-ग्राम अप्रयोज्य है।

एक एव ततः षड्जग्राम इत्यवधार्यते।

षड्जग्रामोद्भवा रागा इत्यनेन निरूपितम् ॥१३८॥

इस प्रकार, यह निर्णीत होता है कि केवल एक षड्जग्राम ही अव व्यवहार में है तथा समस्त राग उसी से उत्पन्न होते हैं।

सङ्गीतसारामृत के अनुसार—

भरतेनोदिते शास्त्रे ग्रामो द्वौ षड्जमध्यमौ।

षड्जग्रामः पञ्चमे तु सप्तादश्यां श्रुतौ स्थिते ॥१३९॥

स्वरेऽस्मिन् पञ्चमे किन्तु षोडशीं श्रुतिमाश्रिते।

तदैव मध्यमग्रामः सोऽत्र लक्ष्ये न दृश्यते ॥१४०॥

भरतप्रणीत शास्त्र, अर्थात् नाट्यशास्त्र में षड्ज और मध्यम दो ग्राम वर्णित हैं। पञ्चम के १७वीं श्रुति पर स्थित होने पर षड्जग्राम होता है, और १६वीं श्रुति पर होने पर मध्यमग्राम। मध्यमग्राम अव दृष्टिगोचर नहीं होता।

षड्जग्रामाश्रितान् रागान् सर्वे गायन्ति गायकाः।

तस्मान्मुद्ध्यतमः षड्जग्रामोऽसौ नैव मध्यमः ॥१४१॥

सभी गायक षड्जग्राम पर आश्रित रागों को ही गाते हैं; अतः वही प्रमुख है, न कि मध्यमग्राम।

टिप्पणी

चतुश्चतुश्चतुश्चैव षड्जमध्यमपञ्चमाः।

द्वे द्वे निषादगान्धारौ त्रिस्त्री ऋषभधैवतौ ॥१४२॥

एतयैव व्यवस्थित्या पुराणं पुराणकं।

ग्रन्थकारैः समादिष्टः षड्जग्रामाभिधः सदा ॥१४३॥

षड्जग्राम को प्राचीन-अर्वाचीन सभी ग्रन्थकारों ने सदैव ही इस श्रुति-व्यवस्थानुसार वर्णित किया है—षड्ज, मध्यम और पंचम चतुःश्रुतिक; ऋषभ और धैवत त्रिश्रुतिक तथा गान्धार और निषाद द्विश्रुतिक।

पद्धत्यां दाक्षिणात्यानां मेलः शुद्धस्वरान्वितः ।

मुखारीति प्रसिद्धः स्यात्कनकाङ्गीति वाऽधुना ॥१४४॥

दाक्षिणात्य पद्धति में आज शुद्ध स्वरों से युक्त मेल मुखारी अथवा कनकाङ्गी है ।

पण्डितैर्मध्यकालीनहृदयाहोबलादिभिः ।

निश्चितः शुद्धमेलोऽत्र घनाश्रीः सन्धवोऽथवा ॥१४५॥

हृदय, अहोबल इत्यादि मध्यकालीन विद्वानों ने घनाश्री अथवा सन्धव को शुद्ध मेल निरूपित किया है ।

शुद्धस्थानान्ययुक्तानि दृष्ट्वाऽस्मिन् पण्डितैः पुनः ।

हिन्दुस्थानीयपद्धत्यां श्रुतिक्रमविपर्ययात् ॥

वेलावत्यभिधो मेलः शुद्धनाम्ना समादृतः ॥१४६॥

उपर्युक्त मेल के शुद्ध स्वर-स्थानों को आज अनुपयुक्त देख कर तथा हिन्दुस्थानी पद्धति में श्रुतिक्रम के उलट जाने के कारण, विद्वानों ने वेलावली मेल (जिसका प्रचलित नाम विलावल मेल हैं) को शुद्ध मेल स्वीकृत किया है ।

टीका—मध्यकाल तक के ग्रन्थों में जो शुद्ध मेल बताये गये हैं, वे वर्तमान काफी मेल के सदृश हैं, ऐसा विद्वानों का विचार है । मध्यकाल के पश्चात् आधुनिक युग में उत्तर पद्धति में विलावल शुद्ध मेल किस प्रकार बन गया, यह स्वतः शोध का विषय है । वहरहाल, आज विलावल को शुद्ध मेल स्वीकार किया गया है । शुद्ध मेल के स्वर शास्त्रोक्त षड्जग्रामिक श्रुति-क्रम के अनुसार ही माने जाते रहे हैं, अतः 'चतुश्चतुश्चतुश्चैव.....' का नियम विलावल मेल के स्वरों पर भी घटित किया गया, किन्तु कुछ अन्तर के साथ । मध्यकाल तक जहाँ स्वर की स्थापना उसकी नियत श्रुतियों में से अन्तिम श्रुति पर की जाती रही, वहाँ आधुनिक काल के सङ्गीतशास्त्री स्वर की नियत श्रुतियों में से प्रथम पर उसकी स्थापना करते हैं । दूसरे शब्दों में, इस युग में श्रुति-क्रम उलट गया है । परिणामस्वरूप, आज सप्त शुद्ध स्वरों की स्थापना क्रमशः १, ५, ८, १०, १४, १८ और २१वीं श्रुतियों पर की जाती है, जबकि इसके पूर्व तक क्रमशः ४, ७, ९, १३, १७, २० और २२वीं श्रुति पर शुद्ध स्थान माने जाते रहे ।

शुद्धमेलो हि सर्वत्र षड्जग्राम इतीर्यते ।

वेलावत्यभिधो लक्ष्ये षड्जग्रामत्वमर्हयेत् ॥१४७॥

५० : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

शुद्धमेल को ही सर्वत्र षड्जग्राम कहा गया है। अतः आधुनिक सङ्गीत में बिलावल मेल को षड्जग्रामत्व प्रदान किया जाना उचित है।

प्राचीन-अर्वाचीन-ग्रन्थकारोक्त विकृत-स्वर

ग्राम की व्याख्या करते हुए श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतकार ने कहा है कि यद्यपि शुद्धमेल को ही सर्वत्र षड्जग्राम कहा है, तथापि विभिन्न ग्रन्थों में किसी एक विशिष्ट मेल को ही शुद्ध मेल नहीं बताया गया है। मुखारी, कनकाङ्गी, घनाश्री, सैन्धव, बिलावल आदि मेल शुद्धमेल के रूप में विभिन्न ग्रन्थों में उल्लिखित हैं। अतः यह स्पष्ट है कि षड्जग्रामिक 'चतुश्चतुश्चतुश्चैव षड्ज-मध्यमपञ्चमाः.....' में निर्दिष्ट श्रुति-व्यवस्था को सभी ग्रन्थकारों ने अपने शुद्ध मेल को षड्जग्राम बताने के लिए स्वीकृत किया है; तथापि उनके स्वर-स्थान निश्चय ही भिन्न-भिन्न हैं। साथ ही ग्राम में, सप्त शुद्ध स्वरों के अतिरिक्त उनके मध्यवर्ती अन्य स्वरों का समावेश भी होता रहा है, जिन्हें 'विकृत' कहा गया है। विकृत स्वरों की संख्या और स्थानों के विषय में भी ग्रन्थकारों ने बहुविध मान्यताएँ स्थापित की हैं। आगामी पृष्ठों में पण्डित शाङ्गदेव से लेकर आधुनिक युग तक के उत्तर और दक्षिण दोनों ही पद्धतियों के प्रमुख ग्रन्थकारों की विकृत-स्वरविषयक मान्यताओं का 'चतुर पण्डित' ने उल्लेख किया है।

स्वरस्तु प्रच्युतः श्रुत्या नियताया यदा भवेत् ।

विकृतत्वं तदा तस्य वर्णयन्ति विपश्चितः ॥१४८॥

स्वर जब अपनी नियत श्रुति से हट जाता है, तब विद्वान् लोग उसे विकृत कहते हैं।

टीका—सभी शास्त्रकारों ने षड्जादि सप्त स्वरों के शुद्धत्व के लक्षण उनके षड्जग्रामोक्त चतुःश्रुतिकत्व आदि माने हैं। तदनुसार उनकी स्थितियाँ क्रमशः ४वीं, ७वीं, ९वीं, १३वीं, १७वीं, २०वीं तथा २२वीं श्रुतियों पर प्राचीन तथा मध्यकालीन ग्रन्थकारों ने; एवं १ली, ५वीं, ८वीं, १०वीं, १४वीं, १८वीं और २१वीं श्रुतियों पर आधुनिक ग्रन्थकारों ने मानी हैं। ग्राम अथवा सप्तक में इन श्रुतियों के अतिरिक्त अन्य जिन श्रुतियों का गायन-वादन में स्वरों के रूप में आवश्यकतानुसार प्रयोग होता रहा, उन्हें भी मान्यता दी गयी। ये शुद्धेतर स्वर ही 'विकृत' कहे गये हैं। 'विकृत' का अर्थ है, वह स्वर जो 'शुद्ध' न हो। हमारे विनम्र मतानुसार, विकृत को शुद्ध स्वर की च्युता-वस्था के स्थान पर शुद्धेतर स्वर मानना अधिक उचित है।

स्वराध्याय : ५१

रिगमघनयो लक्ष्येऽत्र विकृता उदाहृताः ।

सपावविकृतौ नित्यमतस्तावचली मतौ ॥१४९॥

आधुनिक संगीत में ऋषभ, गान्धार, मध्यम, धैवत और निषाद विकृत होते हैं। षड्ज और पञ्चम सदैव अविकृत रहते हैं, इसलिए उन्हें अचल स्वर माना जाता है।

सङ्गीतरत्नाकरोक्त बारह विकृत स्वर^१

च्युतोऽच्युतो द्विधा षड्जो त्रिश्रुतिविकृतो भवेत् ।

साधारणे काकलीत्वे निषादस्य च दृश्यते ॥१५०॥

दो श्रुतियों से विकृत षड्ज के च्युत और अच्युत दो भेद होते हैं, जो क्रमशः षड्ज-साधारण और निषाद के काकलीत्व में दिखायी देते हैं।

साधारणे श्रुति षाड्जीमृषभः संश्रितो यदा ।

चतुःश्रुतिवमायाति तदैको विकृतो भवेत् ॥१५१॥

षड्ज-साधारण में ऋषभ जब षड्ज की अन्तिम श्रुति पर स्थित होकर चतुःश्रुतिव प्राप्त करता है, तब उसकी एक विकृति होती है।

साधारणे त्रिश्रुतिः स्यादन्तरत्वे चतुःश्रुतिः ।

गान्धार इति तद्भेदौ द्वौ निःशङ्केन कीर्तितौ ॥१५२॥

निःशङ्क शाङ्गदेव ने गान्धार के दो विकृत भेद बताये हैं—मध्यम-साधारण में त्रिश्रुतिक गान्धार अथवा साधारण गान्धार और अन्तर-साधारण में चतुःश्रुतिक गान्धार अथवा अन्तर गान्धार।

मध्यमः षड्जवद्वेधाऽन्तरसाधारणाभ्यात् ।

मध्यम भी षड्ज की ही भाँति दो प्रकार से विकृत होता हैः—मध्यम साधारण में च्युत तथा गान्धार अन्तरत्व में अच्युत।

पञ्चमो मध्यमग्रामे त्रिश्रुतिः कैशिके पुनः ॥१५३॥

मध्यमस्य श्रुति प्राप्य चतुःश्रुतिरिति द्विधा ।

मध्यमग्रामिक पञ्चम त्रिश्रुतिक होता है। पुनः कैशिक में—अर्थात् मध्यम साधारण में—मध्यम की अन्तिम श्रुति को प्राप्त कर वह चतुःश्रुतिक हो जाता है। इस प्रकार पञ्चम के दो विकृत भेद हैं।

५२ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

घैवतो मध्यमग्रासे विकृतः स्याच्चतुःश्रुतिः ॥१५४॥

मध्यम ग्रास का चतुःश्रुतिक घैवत विकृत है ।

कैशिके काकलीत्वे च निषादस्त्रिचतुःश्रुतिः ।

प्राप्नोति विकृतौ भेदौ द्वाविति द्वादश स्मृताः ॥

निषाद अपने कैशिकत्व में त्रिश्रुतिक और काकलीत्व में चतुःश्रुतिक होता है । इस प्रकार निषाद के दो विकृत भेद हैं । इस तरह कुल मिला कर विकृत स्वर बारह होते हैं ।

तैः शुद्धैः सप्तभिः सार्धं भवन्त्येकोनविंशतिः ॥१५५॥

सात शुद्ध स्वरों को मिला कर कुल १९ स्वर होते हैं ।

श्रुति	शुद्ध स्वर	स्वतन्त्र विकृत स्थान	शुद्ध स्वर समस्थानिक विकृत स्वर	विकृत स्वर समस्थानिक विकृत स्वर
१	स	कैशिक निषाद काकली निषाद च्युत षड्ज	अच्युत षड्ज	
२				
३				
४				
५	रि		विकृत रिषभ	
६				
७				
८	ग			
९				
१०	म	साधारण गान्धार अन्तर गान्धार च्युत मध्यम	अच्युत मध्यम	
११				
१२				
१३				
१४	प	विकृत पञ्चम		
१५				
१६				
१७	ध			
१८				
१९				
२०	नि		विकृत धैवत	
२१				
२२				
		७	४	१

टीका—पण्डित शार्ङ्गदेव ने जिन १२ विकृत स्वरों को मान्य किया है, उनका अध्ययन करने से हमें ज्ञात होता है, कि उन १२ विकृत स्वरों में वास्तविक विकृत-स्थान केवल ७ हैं, और शेष ५ में से ४ विकृत स्वर शुद्ध स्वरों के सम-स्थानिक हैं, तथा १ अन्य विकृत स्वर का सम-स्थानिक है। यह पृष्ठ ५२ की तालिका से स्पष्ट होगा।

प्रश्न उठता है कि ४ विकृत स्वर शुद्धस्वरों के ही स्थान पर किस प्रकार हो सकते हैं, तथा त्रिश्रुतिक और कैशिक दोनों ही पञ्चम एक ही स्थान के दो नाम किस प्रकार हो सकते हैं? दूसरे शब्दों में, शुद्ध स्वर किस स्थिति में विकृत संज्ञाएँ प्राप्त करते हैं? इस विषय को समझने के लिए स्वर-साधारण का सामान्य परिचय आवश्यक है, क्योंकि स्वर-साधारण की अवस्था में ही शुद्ध स्वर-स्थान सापेक्ष रूप से विकृतत्व प्राप्त करते हैं, ऐसा हमें आचार्य शार्ङ्गदेव द्वारा प्रतिपादित विकृतस्वर लक्षणों से प्रतीत होता है।

‘साधारण’ वह अवस्था है, जहाँ न तो पूर्वस्वर की स्थिति पूर्णतः समाप्त हो गयी हो, और न आगामी स्वर को ही अनागत कहा जा सकता हो। दूसरे शब्दों में, दो स्वरों के मध्यवर्ती स्वर को ‘साधारण’ कहा जाता है। ‘साधारण’ स्वर को ही ‘अन्तर’ स्वर भी कहा जाता है। साधारण की स्थिति में स्वर यद्यपि अपनी शुद्धावस्था की द्योतक मूल श्रुति से च्युत होकर उत्तर-वर्ती स्वर के श्रुति-क्षेत्र में प्रविष्ट हो चुका होता है, किन्तु उत्तरवर्ती स्वर की शुद्धावस्था तक पहुँचा हुआ भी नहीं होता। स्वर के साधारणत्व की तुलना ऋतु-साधारण से करते हुए आचार्य भरत कहते हैं:—

“साधारणं नामान्तरस्वरता । कस्मात् ? द्वयोरन्तरस्थं तत् साधारणम् ।
यथा ऋत्वन्तरे ।

छायासु भवति शीतं प्रस्वेदो वा भवति चातपस्थस्य ।

न च नागतो वसन्तो न च निःशेषः शिशिरकालः ॥

इति कालसाधारणः ।” —(नाट्यशास्त्र, अध्याय २८)

अर्थात् अन्तरस्वरत्व को साधारण कहते हैं। साधारण वह स्वर है, जो दो स्वरों के मध्यवर्ती अन्तर पर होता है। स्वर का साधारणत्व ऋतु अथवा काल के साधारणत्व के सदृश है। जिस काल में छाया में शीत का और धूप में गर्मी का अनुभव होता है, वह शिशिर और वसन्त के बीच का साधारण समय माना जाता है, क्योंकि तब न तो शिशिर पूर्णतः समाप्त कहा जा सकता है, और न वसन्त को आगत कह सकते हैं। यह काल शिशिर और वसन्त

५४ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

दोनों के गुणों से युक्त होता है। ठीक इसी तरह से, साधारण स्वर भी अपने पूर्वापर स्वरों के मध्यवर्ती अन्तर पर होता है तथा दोनों के लक्षण उसमें समाविष्ट रहते हैं।

सङ्गीतरत्नाकर में चतुर्विध स्वर-साधारण बताया गया है^१ :—

- (१) अन्तर-साधारण—जब गान्धार दो श्रुतियाँ आगे जाकर मध्यम की द्वितीय श्रुति (११वीं श्रुति) पर स्थित होता है, तब उसे 'अन्तर' गान्धार करते हैं, तथा यह अवस्था अन्तर-साधारण कही जाती है।
- (२) काकली-साधारण—इसमें निषाद षड्ज की दूसरी श्रुति पर आकर 'काकली' निषाद हो जाता है।
- (३) षड्ज-साधारण—इस स्थिति में षड्ज की प्रथम श्रुति को निषाद तथा अन्तिम श्रुति को ऋषभ ग्रहण कर लेता है—

निषादो यदि षड्जस्य श्रुतिमाद्यां समाश्रयेत्।

ऋषभस्त्वन्तिमां प्रोक्तं षड्जसाधारणम् तदा ॥^२

यह निषाद 'कैशिक' कहलाता है। ऋषभ द्वारा षड्ज की प्रथम श्रुति ग्रहण कर ली जाने पर षड्ज अपनी उपान्त्य श्रुति (३री श्रुति) पर उतर जाता है और 'च्युत' षड्ज कहा जाता है।

- (४) मध्यम-साधारण^३—इसमें भी षड्ज-साधारण की भाँति ही मध्यम की प्रथम श्रुति को गान्धार और अन्तिम को पञ्चम ग्रहण कर लेता है तथा मध्यम अपनी उपान्त्य श्रुति पर उतर आता है। १०वीं श्रुति पर स्थित यह गान्धार 'साधारण' कहलाता है तथा १२वीं श्रुति पर स्थित मध्यम 'च्युत' माना जाता है।

अब हम आचार्य शाङ्गदेव के विकृत स्वरों का विचार इन स्वर-साधारणों की दृष्टि से करें। षड्ज-साधारण की स्थिति में षड्ज की प्रथम श्रुति को ग्रहण कर लेने वाला त्रिश्रुतिक निषाद 'कैशिक' नामक विकृत निषाद है। काकली-साधारण में षड्ज की द्वितीय श्रुति पर स्थित काकली निषाद चतुःश्रुतिक निषाद है। षड्ज-साधारण में षड्ज की अन्तिम श्रुति ऋषभ

१. १।५।१-२.

२. १।५।७.

३. मध्यम-साधारण को मध्यमग्रामगत बताया गया है—“साधारणं मध्यमस्य मध्यमग्रामगं ध्रुवम्।” (१।५।८).

द्वारा ले ली जाने पर षड्ज अपनी उपान्त्य श्रुति पर आ जाता है, तब 'च्युत' षड्ज कहलाता है। काकली-साधारण में निषाद षड्ज की प्रथम दो श्रुतियाँ ले लेता है, इसलिए षड्ज चतुर्थ-श्रुति पर होते हुए भी केवल द्विश्रुतिक रह जाता है, और यह द्विश्रुतिक 'अच्युत षड्ज' अपने मूल स्थान से च्युत न होते हुए भी पूर्वश्रुतिहीनता के कारण विकृत माना जाता है। षड्ज-साधारण में षड्ज की अन्तिम श्रुति (यानी, ४थी श्रुति) को प्राप्त कर ऋषभ चतुःश्रुतिक हो जाने के कारण विकृत माना जाता है, यद्यपि वह स्थान की दृष्टि से शुद्ध ऋषभ से भिन्न नहीं है। मध्यम-साधारण में मध्यम की प्रथम श्रुति को ग्रहण कर निषाद त्रिश्रुतिक हो जाता है और 'साधारण' गान्धार कहलाता है, जो १०वीं श्रुति पर होता है। अन्तर-साधारण में ११वीं श्रुति पर स्थित 'अन्तर' नामक विकृत गान्धार चतुःश्रुतिक होता है। षड्ज की भाँति ही मध्यम के भी च्युत और अच्युत नामक विकार क्रमशः मध्यम-साधारण और अन्तर-साधारण में होते हैं। अच्युतमध्यम शुद्धमध्यम के स्थान पर होते हुए भी द्विश्रुतिक होने के कारण विकृत माना जाता है। मध्यम ग्रामिक पञ्चम त्रिश्रुतिक होने के कारण विकृत माना जाता है। मध्यम-साधारण की अवस्था में मध्यम की अन्तिम श्रुति को प्राप्त कर यही पञ्चम चतुःश्रुतिक होकर 'कैशिक' पञ्चम कहलाता है।^१ मध्यमग्राम में पञ्चम की अन्तिम श्रुति प्राप्त कर चतुःश्रुतिक होने वाला धैवत भी विकृत माना जाता है, किन्तु वह शुद्ध धैवत के ही स्थान पर होता है। इस प्रकार, सङ्गीतरत्नाकर के बारह विकृत स्वरों में से जो स्वर शुद्ध स्वरों या अन्य विकृत स्वर के समस्थानीय हैं, उनकी सार्थकता स्वर-साधारण विधि के परिप्रेक्ष्य में स्पष्ट है।

सङ्गीतदर्पण के विकृत स्वर

शुद्धाः सप्तस्वरास्ते च मन्द्रादिस्थानतस्त्रिधा ।

च्युताच्युतादिभेदेन विहृता द्वादशोदिताः ॥१५६॥

शुद्ध स्वर सात हैं, जिनके मन्द्र, मध्य और तार ये तीन भेद स्थानानुसार होते हैं। च्युत, अच्युत आदि भेदों से विकृत स्वर बारह बताये गये हैं।

१. मध्यम साधारण को कैशिक साधारण भी कहा गया है। षड्ज-साधारण का प्रयोग षड्जग्राम में तथा मध्यम-साधारण का प्रयोग मध्यमग्राम में करने का विधान है।

५६ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

चतुःश्रुतिर्यदा षड्जो द्विश्रुतिविकृतस्तदा ।

साधारणे च्युतः स स्यात् काकलीत्वेऽच्युतः स्मृतः ॥१५७॥

चतुःश्रुतिक षड्ज जब द्विश्रुतिक विकृत होता है, तब स्वसाधारण में च्युत और काकलीत्व में अच्युत कहलाता है ।

त्रिश्रुतिऋषभः साधारणे षड्जो श्रुतिं धितः ।

चतुःश्रुतित्वमापन्नस्तदेको विकृतो भवेत् ॥१५८॥

त्रिश्रुतिक ऋषभ षड्ज-साधारण में षड्ज की श्रुति को प्राप्त कर चतुः-श्रुतिक होकर विकृत हो जाता है । ऋषभ का विकृत भेद एक ही है ।

साधारणे मध्यमस्य गान्धारस्त्रिश्रुतिर्भवेत् ।

स्वस्यान्तरत्वे भवति चतुःश्रुतिरिति द्विधा ॥१५९॥

गान्धार के दो विकृत भेद हैं—मध्यम-साधारण में त्रिश्रुतिक तथा स्वकीय अन्तरत्व में चतुःश्रुतिक ।

च्युताच्युतादिभेदेन मध्यमः षड्जवद्भवेत् ।

साधारणेऽन्तरत्वे च द्विश्रुतिविकृतस्तदा ॥१६०॥

षड्ज की भाँति मध्यम के भी द्विश्रुतिक विकृत भेद च्युत और अच्युत क्रमशः स्वसाधारणत्व तथा अन्तरत्व में होते हैं ।

पञ्चमो मध्यमग्रामे त्रिश्रुतिर्जायते स्वरः ।

मध्यमस्य श्रुतिं प्राप्य कैशिके तु चतुःश्रुतिः ॥१६१॥

मध्यमग्राम में पञ्चम त्रिश्रुतिक होता है । वही कैशिकत्व, यानी, मध्यम-साधारण में मध्यम की श्रुति को प्राप्त कर चतुःश्रुतिक विकृत कहलाता है ।

धैवतो मध्यमग्रामे विकृतः स्याच्चतुःश्रुतिः ।

मध्यमग्राम का चतुःश्रुतिक धैवत विकृत है ।

कैशिके काकलीत्वे च निषादस्त्रिचतुःश्रुतिः ॥

कैशिक निषाद त्रिश्रुतिक और काकली निषाद चतुःश्रुतिक होता है ।

एतैश्च सप्तभिः शुद्धैर्भवन्त्येकोनविंशतिः ॥१६२॥

सात शुद्ध स्वरों से रहित कुल १७ स्वर होते हैं ।

टिप्पणी

एवं दर्पणकारेण येन केनापि हेतुना ।
रत्नाकरोदिता ग्रन्थे व्यवस्थितिरनूदिता ॥१६३॥

संगीतदर्पण के लेखक ने जाने किस कारण से अपने ग्रन्थ में सङ्गीत-रत्नाकर में वर्णित शुद्ध-विकृत स्वर-व्यवस्था का अनुवाद मात्र ही कर दिया है ।

स्वरा रत्नाकरोक्ताः स्युर्दुर्बोधा अत्र लक्ष्यके ।
तथैव दर्पणोक्तास्ते भवेयुर्बोधात्मकाः ॥१६४॥

आज प्रचलित सङ्गीत में रत्नाकरोक्त स्वर दुर्बोध्य हो गये हैं । इसी प्रकार सङ्गीतदर्पणोक्त स्वर भी विवादास्पद हो गये हैं ।

स्वरमेलकलानिधि के विकृत स्वर

तत्र तुर्यश्रुतौ षड्जः सप्तम्यामृषभो मतः ।
ततो नवम्यां गान्धारस्त्रयोदश्यां तु मध्यमः ॥१६५॥
पञ्चमः सप्तदश्यां तु धैवतो विंशतिश्रुतौ ।
द्वाविंश्यां तु विषादः स्यात् श्रुतिज्वित्थं स्वरोद्भवः ॥१६६॥
एते षड्जादयः सप्त स्वराः शुद्धाः प्रकीर्तिताः ।

वाइस श्रुतियों में से षड्ज ४वीं पर, ऋषभ ७वीं पर, गान्धार ९वीं पर, मध्यम १३वीं पर, पञ्चम १७वीं पर, धैवत २०वीं पर तथा निषाद २२ वीं पर है । ये सात शुद्ध स्वर हैं ।

विकृताश्चैव सप्तैवेत्येवं सर्वे चतुर्दशः ॥१६७॥

विकृत स्वर भी सात हैं । इस तरह कुल चौदह स्वर हैं ।

ननु रत्नाकरे शाङ्गदेवेन विकृताः स्वराः ।
द्वादशोक्ताः कथं ते तु सप्तैव कथितास्त्वया ॥१६८॥

सङ्गीतरत्नाकर में तो शाङ्गदेव ने विकृत स्वर बारह बताये हैं, फिर आप सात ही विकृत स्वर कैसे बताते हैं ?—यदि ऐसा पूछा जाय—तो ग्रन्थ-कार उत्तर देता है :

सत्यं लक्षणतो भेदो द्वादशानामपीष्यते ।
शुद्धेभ्यस्तत्र भेदस्तु सप्तानामेव लक्षितः ॥१६९॥

५८ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

यह सत्य है, लक्षणों के अनुसार तो बारह विकृत स्वर भी हैं, किन्तु उनमें से केवल सात ही शुद्ध स्वरों से पृथक् दिखते हैं।

आधारश्रुतिसन्त्यागाद् ध्वनिभेदः प्रकीर्तितः ।

पञ्चानां परिशिष्टानां स्वराणां विकृतात्मनाम् ॥१७०॥

पूर्वश्रुतिग्राहाद् वा पूर्वश्रुतिवर्जनात् ।

अपि लक्षणतो भेदे पूर्वोक्तस्वरसंहते ॥१७१॥

आधारश्रुतिनिष्ठत्वाल्लक्ष्यभेदो न विद्यते ।

स्वर जब अपनी आधार श्रुति का त्याग करता है, तभी ध्वनि-भेद उत्पन्न होता है। उपर्युक्त सात विकृत स्वरों के अतिरिक्त शेष पाँच स्वरों के विकार पूर्व स्वर की श्रुति को ग्रहण करने से अथवा अपनी पूर्व श्रुति के छूट जाने से निर्मित होते हैं। इस प्रकार से विकृत ये स्वर अपने लक्षणों में भिन्न होने पर भी अपनी आधार श्रुति पर ही स्थित रहते हैं। इसी लिए, प्रचलित सङ्गीत में वे पृथक् स्वर नहीं माने जाते।

टीका—स्वरमेलकलानिविकार पण्डित रामामात्य के अनुसार दो स्वर भिन्न-भिन्न उसी अवस्था में हो सकते हैं, जब वे अलग-अलग श्रुतियों पर हों। शुद्धस्वर जब अपनी नियत श्रुति से च्युत होता है, तभी उसकी विकृतावस्था हो सकती है, ऐसी उनकी मान्यता है। सङ्गीतरत्नाकरोक्त पाँच स्वर ऐसे हैं, जो अपने मूल-स्थान पर स्थित होते हुए भी विकृत केवल इसलिए कहे जाते हैं कि या तो उनके पूर्व स्वरों के स्थान-च्युत होने की दशा में पूर्वस्वरों की आधार श्रुति उनकी श्रुतियों में सम्मिलित हो जाती है, या फिर पूर्वस्वरों के आगे बढ़ने की दशा में उनकी श्रुतियाँ कम हो जाती हैं। इस प्रकार श्रुति-संख्या में न्यूनत्व अथवा आधिक्य के कारण ऐसा स्वर लक्षणों की दृष्टि से 'शुद्ध' नहीं रह जाता, यद्यपि वह स्थानच्युत नहीं होता। विभिन्न स्वर-साधारणों की स्थिति में पूर्वोक्त पाँच विकृत स्वरों को लक्षण-भेद के कारण शार्ङ्गदेव ने मान्य किया था। किन्तु, रामामात्य के युग तक स्वर-विकृति का आधार लाक्षणिक-भिन्नता न रह कर स्पष्ट ध्वनि-भेद हो गया था, यह ध्यान देने योग्य है।

कथं न भेद इति चेत् सलक्ष्यं तन्निरूप्यते ॥१७२॥

लक्षणों की दृष्टि से भिन्न प्रतीत होने वाले ये पाँच स्वर वास्तव में पृथक् स्वर क्यों नहीं हैं—यह प्रचलित सङ्गीत के अनुसार स्पष्ट किया जा रहा है—

शुद्धषड्जादच्युतस्तु स षड्जो नंव भिद्यते ।
अच्युत षड्ज शुद्ध षड्ज से भिन्न नहीं है ।

अच्युतो मध्यमः शुद्धान्मध्यमान् भिदां भजेत् ॥१७३॥
अच्युत मध्यम शुद्ध मध्यम से अलग नहीं है ।

शुद्धर्षभाच्च विकृतो ऋषभो न पृथग्भवेत् ।
शुद्ध ऋषभ से विकृत ऋषभ पृथक् नहीं है ।

विकृतो धैवतः शुद्धाद्वैवतान्नातिरिच्यते ॥१७४॥
विकृत धैवत शुद्ध धैवत के अतिरिक्त दूसरा नहीं है ।

मध्यमश्च्युतपादाने विकृतः पञ्चमस्तु यः ।
विकृताच्चैव पञ्चमान् भेदं चाश्रुते ध्रुवम् ॥१७५॥

मध्यम की श्रुति को प्राप्त कर विकृत होने वाला पञ्चम (यानी, कैशिक पञ्चम) विकृत पञ्चम (यानी, त्रिश्रुतिक मध्यमग्रामिक पञ्चम) से निश्चित रूप से अभिन्न है ।

तस्माच्चतुर्दशस्वेवं पूर्वोक्तेष्वेव पञ्चकः ।
अन्तर्भूतो यतस्तस्मान्न पृथक् कथितो मया ॥१७६॥

ये स्वर मेरे द्वारा बताये गये चौदह स्वरों के अन्तर्भूत ही हैं, इसलिए मैंने इन्हें पृथक् स्वर नहीं कहा है ।

सप्तानां विकृतानां तु सोद्देशं लक्ष्म चक्ष्महे ।
च्युतः षड्जश्च्युतो मश्च च्युतः स्यात् पञ्चमस्तथा ॥१७७॥
स्यात् साधारणगान्धारोऽन्तरगान्धार एव च ।
स्यात्कैशिकनिषादोऽथान्यः काकलीनिषादकः ॥१७८॥

सात विकृत स्वरों को मैं प्रचलित संगीत के अनुसार बताता हूँ—च्युत षड्ज, च्युत मध्यम, च्युत पञ्चम, साधारण गान्धार, अन्तरगान्धार, कैशिक निषाद और काकली निषाद ।

लक्ष्ये नामान्तराणि ।

प्रचलित संगीत में उपर्युक्त विकृत स्वरों के संज्ञा-भेद

पण्डित रामामात्य ने सङ्गीतरत्नाकर के जिन सात स्वरों को स्वीकृत किया है, उनके नाम उनके युग में कुछ भिन्न हो गये थे । उन नवीन संज्ञाओं को वे यहाँ उद्धृत करते हैं :—

६० : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

चतुर्वशस्वरेण्वेषु वक्ष्ये लक्ष्यानुसारतः ।

नामान्तराणि केषाञ्चिद् व्यवहारप्रसिद्धये ॥१७९॥

इन १४ स्वरों में से कुछ की, व्यवहार में प्रसिद्ध, भिन्न संज्ञाओं को प्रचलित सङ्गीत के अनुसार बता रहा हूँ ।

च्युतषड्जस्वरो लक्ष्ये निषादत्वेन कीर्तितः ।

च्युतषड्जनिषादाभिधानं तस्य विधीयते ॥१८०॥

प्रचलित सङ्गीत च्युत षड्ज स्वर निषाद संज्ञा से व्यवहृत होता है, तथा उसे 'च्युतषड्जनिषाद' कहते हैं ।

च्युतमध्यमस्यापि गान्धारव्यवहारतः ।

च्युतमध्यमगान्धारसंज्ञाऽस्य क्रियते मथा ॥१८१॥

च्युतमध्यम का व्यवहार भी गान्धार के रूप में होता है, जिसका नाम मैं च्युतमध्यमगान्धार रखता हूँ ।

च्युतपञ्चममाचष्टे लोका मध्यमसंज्ञया ।

अस्माभिः कथ्यते सोऽत्रच्युतपञ्चममध्यमः ॥१८२॥

च्युत पञ्चम को मध्यम नाम से प्रयुक्त किया जाता है, जिसे हम 'च्युत पञ्चममध्यम' कहते हैं ।

लक्ष्येऽत्र कुत्रचिच्छुद्धगान्धारस्थानमाश्रयन् ।

ऋषभः कीर्त्यतेऽस्माभिः पञ्चश्रुत्यृषभाह्वयः ॥१८३॥

प्रचलित सङ्गीत में कहीं कहीं शुद्ध गान्धार के स्थान पर ऋषभ स्थित होता है, जिसे हम पञ्चश्रुतिक ऋषभ कहते हैं ।

स साधारणगान्धारस्थानस्थो ऋषभो यदि ।

लक्ष्यानुसारतः प्रोक्तस्तत्तत्षट्श्रुतिरेव सः ॥१८४॥

यदि ऋषभ साधारणगान्धार के स्थान पर स्थित होता है तो उसे प्रचलित सङ्गीत के अनुसार षट्श्रुतिक ऋषभ कहा जाता है ।

अनुवादः—

अथानुवादः क्रियते क्रमादुक्तस्वरावलेः ॥

उपर्युक्त चौदह स्वरों का अनुवाद, यानी पुनर्व्याख्या, इस प्रकार है—

शुद्धाः सप्तस्वराः शुद्धपूर्वया तत्तदाख्यया ।

विज्ञेयाः क्रमशः शुद्धषड्जः शुद्धर्षभस्ततः ॥१८५॥

स्वराध्याय : ६१

शुद्धगान्धार इत्येवं शुद्धमध्यम इत्यपि ।

शुद्धपञ्चम इत्युक्तः शुद्धधैवत इत्यपि ॥१८६॥

ततः शुद्धनिषादश्चेत्येवं सप्त स्वराभिधाः ।

शुद्ध स्वर सात हैं, और उनकी संज्ञाओं के आरम्भ में 'शुद्ध' शब्द लगाया जाता है—शुद्ध षड्ज, शुद्ध ऋषभ, शुद्ध गान्धार, शुद्ध मध्यम, शुद्ध पञ्चम, शुद्ध धैवत और शुद्ध निषाद ।

विकृताः सप्त कथ्यन्ते च्युतषड्जनिषादकः ॥१८७॥

च्युतमध्यमगान्धारश्च्युतपञ्चममध्यमः ॥

स साधारणगान्धारः स्यात्कैशिकनिषादकः ॥१८८॥

स्यात्काकलीनिषादश्चान्तरगान्धार इत्यपि ।

सात विकृत स्वर इस प्रकार हैं—च्युतषड्जनिषाद, च्युतमध्यमगान्धार, च्युतपञ्चममध्यम, साधारण गान्धार, कैशिक निषाद, काकली निषाद और अन्तरगान्धार ।

शुद्धगान्धारके तत्र पञ्चश्रुत्युषभोऽभिधा ॥१८९॥

साधारणेऽपि गान्धारे षट्श्रुत्युषभनाम च ।

अस्ति क्वचित्क्वचिद्भागमेलने गानसम्मतम् ॥१९०॥

कुछ रागमेलों में शुद्धगान्धार के लिए पञ्चश्रुतिऋषभ और साधारण गान्धार के लिए षट्श्रुतिऋषभ संज्ञाएँ भी विद्वानों द्वारा मान्य की गयी हैं ।

शुद्धनिषादनामान्यत् स्यात्पञ्चश्रुतिधैवतः ।

स्यात्कैशिकनिषादेऽन्यन्नाम षट्श्रुतिधैवतः ॥१९१॥

शुद्धनिषाद का अन्य नाम पञ्चश्रुतिधैवत और कैशिक निषाद का षट्श्रुतिधैवत है ।

चतुर्दश स्वराह्येते रागे रागे भवन्त्यमी ।

पर्यायेण स्वराः सप्त त्रिस्थाने नाधिकाः क्वचित् ॥१९२॥

मिन्न-मिन्न रागों में ये चौदह स्वर ही सात स्वरों के पर्याय रूप से मन्द्रादि तीनों स्थानों में प्रयुक्त होते हैं; इनसे अधिक नहीं ।

६२ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

**स्वरमेलकलानिधि में उल्लिखित शुद्ध-विकृत स्वरों का
वीणादण्ड पर निदर्शन**

शुद्ध षड्जतन्त्री पर

अधुना प्रचलित हिन्दुस्थानी स्वर	शुद्ध स्वर	विकृत स्वर
शुद्ध षड्ज.....	शुद्ध षड्ज	
कोमल ऋषभ.....	शुद्ध ऋषभ	
शुद्ध ऋषभ.....	शुद्ध गान्धार	पञ्चश्रुति ऋषभ
कोमल गान्धार.....		साधारण गान्धार; षट्श्रुति ऋषभ
तीव्र गान्धार.....		अन्तरगान्धार
.....		च्युतमध्यमगान्धार
शुद्धमध्यम.....	शुद्ध मध्यम	
तीव्रमध्यम.....		च्युतपञ्चममध्यम
शुद्ध पञ्चम.....	शुद्ध पञ्चम	
कोमल धैवत.....	शुद्ध धैवत	
शुद्ध धैवत.....	शुद्ध निषाद	पञ्चश्रुति धैवत
कोमल निषाद.....		कैशिक निषाद, षट्श्रुति धैवत
तीव्र निषाद.....		काकली निषाद
.....		च्युतषड्ज निषाद
शुद्ध षड्ज.....	शुद्ध षड्ज	

रागविबोध के शुद्ध-विकृत स्वर

षड्जर्षभगान्धारमध्यमपञ्चमधैवतनिषादाः ।

इत्यभिधास्त्वमीषां सरिगमपधनीति संज्ञाऽन्या ॥१९३॥

षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद की अन्य संज्ञाएँ क्रमशः स, रि, ग, म, प, ध और नि हैं।

तेषां श्रुतयः क्रमतो वेदा रामा दृशौ तथाम्बुधयः ।

निगमा दहनाः पक्षावेवं द्वाविंशतिः सर्वाः ॥१९४॥

इन सप्त स्वरों की श्रुतियाँ क्रमशः ४, ३, २, ४, ४, ३, २ हैं। इस प्रकार कुल श्रुतियाँ बाईस हैं।

टीका—संस्कृत में संख्याओं को प्रायः प्रतीकात्मक शब्दों द्वारा बताया जाता है। उपरिलिखित श्लोक में 'वेद', 'राम' इत्यादि शब्द संख्याओं के सूचक हैं :—

वेदाः=४ क्योंकि वेद चार हैं।

रामाः=३, क्योंकि प्रसिद्ध 'राम' तीन हैंः—मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्र, भगवान् परशुराम, एवं बलराम।

दृशौ=२, क्योंकि नेत्र दो होते हैं।

अम्बुधयः=४, क्योंकि शास्त्रों में चार महासागर बताये गये हैं।

दहनाः=३, क्योंकि तीन अग्नियाँ मानी गयी हैं—आहवनीय, दाक्षिणाग्नि तथा गार्हपत्य।

पक्षौ=२, क्योंकि दो पक्ष—शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष—हैं।

तुर्यायां सप्तम्यां तामु नवम्यां श्रुतौ त्रयोदश्याम् ।

सप्तदशीर्द्विंशतीर्द्वाविंशीषु च ते स्फुटाः क्रमतः ॥१९५॥

ये सप्त-स्वर बाईस श्रुतियों में क्रमशः ४थी, ७वीं, ९वीं १३वीं, १७वीं, २०वीं और २२वीं श्रुतियों पर होते हैं।

पृथुक्क्षयमाणवीणामेरौ स्थाप्याश्चतस्र इति तन्मयः ।

मन्द्रतमध्वनिराद्या त्रयं क्रमोच्चस्वनं किञ्चित् ॥१९६॥

न्यस्याः सूक्ष्माः सार्धोऽथ द्वाविंशतिरधश्चरमतन्मयाः ।

तन्त्री यथेयमुच्चोच्चतररश्वा किमपि तामु स्यात् ॥१९७॥

६४ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

द्व्यन्तर्नेष्टोऽन्यरवः श्रुतय इति रवा इहान्त्यतन्त्र्यां सः ।

ऋषभस्तृतीयसार्या गः पञ्चम्यां नवम्यां मः ॥१९८॥

पस्तु त्रयोदशीस्थः षोडश्यष्टादशीस्थितौ च धनी ।

द्वाविंशतीस्थः षड्जो द्विगुणसमः पूर्वषड्जेन ॥१९९॥

रुद्रवीणा के मेरु पर^१ चार तन्त्रियाँ लगायी जायें। पहली तन्त्री को अत्यन्त मन्द्र नाद में मिलाया जाय, तथा अन्य तीन तन्त्रियों को परस्पर कुछ ऊँचे नादों में। अन्तिम तन्त्री के नीचे २२ सूक्ष्म (यानी छोटी छोटी) सारियाँ—अर्थात् परदे—इस प्रकार लगाये जायें कि उन पर तन्त्री का नाद क्रमशः कुछ ऊँचा होता जाय। परस्पर दो नादों के बीच के अन्तर में कोई अन्य नाद नहीं होना चाहिए, इस प्रकार ये सारियाँ लगायी जायें। ये नाद ही श्रुतियाँ हैं। यहाँ अन्तिम तन्त्री पर षड्ज स्वर होगा अर्थात्, अन्तिम तन्त्री जिसके नीचे सारियाँ लगायी गयी हैं, उसका नाद षड्ज है। तृतीय सारी पर ऋषभ, पाँचवीं पर गान्धार, नवीं पर मध्यम, तेरहवीं पर पंचम, सोलहवीं पर धैवत, और अठारहवीं पर निषाद ये स्वर होंगे। बाईसवीं सारी पर षड्ज होगा, जो पहले षड्ज से दुगुना ऊँचा होगा।

टीका—इन श्लोकों में पण्डित सोमनाथ ने रुद्रवीणा के मेरुदण्ड पर स्वरों की प्राप्ति के विषय में बताया है। 'पृथुवक्ष्यमाणवीणामेरी' में इस वीणा को वक्ष्यमाण इसलिए कहा गया है कि सोमनाथ रागविबोध के द्वितीय विवेक में आगे इस वीणा का वर्णन करता है।

वीणा के मेरुदण्ड पर चार तन्त्रियाँ लगा कर उनमें से पहली को अत्यन्त मन्द स्वर में रखते हुए, अन्य तीन को क्रमशः कुछ ऊँचे होते हुए नादों में इस प्रकार मिलाया जाय कि परस्पर दो तन्त्रियों के नादों में इतना कम अन्तर हो कि उनके बीच अन्य कोई नाद न हो सके। इसके बाद, अन्तिम तन्त्री के नीचे २२ परदे लगाये जाते हैं। ये २२ परदे २२ श्रुतियों को बताते हैं। इन परदों को ऐसे अन्तरों से लगाना होगा कि तार को उन पर दबा कर बजाने से परस्पर निकट के दो परदों के द्वारा उत्पन्न नादों के बीच इतना सूक्ष्म अन्तर हो कि उनके बीच में किसी अन्य नाद की सम्भावना न हो।

१. यह अर्थ रागविबोध की स्वयं सोमनाथ की टीका के अनुसार है।
(द्रष्टव्य—रागविबोध, पृ: १७ पर टीका—अङ्गार संस्करण)।

इन २२ परदों पर अन्तिम तार को दबाते हुए बजाने से २२ श्रुतियाँ प्राप्त होंगी ।

इस अन्तिम तार को ४ थे, ७ वें आदि परदों पर दबा कर बजाने से सा, रे आदि स्वर प्राप्त होंगे ।

टिप्पणी

रागविबोधे रत्नाकरवन्नियतं श्रुतिप्रमाणमभूत् ।

इति शङ्क्यन्ति केचिद् द्वचन्तर्नेष्टोऽन्यरवोक्तेः ॥२००॥

उपर्युक्त अंश में 'द्वचन्तर्नेष्टोऽन्यरवः', अर्थात् दो नादों के बीच अन्य कोई नाद इष्ट नहीं कहा गया है, अतः कुछ विद्वान् सोचते हैं कि रागविबोध में भी सङ्गीतरत्नाकर की भाँति श्रुति का नियत प्रमाण रहा होगा ।

टीका—'द्वचन्तर्नेष्टोऽन्यरवः' के विषय में कुछ लोग कहते हैं कि यह सङ्गीतरत्नाकरोक्त 'द्वितीयोच्चध्वनिर्मनाक् स्यान्निरन्तरता श्रुत्योर्मध्ये ध्वन्यन्तराश्रुतेः' में निहित भाव का ही अनुवाद है । और इसी लिए विद्वानों की यह शंका स्वाभाविक ही है कि सम्भवतः सोमनाथ भी शार्ङ्गदेव के ही समान श्रुतियों का एक नियत प्रमाण मानते रहे होंगे ।

“इति सप्तोक्ताः शुद्धा विकृतान्सप्तैव वच्मि सह नाम्ना ।

साधारणोऽन्तरश्च श्रुति श्रुती चैत्य गो मस्य ॥२०१॥

निः कैशिकी च काकल्यथ सस्यैकां भजन्श्च तां ते द्वे ।

निगमा मृदुपरसमपाः समपतृतीयश्रुतिस्थित्या ॥२०२॥

सप्त शुद्ध स्वरों के पश्चात् मैं सात विकृत स्वरों को उनकी संज्ञाओं सहित बताता हूँ । मध्यम की एक श्रुति लेने वाला 'अन्तर' कहलाता है । षड्ज की क्रमशः एक और दो श्रुतियाँ लेकर निषाद 'कैशिक' और 'काकली' संज्ञाएँ प्राप्त करता है । निषाद, गान्धार और मध्यम क्रमशः षड्ज, मध्यम और पञ्चम की तीसरी श्रुतियों पर 'मृदु' कहे जाते हैं ।

द्वादशविकृतान्पूर्वै वदन्ति तत्र तु पृथक् पृथक् ध्वनितः ।

सप्तैव स्युर्भिन्नाः न पञ्च यदिमे समध्वनयः ॥२०३॥

पूर्ववर्ती ग्रन्थकारों ने बारह विकृत स्वर बताये हैं, किन्तु ध्वनि की भिन्नता के अनुसार उनमें से सात ही स्वर स्वतन्त्र भिन्न स्थान वाले, हैं, शेष पाँच समध्वनिक होने के कारण भिन्न स्वर नहीं हैं ।

६६ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

न पृथक् समाभ्यामच्युतसमो चतुःश्रुती च रिधौ ।

शुद्धवरिषाभ्यां विकृतस्त्रिश्रुतिपादपि चतुःश्रुतिपः ॥२०४॥

मिन्नो न चतुःश्रुतिषो निःशङ्कमतेऽपि कूटपुनरुक्तौ ।

तल्लक्षणतो भेदेऽप्यमीषु पञ्चसु न लक्ष्ये भित् ॥२०५॥

‘अच्युत’ नामक विकृत षड्ज और शुद्ध षड्ज और मध्यम से मिन्न स्वर नहीं है। चतुःश्रुतिक रे-घ शुद्ध रे-घ से अलग नहीं हैं। त्रिश्रुतिक (मध्यम-ग्रामिक) प से विकृत चतुःश्रुतिक प (कैशिक प) भिन्न नहीं है। चतुःश्रुतिक घ भी कोई भिन्न स्वर नहीं है, यह निःशङ्क उपाख्य शाङ्गदेव द्वारा उल्लिखित कूट तानों की पुनरुक्ति से भी सिद्ध होता है। इस प्रकार ये विकृत स्वर लक्षणों की दृष्टि से भिन्न होते हुए भी प्रचलित सङ्गीत में मिन्न स्वर नहीं माने जाते।

टीका—यहाँ पण्डित सोमनाथ ने शाङ्गदेवोक्त द्वादश विकृत स्वरों में से जो समस्थानिक स्वर-युग्म हैं उनकी स्वयुगीन सङ्गीत में स्थिति की चर्चा की है। इस सन्दर्भ में सङ्गीतरत्नाकर के तान-प्रकरण का अत्यन्त महत्वपूर्ण उल्लेख यहाँ हुआ है। सङ्गीतरत्नाकर में मध्यमग्राम की पौरवी नामक धैवत से आरम्भ होने वाली मूर्च्छना के शुद्धा, सान्तरा आदि चार भेदों में ‘घ नि सा रे ग म’ इस षाडव-क्रम से जो २८८० कूट तानें बतायी गयी हैं, ठीक वे ही २८८० कूट तानें षड्जग्रामिक धैवतादि मूर्च्छना उत्तरायता के चतुर्विध भेदों में से ‘घ नि सा रे ग म’ इस षट्स्वरीय समूह से उत्पन्न बतायी गयी हैं। उन्हीं-उन्हीं कूट तानों का दो बार बताया जाना ‘कूटपुनरुक्ति’ है। यह सुविदित है कि षड्जग्रामिक पञ्चम चतुःश्रुतिक और मध्यमग्रामिक पञ्चम त्रिश्रुतिक होते हैं; तथा धैवत दोनों ग्रामों में क्रमशः त्रिश्रुतिक और चतुःश्रुतिक होता है, किन्तु दोनों ग्रामों में उसका स्थान अपरिवर्तित रहता है। इस तरह दोनों ग्रामों का भेद केवल पञ्चम से व्यक्त होता है। उपर्युक्त द्विग्रामिक धैवतादि मूर्च्छनाओं की पञ्चम-रहित षट्स्वरीय कूट तानों के सादृश्य का यही कारण है। इससे, इस मत की पुष्टि होती है कि चतुःश्रुतिक मध्यमग्रामिक धैवत षड्जग्रामिक शुद्ध धैवत से मिन्न स्वर नहीं है। साथ ही, यह भी प्रमाणित होता है कि किसी स्वर की आद्य श्रुति न्यूनता या अधिकता मात्र से ही स्वर-भेद नहीं होता।^१

१. द्रष्टव्य, रागविबोध टीका, पृ. २२-२३ (अड्यार संस्करण)।

प्राचीन ग्रन्थकारोक्त विकृत स्वरों के अतिरिक्त अन्य विकृत स्वर

रिषयोः परश्रुतिगतेश्चतस्र इह पञ्च षट् तथा श्रुतयः ।

देशीरागेष्वभिधीक्ष्यन्ते च षट् तथा गमयोः ॥२०६॥

इति तेषु सम्भवन्ति त्रयोन्य एभ्यो विलक्षणा विकृताः ।

पञ्चश्रुतिः शुचेर्गात्साधारणतः षट्श्रुतिकः ॥२०७॥

रिर्न पृथक् तादृग्वो नेः कंशिकिन्श्च षट्श्रुतिर्गो मात् ।

किन्तूक्तरीघगमानां व्यवहृतये पृथगिमाः संज्ञाः ॥२०८॥

तीव्रश्रुतुःश्रुतिस्त्वे पञ्चश्रुतिकत्वे एव तीव्रतरः ।

षट्श्रुतिकत्वे तीव्रतम इति परं ता यथायोग्यम् ॥२०९॥

प्रचलित देशी रागों में रे और घ आगामी स्वरों की श्रुतियों को ग्रहण कर चतुःश्रुतिक, पञ्चश्रुतिक और षट्श्रुतिक बने हुए दिखायी देते हैं। इसी प्रकार ग और म भी अन्य स्वरों की श्रुतियाँ लेकर षट्श्रुतिक बन जाते हैं। इस तरह तीन भिन्न विकृत स्वर बन जाते हैं। रे के पञ्चश्रुतिक और षट्श्रुतिक भेद क्रमशः शुद्ध और साधारण गान्धार से पृथक् स्वर नहीं हैं। इसी प्रकार धैवत के भी पञ्चश्रुतिक और षट्श्रुतिक भेद क्रमशः शुद्ध और कंशिक निषाद ही हैं। षट्श्रुतिक गान्धार शुद्धमध्यम से भिन्न नहीं है। किन्तु प्रचलित सङ्गीत में इन रे, ग, म और घ की अन्य संज्ञाएँ व्यवहृत होती हैं। जब वे चतुःश्रुतिक होते हैं, तब उन्हें 'तीव्र' कहा जाता है (म को छोड़कर); पञ्चश्रुतिक होने पर 'तीव्रतर' और षट्श्रुतिक होने पर 'तीव्रतम'। इन संज्ञाओं का प्रयोग यथायोग्य रूप से होता है।

तदिति च शास्त्रविरोधि न बाद्याध्याये हि शार्ङ्गदेवेन ।

लक्ष्यस्थित्यं प्रोक्तं शास्त्रार्थस्यान्यथात्वमपि ॥२१०॥

ये स्वर और ये संज्ञाएँ, शास्त्र-ग्रन्थों में निहित अर्थों से पृथक् होते हुए भी, शास्त्रविरोधी नहीं हैं, ऐसा आचार्य शार्ङ्गदेव ने अपने ग्रन्थ के बाद्याध्याय^१ में प्रतिपादित किया है, क्योंकि वे प्रचलित सङ्गीत की स्थापना के लिए ही हैं।^२

१. यद्वा लक्ष्यप्रधानानि शास्त्राण्येतानि मन्वते ।

तस्माल्लक्ष्यविरुद्धं यत्तच्छास्त्रं नेयमन्यथा ॥ (सङ्गीतरत्नाकर-६-३३३)

२. द्रष्टव्य—रागविबोध टीका, पृ. २५-२६ (अङ्गार संस्करण)।

६८ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

टीका—ऋषभादिस्वरों के तीव्र, तीव्रतर आदि विकृत भेद, जो सोमनाथ के काल में प्रचलित थे, पूर्ववर्ती शास्त्रग्रन्थों में दृष्टिगोचर नहीं होते। तथापि इस प्रकार की नुतन संज्ञाएँ और स्वर शास्त्रविरोधी नहीं हैं, ऐसा सोमनाथ ने सङ्गीतरत्नाकर के प्रामाण्य से सिद्ध किया है। आचार्य शाङ्गदेव ने स्पष्ट कहा है कि शास्त्रग्रन्थों में समकालीन सङ्गीत का प्रतिपादन ही मुख्यतः किया जाना चाहिए, इसलिए प्रचलित सङ्गीत के ऐसे तथ्यों को भी शास्त्रों में स्थान दिया जाना चाहिए, जो प्राचीन शास्त्रों से भिन्न होते हुए भी सर्वथा शास्त्रविपरीत न हों।

षट्श्रुतिकं मं पञ्चश्रुतिकौ च चतुःश्रुती रिधावगदत् ।

रागविवेकाध्यायव्याख्याने

कल्लिनाथसूरिरपि ॥२११॥

सङ्गीतरत्नाकर के टीकाकार पण्डित कल्लिनाथ ने भी रागाध्याय की अपनी व्याख्या में चतुःश्रुतिक तथा पञ्चश्रुतिक रे और घ एवं षट्श्रुतिक म का उल्लेख किया है।

टीकायाम्

रागविवेक की सोमनाथ की ही टीका के अनुसार

पञ्चश्रुति रिः शुचेः शुद्धात् गात् गान्धारात् ।

‘पञ्चश्रुतिः’ ऋषभ ‘शुचेर्गात्’ यानी, शुद्धगान्धार से—

षट्श्रुतिकश्च रिः साधारणात् साधारणाख्यविकृतगान्धारात् ।

और षट्श्रुतिक ऋषभ ‘साधारणात्’ यानी साधारण नामक विकृत गान्धार से—
न पृथक् न भिन्नः । स एव स इत्यर्थः ।

‘न पृथक्’—भिन्न नहीं है। अर्थ यह कि वह वही है (अर्थात्, पञ्चश्रुति रे शुद्ध ग ही है, और षट्श्रुति रे साधारण ग ही है) ।

चापरं तादृक् पञ्चश्रुतिः षट्श्रुतिश्च घः धं वतः नेः शुचेर्निषादात् कंशिकिनश्च तदाख्यविकृतनिषादाच्च क्रमेणेत्येव ।

इसी प्रकार, पञ्चश्रुति और षट्श्रुति ‘वः’ यानी धं वत क्रमशः ‘नेः’ यानी शुद्ध निषाद से और ‘कंशिकिनः’ कंशिक नामक विकृत निषाद से भिन्न नहीं है।

षट्श्रुतिर्गः मात् शुचेमंध्यमात् न पृथक् ।

षट्श्रुति ग 'मात्' यानी शुद्ध मध्यम से भिन्न नहीं है ।

पञ्चश्रुतिको रिः गान्धार एव ।

पञ्चश्रुतिक रे शुद्ध गान्धार ही है ।

षट्श्रुतिकश्च रिः साधारण एव ।

और षट्श्रुतिक 'रे' साधारण गान्धार ही है ।

एवं पञ्चश्रुतिर्धो निषाद एव ।

इसी प्रकार, पञ्चश्रुति 'व' शुद्ध निषाद ही है ।

षट्श्रुतिश्च 'धः' कैशिक्येव ।

और षट्श्रुति 'व' कैशिक निषाद ही है ।

रे, ध, ग, म के चतुःश्रुति आदि प्रकारों की पृथक् संज्ञाएँ

चतुःश्रुतित्व एव तीव्र इति रिधावीनां संज्ञेत्यर्थः ।

चतुःश्रुतित्व में रे, ध आदि की संज्ञा 'तीव्र' होती है, यह अर्थ है ।

एवं पञ्चश्रुतिकत्वषट्श्रुतिकत्वयोरेव तीव्रतरतीव्रतम इति च संज्ञेयम् ।

इसी तरह से, पञ्चश्रुतिकत्व में उनकी संज्ञा 'तीव्रतर' और षट्श्रुतिकत्व में 'तीव्रतम' संज्ञा होती है ।

एवं सति गमयोरपि संज्ञात्रये प्राप्ते आह ।

ऐसा होने पर गान्धार और मध्यम की भी तीन तीन संज्ञाएँ प्राप्त हो सकती हैं ।

परं ता इति ।

'परं' यानी परन्तु, इस शब्द के द्वारा श्लोक में उपर्युक्त कल्पना को सीमित किया गया है—

परन्तु ताः संज्ञा यथायोग्यं यथाहं गस्य मस्य च षट्श्रुतिकत्वे तीव्रतम इत्येकैव संज्ञा । न तु तीव्रतीव्रतरसंज्ञे,

किन्तु 'ताः', यानी वे संज्ञाएँ (अर्थात्, उपर्युक्त तीव्रादि संज्ञाएँ) 'यथायोग्यं', यानी जहाँ जैसी आवश्यक हों अथवा जहाँ योग्य हों (वहीं प्रयुक्त की जाती हैं) । गान्धार और मध्यम के षट्श्रुतिकत्व में केवल 'तीव्रतम' यही

७० : श्रीमल्लदयसङ्गीतम्

एक संज्ञा होती है, तीव्र गान्धार-मध्यम और तीव्रतर गान्धार-मध्यम ये संज्ञाएँ नहीं होतीं ।

गस्य तु चतुःश्रुतिकत्वपञ्चश्रुतिकत्वयोः अन्तरमृदुमसंज्ञयोः प्रवृत्तेः,

किन्तु गान्धार के चतुःश्रुतिकत्व और पञ्चश्रुतिकत्व में क्रमशः अन्तर गान्धार और मृदु मध्यम इन संज्ञाओं की प्रवृत्ति (यानी, प्रचलन) होने के कारण, (और)

मस्य तु चतुःश्रुतिकत्वस्याव्यभिचारात् पञ्चश्रुतिकत्वस्य चासम्भवादित्यर्थः ।

मध्यम के चतुःश्रुतिकत्व में परिवर्तन न होने कारण उसका पञ्चश्रुतिकत्व असम्भव होने से (गान्धार और मध्यम की केवल तीव्रतम संज्ञाएँ व्यवहृत होती हैं)—यह तात्पर्य है ।

टिप्पणी—इसे हम आगे स्पष्ट कर रहे हैं—देखिए सोमनाथ के स्वरों पर हमारी टिप्पणी ।

रागविबोध के स्वरों पर अनुवादक की टिप्पणी

पण्डित सोमनाथ ने भी रामामात्य की भाँति शार्ङ्गदेवोक्त १२ विकृत स्वरों में से अच्युतषड्जादि ५ को छोड़ कर केवल ७ स्वर मान्य किये हैं । किन्तु उन्होंने रामामात्य की च्युतषड्जनिषाद, च्युतमध्यमगान्धार और च्युत-मध्यमपञ्चम संज्ञाओं के स्थान पर क्रमशः मृदुषड्ज, मृदुमध्यम और मृदुपञ्चम संज्ञाओं का प्रयोग किया है ।

इन ७ विकृत संज्ञाओं के अतिरिक्त रे, ग, म, ध की तीव्र, तीव्रतर और तीव्रतम संज्ञाओं का भी प्रयोग यथास्थान वे करते हैं । रे-ध त्रिश्रुतिक होने पर ही शुद्ध रहते हैं, आगामी श्रुतियों पर जाने पर विकृत हो कर वे तीव्रादि संज्ञाएँ प्राप्त करते हैं । चतुःश्रुतिक, पञ्चश्रुतिक और षट्श्रुतिक होने पर रे-ध की क्रमशः तीव्र, तीव्रतर और तीव्रतम संज्ञाएँ हो जाती हैं । तीव्रतर रे शुद्ध ग ही है और तीव्रतम रे साधारण ग । यहाँ तीव्र रे (८वीं श्रुति) एक नया स्थान है । इसी प्रकार तीव्र ध (२१वीं श्रुति) नया स्थान है, तीव्रतर ध शुद्ध नि ही है और तीव्रतम ध कैशिक नि । ग भी विकृत हो कर त्रिश्रुतिक से ले कर षट्श्रुतिक होता है । त्रिश्रुतिक होने पर उसे साधारण ग कहते हैं । परन्तु चतुःश्रुतिक और पञ्चश्रुतिक में उसे तीव्र और तीव्रतर नहीं कहा जाता, क्योंकि इन स्थितियों में उसके नाम अन्तर 'ग' और मृदु 'म' ही सोमनाथकालीन सङ्गीत में प्रचलित थे । इसी लिए 'ग' केवल षट्श्रुतिकत्व में केवल एक संज्ञा

स्वराध्याय : ७१

रागविबोध के शुद्ध-विकृत स्वरों का वीणादण्ड पर निदर्शन

प्रचलित उ० भा० स्वर	शुद्धषड्ज तन्त्री पर		विकृत स्वर
	शुद्ध स्वर		
शुद्ध षड्ज.....	४	शुद्ध षड्ज	
	५		
	६		
कोमल ऋषभ	७	शुद्ध ऋषभ	
	८		तीव्र ऋषभ
शुद्ध ऋषभ.....	९	शुद्ध गान्धार.....	तीव्रतर ऋषभ
कोमल ग	१०		साधारण गान्धार, तीव्रतम ऋषभ
	११		अन्तर गान्धार
	१२		मृदु मध्यम
शुद्ध मध्यम.....	१३	शुद्ध मध्यम.....	तीव्रतम गान्धार
	१४		
	१५		तीव्रतम मध्यम
	१६		मृदु पञ्चम
शुद्ध पञ्चम	१७	शुद्ध पञ्चम	
	१८		
	१९		
	२०	शुद्ध धैवत	
	२१		तीव्र धैवत
	२२	शुद्ध निषाद	तीव्रतर धैवत
	१		कैशिक निषाद, तीव्रतम धैवत
शुद्ध निषाद.....	२		काकली निषाद
	३		मृदु षड्ज
शुद्ध षड्ज	४	शुद्ध षड्ज	
		७	१५

७२ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

‘तीव्रतम’ ही प्राप्त करता है। तीव्रतम ग शुद्ध मध्यम है। मध्यम चतुःश्रुतिक होने पर ही शुद्ध रहता है, इसलिए चतुःश्रुतित्व में उसे तीव्रमध्यम नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार इस स्थिति में मध्यम की संज्ञा में परिवर्तन नहीं हो सकता। सोमनाथ ने टीका में मध्यम का पञ्चश्रुतिकत्व असम्भव बताया है, परन्तु वह असम्भव क्यों है? इसका कोई स्पष्टीकरण नहीं दिया है। केवल षट्श्रुतिकत्व में मध्यम ‘तीव्रतम’ संज्ञा प्राप्त करता है, ऐसा सोमनाथ ने बताया है। यह भी एक नवीन स्वर-स्थान है।

इस प्रकार, सोमनाथ के कुल विकृत स्थान, पहले बताये गये साधारण ग आदि ७ + ३ नये (तीव्र रे, तीव्र घ और तीव्रतम म) = १० होते हैं। वे कुल १५ विकृत संज्ञाओं का उपयोग करते हैं।

तीव्र, तीव्रतरादि विकृत संज्ञाओं और इन ३ नये स्वर-स्थानों का सोमनाथ ने अपने समकालीन सङ्गीत के आधार पर उल्लेख किया है। यद्यपि ऐसा प्रतीत होता है कि वे स्वयं कुल ७ विकृत स्थानों के पक्ष में हैं। तीव्रादि संज्ञाओं को अपने ग्रन्थ में स्थान देते समय उन्होंने शार्ङ्गदेव और कल्लिनाथ का साक्ष्य दिया है, जिसके अनुसार पूर्वशास्त्रों में वर्णित तथ्यों के अतिरिक्त नवयुगीन तथ्यों का अंगीकार भी शास्त्र में न केवल क्षम्य है, अपितु लक्ष्य-स्थिति के प्रतिपादन के लिए, बहुत हद तक आवश्यक भी है।

चतुर्दण्डिप्रकाशिका के श्रुति-स्वर

श्रुतिर्नाम भवेत्तादिविशेषः स्वरकारणम्।

ननु नास्ति स्वरश्रुत्योर्भेदो नादैकरूपयोः ॥२१२॥

विद्यते परिणामित्वपरिणामत्वसम्भवः।

अस्ति भेदस्तयोर्द्वत् स्वरणदङ्ककिरीटयोः ॥२१३॥

श्रुति नाद-विशेष को कहते हैं, जो स्वर के लिए कारणभूत होती है। नाद की एकरूपता के कारण क्या स्वर और श्रुति में भेद नहीं है? ऐसी शंका के समाधान में ग्रन्थकार कहता है—उनमें भेद है, जो परिणामित्व-परिणामत्व भाव के कारण होता है। दोनों में वैसा ही भेद है, जैसा स्वर-पिण्ड और स्वर-मुकुट में होता है।

टीका—पण्डित वेङ्कटमखी ने श्रुति को सूत्ररूप में नाद-विशेष कहा है। अर्थ यह कि कोई भी नाद श्रुति नहीं कहा जा सकता। विशेष अन्तरों

पर स्थित नादों को ही श्रुति कहते हैं, यह भाव यहाँ है। बिना विशेष ध्वन्यन्तर के श्रुति की कल्पना ही नहीं की जा सकती।

श्रुति नाद-विशेष है, और स्वर भी नाद ही हैं। श्रुति और स्वर दोनों ही नाद हैं, फिर भी दोनों एक नहीं हैं। वेङ्कटमखी ने श्रुति और स्वर का भेद अत्यन्त स्पष्ट रूप से बताया है। श्रुति और स्वर में परिणामित्व परिणामत्व सम्बन्ध है। परिणामि का अर्थ है, जिसके द्वारा परिणाम उत्पन्न हो। श्रुतियों के परिणामस्वरूप स्वर उत्पन्न होते हैं। दूसरे शब्दों में, स्वरों की स्थितियाँ श्रुतियों के कारण बनती हैं। श्रुति और स्वर दोनों ही नाद तो हैं, परन्तु दोनों में भेद है—मूल पदार्थ और उस पदार्थ से निर्मित वस्तु का-सा। पण्डित वेङ्कटमखी इसी लिए श्रुति और स्वर की तुलना स्वर्ण-पिण्ड एवं स्वर्ण-मुकुट से करते हैं। श्रुति स्वर्ण के निराकार पिण्ड के समान है, और स्वर मुकुट के समान। मुकुट प्रत्यक्ष व्यवहार की वस्तु है, स्वर्ण-पिण्ड नहीं। इसी प्रकार सङ्गीत के व्यवहार में स्वरों का प्रत्यक्ष उपयोग होता है, श्रुतियों का नहीं।

द्वाविंशतिरिति प्रोक्ताः श्रुतयो भरतादिभिः।

ताश्च वीणाप्रसिद्धेषु सुस्पष्टं विभजामहे ॥२१४॥

स्वरेषु शुद्धविकृतभेदाख्यद्वादशात्मसु।

भरत आदि पूर्वाचार्यों ने श्रुतियाँ बाईस बतायी हैं। हम सुपरिचित वीणाओं पर स्वरों के शुद्ध-विकृत कुल बारह भेदों में उन बाईस श्रुतियों का विभाजन स्पष्ट करते हैं।

तथा हि शुद्धऋषभे श्रुतयस्तिन्न ईरिताः ॥२१५॥

शुद्ध ऋषभ की तीन श्रुतियाँ बतायी गयी हैं।

ततोऽपि शुद्धगान्धारे श्रुति द्वे समुपाहृते।

शुद्ध गान्धार की दो श्रुतियाँ बतायी गयी हैं।

चतस्रः श्रुतयः शुद्धमध्यमे समुदाहृताः ॥२१६॥

स्यात्साधारणगान्धारस्तस्याद्यां श्रुतिमाश्रितः।

तस्यैव समुपादाय द्वितीयकतृतीयके ॥२१७॥

श्रुति द्विश्रुतिकः प्रोक्तो गान्धारोऽन्तरनामकः।

बत्वा साधारणाख्याय गान्धारायादिमां श्रुतिम् ॥२१८॥

द्वितीयां च तृतीयां चान्तरगान्धारसंज्ञके।

७४ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

तत्रैकश्रुतिको जातो मध्यमोऽयं चतुःश्रुतिः ॥२१९॥

शुद्ध मध्यम की चार श्रुतियाँ कही जाती हैं। साधारण गान्धार उसकी पहली श्रुति पर स्थित होता है। मध्यम की ही दूसरी और तीसरी श्रुतियों को लेकर अन्तरगान्धार नामक स्वर होता है। इस प्रकार, अपनी पहली श्रुति साधारण गान्धार को और दूसरी और तीसरी श्रुति अन्तरगान्धार को देकर यह चतुःश्रुतिक मध्यम स्वयं एकश्रुतिक रह जाता है।

चतस्रः श्रुतयः प्रोक्ताः पञ्चमे गीतवेदिभिः ।

आदायाद्यां द्वितीयां च तृतीयामपि तच्छ्रुतिम् ॥२२०॥

वराळीमध्यमः प्रोक्तः श्रुतित्रयसमन्वितः ।

वराळीमध्यमाय त्रिश्रुतीर्दत्त्वा तु पञ्चमः ॥२२१॥

श्रुत्यैकया युतो जातो भवन्नपि चतुःश्रुतिः ।

संगीतज्ञों ने पञ्चम की चार श्रुतियाँ बतायी हैं। उसकी पहली, दूसरी और तीसरी श्रुति को लेकर वराळीमध्यम नामक त्रिश्रुतिक स्वर बनता है। वराळीमध्यम को अपनी तीन श्रुतियाँ दे देने के कारण पञ्चम चतुःश्रुतिक होते हुए भी स्वयं एकश्रुतिक रह जाता है।

तिस्रः साङ्गीतिकैः प्रोक्ताः श्रुतयः शुद्धवैवते ॥२२२॥

संगीतज्ञों के अनुसार शुद्ध वैवत की तीन श्रुतियाँ हैं।

स्वरे शुद्धनिषादाख्ये द्वे श्रुती समुदाहृते ।

शुद्ध निषाद की दो श्रुतियाँ कही जाती हैं।

चतस्रः श्रुतयः षड्जे तस्यादायादिसां श्रुतिम् ॥२२३॥

कैशिक्याख्यनिषादोऽयमेकश्रुतिरुदाहृतः ।

द्वितीयकतृतीयाख्यतच्छ्रुतिभ्यां समन्वितः ॥२२४॥

काकल्याख्यनिषादोऽयं द्विश्रुतिः कथ्यते बुधैः ।

तत्कैशिकनिषादाय श्रुतिमेकां श्रुतिद्वयीम् ॥२२५॥

काकल्यै तु प्रदायास्ते षड्ज एकश्रुतिः स्वयम् ।

षड्ज की चार श्रुतियाँ हैं, जिनमें से, विद्वानों के मतानुसार, पहली श्रुति पर कैशिक निषाद है, जो एकश्रुतिक है; तथा दूसरी और तीसरी श्रुतियों से युक्त काकली निषाद नामक द्विश्रुतिक स्वर है। इस प्रकार, अपनी एक

श्रुति कैशिक निषाद को और दो श्रुतियाँ काकली निषाद को देकर षड्ज स्वयं एकश्रुतिक रह जाता है।

द्वाविंशतिविभज्येवं श्रुतयो दर्शिता मया ॥२२६॥

इस प्रकार मैंने २२ श्रुतियों का विभाजन बताया है।

तत्र शुद्धस्वराः सप्त मुखारीमात्रभासकाः।

चतुश्चतुश्चतुश्चैव षड्जमध्यमपञ्चमाः ॥२२७॥

द्वे द्वे निषादगान्धारौ त्रिस्त्री ऋषभधैवतौ।

इत्येवं भरतश्लोकसङ्ख्यातश्रुतिशालिनः ॥२२८॥

इन श्रुतियों में सात शुद्ध स्वर हैं, जो एकमात्र मुखारी में व्यक्त होते हैं। षड्ज, मध्यम और पंचम में से प्रत्येक की ४ श्रुतियाँ; ऋषभ और धैवत की ३-३ श्रुतियाँ, एवं गान्धार और निषाद की २-२ श्रुतियाँ हैं। इस प्रकार भरतोक्त श्रुति-संख्या से युक्त शुद्ध स्वर मुखारी मेल में प्राप्त होते हैं।

टीका—पण्डित वेङ्कटमखी मुखारी को शुद्ध मेल मानते हैं, इसलिए उसके स्वरों पर वे प्राचीन ग्रन्थकारोक्त षड्जग्राहिक स्वर-लक्षण घटित करते हैं।

विकृतास्तु स्वराः पञ्चेत्यस्माभिरवधार्यते।

हम लोग विकृत स्वर पाँच ही मानते हैं।

रत्नाकरे तु निःशङ्को विकृतान् द्वादशस्वरान् ॥२२९॥

अन्नवीत्केचन पुनस्सप्ताह्वविकृतस्वरान्।

सर्वमेतत्समालोच्य लक्ष्यमार्गानुसारतः ॥२३०॥

स्वराः पञ्चैव विकृता इति सिद्धान्तितं मया।

सङ्गीतरत्नाकर में निःशंक शार्ङ्गदेव ने १२ विकृत स्वर बताये हैं। पुनः कुछ आचार्यों ने विकृत स्वर ७ ही बताये हैं। इस सबका समालोचन कर वर्तमान सङ्गीत-पद्धति के अनुसार मैं यह सिद्धान्त स्थापित करता हूँ कि विकृत स्वर पाँच ही हैं।

तांश्च पञ्च स्वरान् सम्यग्विविच्य व्याहरामहे ॥२३१॥

इन्हीं ५ स्वरों की सम्यक् विवेचना हम कर रहे हैं।

साधारणश्च गान्धारो गान्धारश्चान्तराभिधः।

द्वौ तौ च मध्यमक्षेत्रसम्भूतौ विकृतस्वरौ ॥२३२॥

७६ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

साधारण गान्धार और अन्तरगान्धार—ये दो विकृत स्वर मध्यम के श्रुति-क्षेत्र में बनते हैं ।

वराळीमध्यमश्रैकः

पञ्चमक्षेत्रसम्भवः ।

पञ्चम के क्षेत्र में एक मात्र विकृत स्वर वराळी मध्यम है ।

षड्जक्षेत्रसमुद्भूतौ कंशिकीकाकलीस्वरौ ॥२३३॥

षड्ज के क्षेत्र में कंशिकी निषाद और काकली निषाद ये दो स्वर बनते हैं ।

एवमेते स्वराः पञ्चम विकृता इति निर्णयः ।

आहत्य शुद्धविकृताः स्वरा द्वादश कीर्तिताः ॥२३४॥

इस प्रकार, यह निश्चित है कि विकृत स्वर पाँच हैं । शुद्ध और विकृत मिला कर कुल १२ स्वर कहे जाते हैं ।

श्रुति-स्थान-निर्णय-हेतु चतुर्दण्डिप्रकाशिका में वर्णित सुलभ उपाय

ता एताः श्रुतिवीणायां प्रकाशयन्ते पृथक्तया ।

श्रुतिवीणाप्रकारस्तु वर्ण्यतामिति चेत्तथा ॥२३५॥

मध्यमेलाल्पवीणायां तत्स्वरूपं निरूप्यते^१ ।

ये बाईस श्रुतियाँ श्रुतिवीणा पर व्यक्त होती हैं; किन्तु यदि अलग से श्रुतिवीणा की विधि का वर्णन करना हो, तो उसका स्वरूप मध्यमेल नामक वीणा पर निरूपित किया जाता है ।

टीका—श्रुतिवीणा पर बाईस श्रुतियाँ प्रकट होती हैं । किन्तु यह वीणा अप्रचलित है, तथा दुर्लभ भी । इसी लिए उसके स्थान पर मध्यमेल नामक बहुप्रचलित सर्वत्र वीणा पर ही श्रुतिवीणा को भाँति ही पर्वों या परवों को लगा कर श्रुतियों के दर्शन करने की विधि पण्डित वेङ्कटमखी वर्णित करते हैं ।

^२मध्यमेलाल्पवीणायां मध्यस्थानस्थपर्वसु ॥२३६॥

द्वादशस्वपि चैतेषु श्रुतिव्यञ्जकपर्वणाम् ।

विनिवेशक्रमं ब्रूमः श्रुतिभेदकबोधकम् ॥२३७॥

१. चतुर्दण्डिप्रकाशिका—श्रुतिप्रकरण श्लोक १७-१८ ।

२. श्लोक २३६-२४३ चतुर्दण्डिप्रकाशिका, श्रुतिप्रकरणश्लोक २६-३४ से उद्धृत हैं ।

मध्यमेल वीणा के मध्यस्थानगत वारह पर्वों के ही बीच-बीच में श्रुतियों का बोध कराने वाले पर्वों की स्थापना का क्रम हम वर्णित करते हैं।

मेरूपकण्ठं शुद्धषभक्षेत्रान्तरं त्रिधा ।

विभज्यषभपर्वेन्दुदृश्यमानं विनान्तरे ॥२३८॥

पर्वद्वयनिवेशे स्युस्तिस्त्रोऽपि श्रुतयः स्फुटाः ।

शुद्धषभे..... ॥२३९॥

मेरु के समीपस्थ शुद्ध ऋषभ के क्षेत्र के अन्तर को तीन भागों में विभक्त कर, पहले से ही विद्यमान शुद्ध ऋषभ पर्व को छोड़कर अन्य दो भागों पर दो पर्वों को लगाने पर ऋषभगत तीन श्रुतियाँ स्पष्ट होती हैं।

टीका—मध्यमेल वीणा पर श्रुति-दर्शन की इस विधि में मध्यस्थान-गत स्वर-पर्वों के बीच के अन्तरों को यथावश्यक रूप से विभाजित कर उन विभागों पर नये पर्वों की स्थापना चतुर्दण्डप्रकाशिकाकार करते हैं। वीणा पर पूर्वतः विद्यमान स्वर-व्यंजक पर्वों के मध्यवर्ती क्षेत्रों की जहाँ जैसी आवश्यकता हो, समान भागों में विभाजित करना चाहिए। यद्यपि पण्डित वेङ्कटमल्ली ने 'समान' भाग नहीं कहा है, तथापि यही अमिप्राय यहाँ 'त्रिधा विभज्य' आदि अंशों का है, ऐसा कहना उचित है।

वीणा पर मेरु से सबसे निकट पहला ही पर्व शुद्ध ऋषभ का है। शुद्ध ऋषभ त्रिश्रुतिक है, इसलिए मेरु से इस पर्व तक के क्षेत्र के समग्रभाग करने पर प्रत्येक भाग एक श्रुति को व्यक्त करेगा। इन भागों पर पर्वों की स्थापना करनी होगी। तीसरे भाग, अर्थात् तृतीय श्रुति का अमिव्यंजक स्वयं शुद्ध ऋषभ पर्व है। इसलिए शेष पहले और दूसरे भागों को बताने के लिए केवल दो पर्वों की स्थापना यहाँ करनी होगी। वीणा के षड्ज के तार को इन दोनों पर्वों तथा शुद्ध ऋषभ पर्व पर दबाकर बजाने से शुद्ध ऋषभगत तीन श्रुतियाँ क्रमशः दिखायी देती हैं, ऐसा ग्रन्थकार का आशय है।

(शुद्धषभे) तथा शुद्धगान्धारक्षेत्रं द्विधा ॥२३९॥

विभज्याथ यथावस्थं पर्वगान्धारभासकम् ।

व्यपेक्ष्य मध्ये पर्वकं यदा परिनिवेश्यते ॥२४०॥

गान्धारस्य तदानीं स्यात्श्रुतिद्वयमतिस्फुटम् ।

इसी प्रकार, शुद्ध ऋषभपर्व और शुद्धगान्धार पर्व के बीच के शुद्ध गान्धार क्षेत्र को दो भागों में विभाजित कर, उन दोनों भागों में से दूसरे

७८ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

भाग को बताने वाले शुद्धगान्धार पर्व को (जो पहले से ही वीणा पर है) छोड़ कर पहले भाग को बताने के लिए एक पर्व की स्थापना करने से शुद्ध गान्धारगत दो श्रुतियाँ स्पष्ट होती हैं ।

मध्यमस्य स्वरस्योक्ताश्चतस्रः श्रुतयः स्फुटाः ॥२४१॥

तत्र साधारणे स्पष्टा गान्धारे श्रुतिरेकिका ।

अन्तराख्यानगान्धारक्षेत्रं द्वेधा विभज्य तु ॥२४२॥

एकस्य पर्वणो मध्ये तयोर्यदि निवेशनम् ।

जायतेऽन्तरगान्धारे श्रुतिद्वयमतिस्फुटम् ॥

मध्यमे श्रुतिरेकेति स्पष्टं श्रुतिचतुष्टयम् ॥२४३॥^१

मध्यम की चारों श्रुतियाँ स्पष्ट हैं । साधारण गान्धार पर्व उसकी प्रथम श्रुति को व्यक्त करता है । वीणादण्ड पर अन्तरगान्धार के क्षेत्र को दो भागों में विभाजित कर बीच में एक पर्व स्थापित कर दिया जाय, तो अन्तरगान्धारगत दो श्रुतियाँ स्पष्ट हो जाती हैं । मध्यम की चतुर्थ श्रुति मध्यम पर्व पर व्यक्त होती है । इस प्रकार मध्यमगत चार श्रुतियों के दर्शन हो जाते हैं ।

टीका—चतुर पण्डित ने यहाँ चतुर्दण्डप्रकाशिका के श्रुतिप्रकरण से मध्यमेलवीणा पर श्रुति-वीणा की विधि से श्रुति-दर्शन विषयक जो अंश उद्धृत किया है, वह अपूर्ण है, तथा उसमें केवल शुद्ध मध्यम तक श्रुतियाँ बतायी गयी हैं । चतुर्दण्डप्रकाशिका में इस अंश के आगे पंचम आदि स्वरों की श्रुतियों के अभिव्यंजक पर्वों की स्थापना बतायी गयी है । चतुःश्रुतिक पञ्चम की प्रथम तीन श्रुतियाँ लेकर वराळीमध्यम बनता है । शुद्ध और वराळी मध्यम के पर्वों के बीच के क्षेत्र के तीन भाग कर पहले और दूसरे भागों पर दो पर्व लगा देने से वराळी मध्यम की तीन श्रुतियाँ सुनी जा सकती हैं । पञ्चम का पर्व पञ्चम की चतुर्थ श्रुति को व्यक्त करता है । पञ्चम और शुद्ध धैवत के क्षेत्र के समन्निभाग कर बीच में दो पर्व स्थापित करने पर धैवत की तीन श्रुतियाँ स्पष्ट हो जाती हैं । शुद्ध धैवत और शुद्ध निषाद के ठीक बीच एक पर्व लगा कर शुद्ध निषाद की दो श्रुतियाँ ज्ञात की जा सकती

१. चतुर्दण्डप्रकाशिका के श्रुतिप्रकरण का वह अंश, जो श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम् में उद्धृत नहीं है, इसप्रकार है—

हैं। चतुःश्रुतिक शुद्ध षड्ज की प्रथम श्रुति कैशिक निषाद पर्व व्यक्त करता है। उसके आगे काकली निषाद तक के क्षेत्र के ठीक बीच एक पर्व लगाने पर दो श्रुतियाँ ज्ञात हो जाती हैं। चौथी श्रुति स्वयं शुद्ध षड्ज पर्व से व्यक्त होती है।^२

इत्येवं मध्यमेलयां श्रुतिवीणाप्रकारतः ।

द्वाविंशतिश्रुतीनां च विभागक्रम ईरितः ॥

इस प्रकार से मध्यमेलवीणा पर श्रुति-वीणा विधि से बाईस श्रुतियों का विभाग-क्रम बताया गया है।

..... ।

चतुःश्रुतिः पञ्चमोऽस्य श्रुतित्रयमुपाश्रितः ॥३४॥

वराळीमध्यमः पूर्वमाख्यातं खलु तद्यथा ।

वराळीमध्यमं त्रेधा विभज्याथ यथास्थितिम् ॥३५॥

वराळीमध्यमं पर्वं व्यपेक्ष्य तु तदन्तरे ।

पर्वद्वयनिवेशे स्याच्छ्रुतिद्वयमतिस्फुटम् ॥३६॥

श्रुतिरेका स्फुटा स्वस्मिन्मिलित्वा तेन पञ्चमे ।

चतस्रः श्रुतयः स्पष्टा धैवतस्त्रिश्रुतिर्यथा ॥३७॥

विभज्य त्रिविधं शुद्धधैवतक्षेत्रमप्यथ ।

इगोचरीभवच्छुद्धधैवतद्योति पर्वं तत् ॥३८॥

हित्वा पर्वद्वयन्यासे श्रुतित्रयमतिस्फुटम् ।

क्षेत्रं शुद्धनिषादस्य विभज्य द्विविधं तथा ॥३९॥

दृष्टं शुद्धनिषादस्य पर्वं हित्वा तदन्तरे ।

यद्येकं पर्वं तर्हि स्याच्छ्रुतिद्वयमतिस्फुटम् ॥४०॥

चतस्रः श्रुतयः षड्जे प्रागुक्ताः खलु तद्यथा ।

कैशिक्याख्यनिषादे हि तस्यैका दृश्यते श्रुतिः ॥४१॥

काकल्याख्यनिषादं तु द्वेधाकृत्य तदन्तरे ।

जायते पर्वविन्यासे स्पष्टं तस्य श्रुतिद्वयम् ॥४२॥

स्वस्यैका श्रुतिराहृत्य षड्जे श्रुति चतुष्टयम् ।

इत्येवं मध्यमेलयां..... ॥४३॥

८० : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

वीणादण्ड पर चतुर्दण्डप्रकाशिका के शुद्ध-विकृत स्वरों का निदर्शन

शुद्ध षड्ज तन्त्री पर

आधुनिक हिन्दुस्थानी स्वर		शुद्ध स्वर	विकृत स्वर
शुद्ध षड्ज	४	शुद्ध षड्ज	
	५		
	६		
कोमल रि	७	शुद्ध ऋषभ	
	८		
शुद्ध रि	९	शुद्ध गान्धार	पञ्चश्रुति रि
कोमल ग	१०		साधारण ग; षड्श्रुति रि
	११		
शुद्ध ग	१२		अन्तर ग
शुद्ध म	१३	शुद्ध मध्यम	
	१४		
	१५		
तीव्र म	१६		वराळी म
शुद्ध प	१७	शुद्ध पञ्चम	
	१८		
	१९		
कोमल ध	२०	शुद्ध धैवत	
	२१		
शुद्ध ध	२२	शुद्ध निषाद	पञ्चश्रुति ध
कोमल नि	१		कैशिक नि; षट्श्रुति ध
	२		
शुद्ध नि	३		काकली नि
शुद्ध षड्ज	४	शुद्ध षड्ज	
		७	५

सङ्गीतसारामृत में स्वरवीणा का निदर्शन

अत्र श्रुतिप्रकरणे श्रुतिवीणोदिता मया ।

रत्नाकारानुसारेण स्वरवीणोच्यतेऽधुना ॥२४५॥

अपने ग्रन्थ के श्रुतिप्रकरण में मैंने श्रुतिवीणा का वर्णन किया है । अब मैं सङ्गीतरत्नाकर के अनुसार स्वरवीणा का वर्णन करता हूँ ।

स्वरैर्या वाद्यते वीणा स्वरवीणेति गीयते ।

जो वीणा स्वरों से बजायी जाती है, यानी जिस पर स्वर बजाये जाते हैं उसे स्वरवीणा कहते हैं ।

स्वराः षड्जादयः शुद्धाः सप्तैव परिकीर्तिताः ॥२४६॥

विकृताः पञ्च मिलिता द्वादश प्रतिपादिताः ।

विभान्ति यत्र सा वीणा स्वरवीणेति निश्चयः ॥२४७॥

षड्जादि सप्त शुद्ध और पाँच विकृत मिला कर कुल बारह स्वर जिस वीणा पर व्यक्त होते हैं, वही स्वरवीणा है ।

अथास्यां पर्वसंवेष्टं वक्ष्ये वैणिकसम्मतम् ।

सारण्या मध्यषड्जाख्यतन्त्र्या शुद्धर्षभो यथा ॥२४८॥

स्यात्तथा सारिका स्थाप्या प्रथमाऽथ द्वितीयका ।

तत्तन्त्र्या शुद्धगान्धारसिध्यं स्थाप्या च सारिका ॥२४९॥

तृतीया सारिका स्थाप्या तथा तन्त्र्या यथा स्फुटः ।

स्यात् साधारणगान्धारः स्थाप्या सारी चतुर्थिका ॥२५०॥

अन्तराख्यानगान्धारस्तथा तन्त्र्या यथा भवेत् ।

शुद्धमध्यमसिध्यर्थं पञ्चमीं सारिकां ततः ॥२५१॥

निवेश्यैव तथा तन्त्र्या षष्ठी स्थाप्याऽथ सारिका ।

यथा व्यक्तस्तथा तन्त्र्या वराढीमध्यमस्तथा ॥२५२॥

मध्यस्थानस्वरा ह्येते जाताः स्युः षट्सु पर्वसु ।

इस वीणा पर मैं वीणावादकों द्वारा सम्मत पर्वों की स्थापना-विधि का वर्णन करता हूँ । वीणादण्ड पर प्रथम सारी (यानी पर्व या परदा) उस स्थान पर स्थापित किया जाय जहाँ मध्यषड्ज तन्त्री पर शुद्ध ऋषभ प्राप्त हो सके । उसी तन्त्री से शुद्ध गान्धार प्राप्त हो सके ऐसे स्थान पर द्वितीय सारी लगायी जाय । तृतीय सारी इस प्रकार निवेशित की जाय कि इस तन्त्री से

८२ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

उस पर साधारण गान्धार मिले। चतुर्थ सारी की स्थापना इस प्रकार की जाय कि मध्य-षड्ज तन्त्री से उस पर अन्तर गान्धार प्राप्त हो। पञ्चम सारी का निवेश शुद्ध मध्यम की प्राप्ति के लिए किया जाना चाहिए। बराळीमध्यम जहाँ पर प्राप्त हो वहाँ षष्ठ सारी लगायी जाय। मध्यस्थान के इतने स्वर इन छह पवों से उत्पन्न होते हैं।

मन्द्रपञ्चमशोभिण्या तन्त्र्या चाथ तृतीयया ॥२५३॥

शुद्धश्च धैवतः शुद्धनिषादश्च ततः परम् ।

कैशिक्याख्यनिषादश्च काकल्याख्यनिषादकः ॥२५४॥

षड्जः शुद्धर्षभश्चेति षट्स्वराः षट्सु पर्वसु ॥२५५॥

स्वर-वीणा की तृतीय तन्त्री से, जो मन्द्र पञ्चम की है, इन्हीं छह पवों पर क्रमशः शुद्ध धैवत, शुद्ध निषाद, कैशिकी निषाद, काकली निषाद, शुद्ध षड्ज तथा शुद्ध ऋषभ से छह स्वर उत्पन्न होते हैं।

स्वराः स्युः श्रुतिनिष्पन्नाः श्रुतिन्यूनाधिकत्वतः ।

एते बहुविधाः शुद्धा विकृता व्यावहारिकाः ॥२५६॥

इति त्रिधा निगद्यन्ते तान् ब्रूमोऽत्र विशेषतः ।

स्वर श्रुतियों से निष्पन्न होते हैं। श्रुतियों की न्यूनता और अधिकता के कारण शुद्ध, विकृत और व्यावहारिक नामक तीन प्रकारों के बहुत से स्वर बताये जाते हैं। इन्हें हम विशेष रूप से बता रहे हैं।

षड्जाद्याः शुद्धशब्दाद्याः स्वराः शुद्धा इतीरिताः ॥२५७॥

शुद्धषड्जस्तथा शुद्धर्षभ इत्यादिनामभिः ।

षड्ज आदि स्वर-संज्ञाओं के आरम्भ में 'शुद्ध' शब्द लगा कर उन्हें शुद्ध षड्ज, शुद्ध ऋषभ इत्यादि शुद्धस्वर कहा जाता है।

अत्रैते व्यवहर्तव्या विकृतास्तत्तदाख्यया ॥२५८॥

ताभिस्तेऽत्र निरूप्यन्ते क्रमशो विकृताः स्वराः ।

साधारणाख्यगान्धारोऽन्तरगान्धार एव च ॥२५९॥

पञ्चमोपान्त्यश्रुतौ विकृतपञ्चममध्यमः ।

कैशिक्याख्यनिषादश्च काकल्याख्यनिषादकः ॥

पञ्चैते विकृताः शुद्धैः स्वरैर्द्वादश कीर्तिताः ॥२६०॥

स्वराध्याय : ८३

विकृत नाम से इन्हीं स्वरों का व्यवहार किया जाता है। उन विकृत स्वरों का निरूपण हम क्रमानुसार करते हैं। साधारण, अन्तर गान्धार, पञ्चम की उपान्त्य श्रुति पर स्थित विकृतपञ्चममध्यम, कैशिकी निषाद तथा काकली निषाद—ये पाँच विकृत स्वर हैं। सप्त शुद्ध स्वरों सहित कुल बारह स्वर हैं।

सङ्गीतसारासूत्र के अनुसार स्वरवीणा पर पर्वों की
स्थापना का निदर्शन

	पञ्चम तन्त्री	षड्ज तन्त्री	
१		१	प्रथम सारी
२		२	द्वितीय सारी
३		३	तृतीय सारी
४		४	चतुर्थ सारी
५		५	पञ्चम सारी
६		६	षष्ठ सारी

स्पष्टीकरण

षड्ज तन्त्री पर ६ सारियों पर प्राप्त स्वर क्रमशः इस प्रकार हैं :—

१. शुद्ध ऋषभ, २. शुद्ध गान्धार, ३. साधारण गान्धार;
४. अन्तर गान्धार, ५. शुद्ध मध्यम, ६. वरालीमध्यम

मन्द्र पञ्चम तन्त्री पर ६ सारियों पर प्राप्त स्वर क्रमशः इस प्रकार हैं :—

१. शुद्ध धैवत, २. शुद्ध निषाद ३. कैशिक निषाद;
४. काकली निषाद, ५. शुद्ध षड्ज, ६. शुद्ध ऋषभ

८४ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

उपर्युक्त स्वरों में कुछ स्वरों की व्यवहारप्रसिद्ध अन्य संज्ञाएँ

विहाय स्वस्वसंज्ञा ये स्वरा अन्योन्यसंज्ञकाः ।

तेषां नामान्तराण्यत्र विहितानीह तद्यथा ॥२६१॥

अपनी अपनी संज्ञाओं को छोड़ कर जो स्वर अन्य स्वरों की संज्ञाएँ ग्रहण करते हैं, उनकी वे अन्य संज्ञाएँ इस प्रकार हैं :—

शुद्धगान्धार एवायं पञ्चश्रुत्युषभाह्वयः ।

‘पञ्चश्रुति ऋषभ’ नामक स्वर शुद्ध गान्धार ही है ।

साधारणाख्यगान्धारः षट्श्रुत्युषभसंज्ञकः ॥२६२॥

साधारण गान्धार ही ‘षट्श्रुति ऋषभ’ है ।

तथा शुद्धनिषादोऽपि स्यात्पञ्चश्रुतिधैवतः ।

इसी तरह से शुद्ध निषाद ‘पञ्चश्रुति धैवत’ भी कहा जाता है ।

स्यात्कैशिकनिषादोऽपि तथा षट्श्रुतिधैवतः ॥

कैशिक निषाद ‘षट्श्रुति धैवत’ भी कहलाता है ।

लक्ष्यानुसारतस्त्वंतल्लौकिकं सुखबोधकम् ॥२६३॥

वर्तमान सङ्गीत प्रचार के अनुसार ये स्वर-नाम सरल हैं ।

लोचनकृत रागतरङ्गिणी में निरूपित विकृत स्वर

स्वस्वशेषश्रुतिं त्यक्त्वा यदा रिषभधैवतौ ।

गीयते गुणिभिः सर्वैस्तदा तौ कोमलौ मतौ ॥२६४॥

जब ऋषभ और धैवत अपनी अपनी अन्तिम श्रुति को छोड़ देते हैं तब गुणीजन उन्हें ‘कोमल’ मानते हैं ।

टीका—यहाँ अमिप्राय यह है कि रे-ध जब अपनी उपान्त्य श्रुति पर होते हैं, तब कोमल कहलाते हैं ।

गृह्णाति मध्यमस्यापि गान्धारः प्रथमां श्रुतिम् ।

यदा तदा जनरेष तीव्र इत्यभिधीयते ॥२६५॥

द्वितीयामपि चेदेवं तदा तीव्रतरः स्मृतः ।

तृतीयामपि चेदेवं तदा तीव्रतमः स्मृतः ॥२६६॥

चतुर्थामपि चेदेवमतितीव्रतमः स्मृतः ।

वीणादण्ड पर सङ्गीतसारामृत के शुद्ध-विकृत स्वरों का निदर्शन

शुद्ध षड्ज तन्त्री पर

प्रचलित उ. भा. स्वर	शुद्ध स्वर	विकृत स्वर
शुद्ध षड्ज	 शुद्ध षड्ज	
कोमल ऋषभ	 शुद्ध ऋषभ	
शुद्ध ऋषभ	 शुद्ध गान्धार	पञ्चश्रुति ऋषभ
कोमल गान्धार		साधारण गान्धार; षट्श्रुति ऋषभ
शुद्ध गान्धार		अन्तर गान्धार
शुद्ध मध्यम	 शुद्ध मध्यम	
तीव्र मध्यम		विकृत पञ्चम
शुद्ध पञ्चम	 शुद्ध पञ्चम	
कोमल धैवत	 शुद्ध धैवत	
शुद्ध धैवत	 शुद्ध निषाद	पञ्चश्रुति धैवत
कोमल निषाद		कैशिक निषाद; षट्श्रुति धैवत
शुद्ध निषाद		काकली निषाद
शुद्ध षड्ज	 शुद्ध षड्ज	

गान्धार जब मध्यम की प्रथम श्रुति को ग्रहण कर लेता है, तब उसे 'तीव्र' कहते हैं। जब वह मध्यम की दूसरी श्रुति को भी ले लेता है, तब 'तीव्रतर' कहा जाता है। जब वह तीसरी श्रुति को भी ग्रहण कर लेता है तब 'तीव्रतम' कहा जाता है, और चौथी श्रुति को भी ग्रहण कर लेने पर 'अतितीव्रतम' कहलाता है।

८६ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

टीका—गान्धार अपनी श्रुति से आगे मध्यम की चारों श्रुतियों पर विकृत होता हुआ क्रमशः तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम और अतितीव्रतम गान्धार कहलाता है।

अतितीव्रतमो गस्तु सारङ्गे परिगीयते ॥२६७॥

सारङ्ग राग में अतितीव्रतम गान्धार गाया जाता है।

‘षड्जस्य च निषादश्चेद् गृह्णाति प्रथमां श्रुतिम्।

तदा सङ्गीतिभिः सोऽपि तीव्र इत्यभिधीयते ॥२६८॥

द्वितीयामपि चेदेवं तदा तीव्रतरः स्मृतः।

तृतीयामपि चेदेवं तदा तीव्रतमः स्मृतः ॥२६९॥

षड्ज की प्रथम श्रुति को जब निषाद ले लेता है, तब उसे भी संगीतज्ञ ‘तीव्र’ कहते हैं। जब वह दूसरी श्रुति को भी ले लेता है, तब ‘तीव्रतर’ कहा जाता है। तथा, जब वह तीसरी श्रुति को भी ग्रहण कर लेता है, तब ‘तीव्रतम’ कहलाता है।

षड्जस्य द्वे श्रुती गृह्णन् निषादः काकली स्मृतः।

तीव्रतरे निषादेऽसावेव गेयो विचक्षणैः ॥२७०॥

षड्ज की दो श्रुतियाँ ग्रहण करने वाला निषाद काकली कहा जाता है। यह तीव्रतर निषाद ही है।

सङ्गीतकौतुके ग्रन्थे हृदयेशेन धीमता।

तरङ्गिण्यनुवादः स्यात् कृतः स्वस्वरनिर्णये ॥२७१॥

राजा हृदयनारायण देव ने अपने ग्रन्थ ‘सङ्गीत कौतुक’ (जो ‘हृदय कौतुक’ नाम से अधिक प्रसिद्ध है) में स्वर-निर्णय में रागतरङ्गिणी का अनुवाद मात्र किया है।

हृदयाद्यप्रकाशाख्ये ग्रन्थे तेन पुनः क्वचित्।

पारिजातप्रबन्धोक्ता प्रणाली स्यात् समादृता ॥२७२॥

पुनः अपने ‘हृदयप्रकाश’ नामक ग्रन्थ में उन्होंने सम्भवतः ‘सङ्गीत पारिजात’ की स्वर-प्रणाली को ग्रहण किया है।

टीका—हृदयनारायणदेव के उपर्युक्त दो ग्रन्थों में वर्णित स्वर-स्थानों में भिन्नता दिखायी देती है। एक ओर तो वे हृदयकौतुक में लोचन पण्डित का अनुसरण करते हैं, तो दूसरी ओर ‘हृदयप्रकाश’ के शुद्ध विकृत स्वर

पण्डित अहोबल के 'सङ्गीतपारिजात' के अनुसार प्रतीत होते हैं। अहोबल, लोचन एवं हृदयनारायणदेव इन तीन मध्यकालीन उत्तर भारतीय ग्रन्थकारों के कालनिर्णय के विषय में काफी मतभेद हैं। फिर भी, अहोबल अन्य दोनों के पूर्ववर्ती हैं तथा लोचन और हृदय लगभग समकालीन है, ऐसी मान्यता अधिकांश विद्वानों की है।

हृदयप्रकाश में स्वरनिर्णय

स्वराश्च षड्जऋषभौ गान्धारो मध्यमस्तथा ।

पञ्चमो धैवतश्चैव निषाद इति सप्त ते ॥२७३॥

स्वर सात हैं—षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद।

स्वराणां व्यवहारोऽत्र प्राग्वदाद्याक्षरं; कृतः ।

पूर्व प्रचार की भाँति ही आज भी व्यवहार में इन स्वरों का उपयोग उनके प्रथम अक्षरों के द्वारा किया जाता है।

द्विश्रुतिगो निषादश्च प्रत्येकं त्रिश्रुती रिधौ ॥२७४॥

चतुःश्रुतिसमायुक्ताः पूर्ववत्समपाः स्मृताः ।

पूर्वाचार्यों के अनुसार आज भी गान्धार और निषाद द्विश्रुतिक; ऋषभ और धैवत त्रिश्रुतिक और षड्ज, मध्यम और पञ्चम चतुःश्रुतिक माने जाते हैं।

स्वान्त्यश्रुतिस्थिताः शुद्धाः स्युरन्ये विकृताः स्वराः ॥२७५॥

अपनी अन्तिम श्रुति पर स्थित स्वरों को शुद्ध कहते हैं। अन्य श्रुतियों पर स्थित होने पर वे विकृत कहलाते हैं।

श्रुतिमाद्यादितुर्यान्ताः स्वरा ये चोर्ध्ववर्तिनः ।

तीव्रस्तीव्रतरस्तीव्रतमा भवन्ति हि क्रमात् ॥२७६॥

अपनी प्रथम श्रुति से आगे (ऊपर की ओर) चौथी श्रुति तक जाने पर स्वर क्रमशः तीव्र, तीव्रतर और तीव्रतम होते हैं।

'स्वोपान्त्यश्रुतिवर्ती तु कोमलः परिकीर्तितः ।

अपनी उपान्त्य श्रुति पर स्थित स्वर को कोमल कहा जाता है।

निस्तीव्रतरसंज्ञस्तु काकलीत्यपि कथ्यते ॥२७७॥

८८ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

तीव्रतर निषाद को काकली निषाद भी कहते हैं ।

सपयोर्यदि गृह्णीतस्तिन्नस्तिन्नः श्रुतीनिमौ ।

मृदुसो मृदुपश्चेति तदाख्ये सपयोर्मते ॥२७८॥

निषाद और मध्यम यदि षड्ज और पञ्चम की ३-३ श्रुतियाँ ले लेते हैं, तो उन्हें षड्ज और पञ्चम के भेद मान कर मृदु सा और मृदु प कहते हैं ।

वीणा पर शुद्ध-विकृत स्वरों के स्थानों का निरूपण

ध्वन्यवच्छिन्नवीणायां मध्ये तारकसंस्थितिः ।

अवच्छिन्न ध्वनि वाली वीणा के (ठीक) मध्य के तार षड्ज की स्थिति होती है ।

अंशितस्याद्यभागान्ते मध्यमस्य च पञ्चमम् [आनयेत्] ॥२७९॥

तीन (समान) भागों वाली वीणा के प्रथमभाग में अन्त में मध्यस्थान का पञ्चम होता है ।

टीका— वीणा के तीन सम भाग करने पर पहले भाग के अन्त में (यानी जहाँ से दूसरा भाग प्रारम्भ होता है, उस जगह) मध्यसप्तक का पञ्चम स्थित होता है ।

‘आनयेत्’ अगली पंक्ति में आया हुआ क्रियारूप है, जो इस पंक्ति से भी सम्बद्ध है ।

मध्यमं षड्जयोगं तु सपयोर्मध्यमानयेत् ।

मध्यम को दोनों षड्जों के बीच तथा गान्धार को षड्ज और पञ्चम के बीच माना जाता है ।

टीका—मेरु और तार सा के ठीक बीच म का स्थान है । मेरु और प के ठीक बीच ग का स्थान है ।

अंशितस्य तयोर्मध्यस्याद्यांशान्ते तथार्धभम् ॥२८०॥

उनके (अर्थात् सा और प के) मध्यवर्ती क्षेत्र के तीन (सम) भाग किये जाने पर पहले भाग के अन्त में ऋषभ स्थापित किया जाता है ।

तथैव धैवतं मध्ये सपयोः स्थापयेद् बुधः ।

इसी प्रकार सा (अर्थात् तार सा) और प के मध्य में विद्वान धैवत की स्थापना करते हैं ।

स्वराध्याय : ८९

तत्र भागद्वयं त्यक्त्वा निषादाख्यं स्वरं नयेत् ॥२८१॥

इति शुद्धस्वराः ।

तार सा और प के तीन भाग कर के दो भागों को छोड़ कर (यानी अन्तिम भाग जहाँ से प्रारम्भ होता है वहाँ) निषाद स्वर स्थापित किया जाय इस प्रकार शुद्ध स्वरों का स्थान-निर्देश वीणा पर किया गया ।

विकृत स्वरों का स्थान-निर्देश

भागत्रयोदिते मध्ये मेरोः ऋषभसंज्ञितः ।

भागद्वयोत्तरं मेरोः कुर्यात् कोमलरिस्वरम् ॥२८२॥

मेरु से ऋषभ तक के क्षेत्र के तीन भाग करने पर मेरु से दो भाग आगे (यानी तीसरा भाग जहाँ प्रारम्भ होता है, वहाँ पर) कोमल ऋषभ रखा जाय ।

मेरुर्ध्वयोर्मध्ये तीव्रगान्धारमाचरेत् ।

मेरु और धैवत के मध्य में तीव्र गान्धार रखा जाय ।

भागत्रयविशिष्टेऽस्मिन्तीव्रगान्धारषड्जयोः ॥२८३॥

पूर्वभागोत्तरं मध्ये मं तीव्रतरमाचरेत् ।

इस तीव्र गान्धार और षड्ज (अर्थात् तार षड्ज) के बीच के क्षेत्र के तीन भाग कर, पहले भाग के पश्चात् मध्य भाग पर तीव्रतर मध्यम होता है ।

'भागत्रयान्विते मध्ये पञ्चमोत्तरषड्जयोः ॥२८४॥

कोमलो धैवतः स्थाप्यः पूर्वभागे विवेकिभिः ।

पञ्चम और तार षड्ज के बीच के क्षेत्र के तीन भाग कर पहले भाग पर (अर्थात् जहाँ पहला भाग समाप्त होता है वहाँ पर) विद्वान् कोमल धैवत की स्थापना करें ।

तथैव धसयोर्मध्ये भागत्रयसमन्विते ।

पूर्वभागद्वयादूर्ध्वं निषादं तीव्रमाचरेत् ॥२८५॥

इति विकृताः ।

इसी प्रकार, धैवत और षड्ज (यानी, तार षड्ज) के मध्यवर्ती क्षेत्र के तीन भाग करने पर पहले दो भागों के आगे (अर्थात् जहाँ से तीसरा भाग प्रारम्भ होता है वहाँ पर) तीव्र निषाद होता है ।

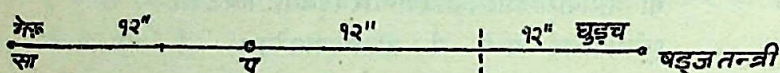
१० : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

हृदयप्रकाश में वर्णित वीणा पर स्थान-निर्देश विधि-पर अनुवादक की टिप्पणी

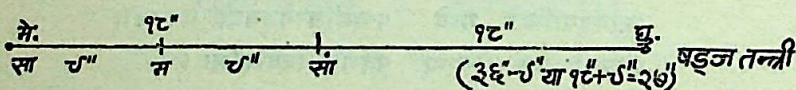
अहोबल, हृदय आदि कुछ ग्रन्थकारों ने स्वरों के स्थानों का श्रुतियों पर निर्देश करने के साथ ही अपने स्वर-स्थानों को वीणा पर भी स्पष्ट किया है। यह एक अधिक सुबोध और वैज्ञानिक विधि है। इस विधि के द्वारा हम आज भी उन ग्रन्थकारों के स्वरों को प्रत्यक्षतः प्राप्त कर सकते हैं।

हृदयनारायण देव द्वारा वर्णित विधि अपने आपमें काफी सरल और स्पष्ट है। यदि हम वीणा के तार की लम्बाई ३६" मान लें, तो हृदयोक्त स्वर इन लम्बाइयों पर प्राप्त होंगे :—

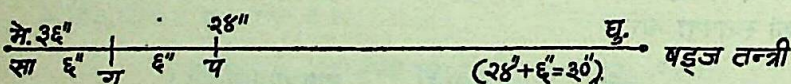
- (१) षड्ज—पूरे तार की लम्बाई पर—अर्थात् ३६" पर (क्योंकि सभी स्वर-स्थान षड्ज तन्त्री पर बताये जा रहे हैं)।
- (२) तार षड्ज—ठीक मध्यम में—अर्थात् १८" पर।
- (३) पञ्चम—वीणा की लम्बाई के (अर्थात् पूरे तार की लम्बाई के) तीन भाग करने पर पहले भाग के अन्त में—अर्थात् २४" पर।



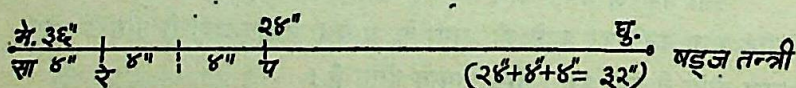
- (४) मध्यम—दोनों षड्जों के बीच—अर्थात् २७" पर।



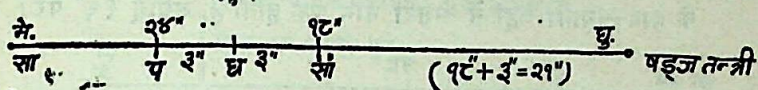
- (५) गान्धार—षड्ज और पञ्चम के मध्य में—अर्थात् ३०" पर।



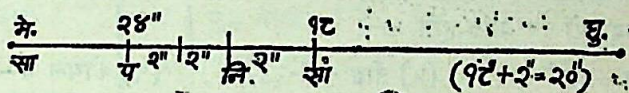
- (६) ऋषभ—षड्ज और पञ्चम के मध्य के क्षेत्र के तीन भाग करने पर पहले भाग के अन्त में—अर्थात् ३२" पर।



- (७) धैवत—तार षड्ज और पञ्चम के बीच—अर्थात् २१" पर।

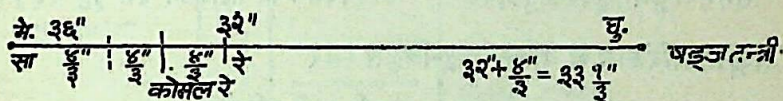


- (८) निषाद—तार षड्ज और पञ्चम के ३ भाग कर पहले दो भागों को छोड़ कर—अर्थात् २०" पर।

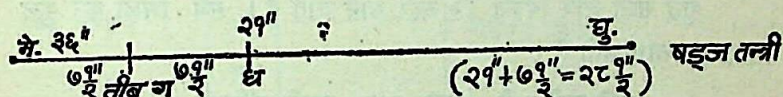


विकृत स्वर

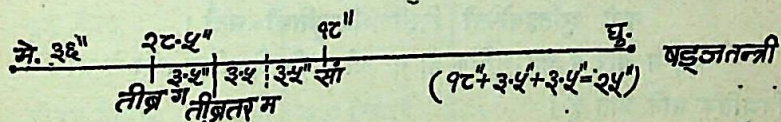
- (१) कोमल ऋषभ—मेरु और शुद्ध ऋषभ के क्षेत्र के तीन भाग करने पर मेरु से दो भाग के बाद—अर्थात् ३३ $\frac{१}{३}$ " पर।



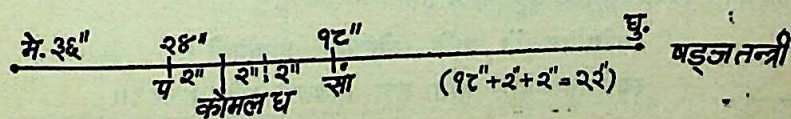
- (२) तीव्र गान्धार—मेरु और धैवत के बीच—अर्थात् २८ $\frac{१}{३}$ " पर।



- (३) तीव्रतर मध्यम—तीव्र गान्धार और तार-षड्ज के क्षेत्र के समन्त्रिभाग करने पर पहले भाग के अन्त में—अर्थात् २५" पर।

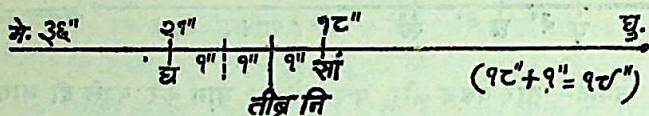


- (४) कोमल धैवत—पञ्चम और तार षड्ज के समन्त्रिभाग करने पर पहले भाग के अन्त में—अर्थात् २२" पर।



९२ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

(५) तीव्र निषाद—धैवत और तार षड्ज के तीन भाग करने पर दूसरे भाग के बाद—यानी जहाँ से तीसरा भाग शुरू होता है, अर्थात् १९" पर।



इस प्रकार हृदयोक्त १२ स्वर सप्तक के क्रम में ३६" षड्ज तन्त्री पर इन लम्बाइयों पर प्राप्त होंगे :—

- | | | |
|--------------------------------|--------------------------------|-------------------|
| (१) सा—३६" | (५) तीव्र ग—२८ $\frac{३}{४}$ " | (९) कोमल घ—२२" |
| (२) कोमल रे—३३ $\frac{३}{४}$ " | (६) शुद्ध म—२७" | (१०) शुद्ध घ—२१" |
| (३) शुद्ध रे—३२" | (७) तीव्रतर म—२५" | (११) शुद्ध नि—२०" |
| (४) शुद्ध ग—३०" | (८) प—२४" | (१२) तीव्र नि—१९" |
| | | (१३) तार सा—१८" |

राग तरङ्गिणी, हृदयकोतुक, "....." पर निदर्शन का तालिका देखे पृष्ठ ९३)

सङ्गीतपारिजात में वर्णित शुद्ध-विकृत स्वर

शुद्धाः सप्त विकाराख्या द्व्यधिका विंशतिर्मताः ।

एकोनविंशदुच्यन्ते ते सर्वे मिलिताः स्वराः ॥२८६॥

शुद्ध सात और विकृत २२ स्वर माने जाते हैं। सब मिला कर कुल २९ स्वर बताए जाते हैं।

सरी गमौ पधौ निश्च स्वरा इत्यपि संज्ञिताः ।

स्वरों की संज्ञाएँ सा, रे, ग, म, प, घ और नि भी हैं।

चतुःश्रुतिसमायुक्ताः स्वराः स्युः समपाभिधाः ॥२८७॥

गनी श्रुतिद्वयोपेतौ रिधौ त्रिश्रुतिकौ मतौ ।

सा, म और प चतुःश्रुतिक हैं; ग और नि द्विश्रुतिक तथा रे और घ त्रिश्रुतिक माने जाते हैं।

स्वरः स्वोत्तरगामी चेत्तीव्रादिवचनोदितः ॥२८८॥

अपने नियत स्थान से आगे की ओर अर्थात् आगामी श्रुतियों पर जाने पर स्वर को तीव्र आदि कहा जाता है।

स्वरोऽग्रिमश्रुतिं याति तीव्रसंज्ञां प्रयात्यसौ ।

स्वरोऽग्रिमश्रुती याति तदा तीव्रतरो भवेत् ॥२८९॥

**रागतरङ्गिणी, हृदयकौतुक, हृदयप्रकाश आदि ग्रन्थों के
स्वरों का वीणादण्ड पर निदर्शन**

शुद्धषड्ज तन्त्री पर

प्रचलित उ. भा. सं. के स्वर	शुद्ध स्वर		विकृत स्वर
शुद्ध षड्ज	४	शुद्ध षड्ज	
	५		
कोमल ऋषभ	६		कोमल ऋषभ
शुद्ध ऋषभ	७	शुद्ध ऋषभ	
	८		
कोमल गान्धार	९	शुद्ध गान्धार	
	१०		तीव्र गान्धार
शुद्ध गान्धार	११		तीव्रतर गान्धार
	१२		तीव्रतम गान्धार
	१३	शुद्ध मध्यम	अतितीव्रतम गान्धार
	१४		
तीव्र मध्यम	१५		तीव्रतर मध्यम
	१६		
शुद्ध पञ्चम	१७	शुद्ध पञ्चम	
	१८		
कोमल धैवत	१९		कोमल धैवत
शुद्ध धैवत	२०	शुद्ध धैवत	
	२१		
कोमल निषाद	२२	शुद्ध निषाद	
	१		तीव्र निषाद
शुद्ध निषाद	२		तीव्रतर निषाद, काकली निषाद
	३		तीव्रतम निषाद
शुद्ध षड्ज	४	शुद्ध षड्ज	

१४ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

स्वरोऽग्रिमश्रुतीर्याति तर्हि तीव्रतमः स्मृतः ।

चतस्रः श्रुतयो यस्मिन्नाधिकाः स्युर्यदा स्वरः ॥२९०॥

तदातितीव्रतमाख्यां प्राप्नोतीति बुधा जगुः ।

अपनी आगामी श्रुति पर जाने पर स्वर 'तीव्र' संज्ञा प्राप्त करता है । अपनी अगली दूसरी श्रुति पर जाने पर स्वर 'तीव्रतर' हो जाता है । अगली तीसरी श्रुति पर जाता है, तब स्वर 'तीव्रतम' कहा जाता है । जब किसी स्वर की चार श्रुतियाँ अधिक हो जाती हैं, तब विद्वानों के अनुसार वह 'अति-तीव्रतम' संज्ञा प्राप्त करता है ।

टीका—पहली से चौथी श्रुति तक आगे जाते हुए विकृत होने वाले स्वरों को क्रमशः तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम और अतितीव्रतम कहा जाता है ।

स्वरः पश्चान्निवृत्तश्चेत् कोमलादिभिरीरितः ॥२९१॥

अपने स्थान से पूर्व अर्थात् पहले या पूर्ववर्ती श्रुतियों पर जाने वाले स्वर को कोमल आदि कहा जाता है ।

एकश्रुतिपरित्यागात् स्वरः कोमलसंज्ञकः ।

श्रुतिद्वयपरित्यागात् पूर्वशब्देन मन्यते ॥२९२॥

एक श्रुति छोड़ देने पर, अर्थात् अपनी नियत श्रुतियों में से अन्तिम को छोड़ देने पर स्वर को 'कोमल' कहा जाता है । दो श्रुतियाँ छोड़ देने पर स्वर 'पूर्व' कहा जाता है ।

टीका—अपनी नियत श्रुति से पहले की दो श्रुतियों पर विकृत होने वाले स्वर को क्रमशः 'कोमल' और 'पूर्व' कहते हैं ।

तथाहि रागलक्षणनिरूपणे ।

इसी प्रकार रागलक्षणों के निरूपण में—

पूर्वकोमलतीव्रश्च तथा तीव्रतरेण च ।

अतितीव्रतमेनैव सर्वे रागा उदीरिताः ॥२९३॥

समस्त रागों का वर्णन पूर्व, कोमल, तीव्र, तीव्रतर और अतितीव्रतम इन संज्ञाओं से युक्त स्वरों के द्वारा किया जाता है ।

रि च पूर्वं तथा तीव्रं तीव्रतरं च गस्वरम् ।

तीव्रतमं तथा गं च मं च तीव्रं स्वरं तथा ॥२९४॥

म च तीव्रतमं धं च पूर्वाख्यं तीव्रसंज्ञितम् ।

तीव्रतरं निषादं च तीव्रतमं च निस्वरम् ॥

इत्येतांश्च दश त्यक्त्वा रागलक्षणमीरितम् ॥२९५॥

रागों के लक्षण इन १० स्वरों को छोड़कर बताये जाते हैं :—
पूर्व रे, तीव्र रे, तीव्रतर ग, तीव्रतम ग, तीव्र म; तीव्रतम म, पूर्व घ, तीव्र घ,
तीव्रतर नि और तीव्रतम नि ।

टीका—पण्डित अहोबल ने बाईसों श्रुतियों को स्वरस्व प्रदान करने के लिए पूर्वादि तथा तीव्रतीव्रतरादि संज्ञाएँ निर्मित की हैं, किन्तु वे सभी स्वर तत्कालीन रागों में प्रयुक्त नहीं होते थे । उपर्युक्त १० स्वरों का उल्लेख तत्कालीन राग-विवरणों में नहीं किया जाता था ।

(विस्तार के लिए आगे टिप्पणी देखिए ।)

पुनः

ऋषभः शुद्ध एवासौ पूर्वगान्धार इष्यते ।

गान्धारः शुद्ध एवासौ रिस्तीव्रतर इष्यते ॥२९६॥

अतितीव्रतमो गः स्यान्मध्यमः शुद्ध एव हि ।

धैवतः शुद्ध एवासौ निषादः पूर्वसंज्ञकः ॥२९७॥

निषादः शुद्ध एवासौ धस्तीव्रतर इष्यते ।

एवं स्यात् सर्वयन्त्रेषु स्वरस्थापनलक्षणम् ॥२९८॥

पुनः, “शुद्ध ऋषभ को ही पूर्वगान्धार कहा जाता है और शुद्ध गान्धार को ही तीव्रतर रे । अतितीव्रतम ग शुद्ध मध्यम ही है । शुद्ध धैवत ही पूर्वनिषाद है; एवं शुद्ध निषाद को ही तीव्रतर घ कहते हैं । सभी यन्त्रों, अर्थात् वाद्यों में स्वरों की स्थापना के ये ही लक्षण हैं ।”

टीका—अहोबलोक्त २९ स्वर-संज्ञाओं में से रागों में अप्रयुज्य १० स्वरों का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है । शेष १९ संज्ञाओं में से सम-स्थानिक संज्ञा-युग्मों का निर्देश यहाँ किया गया है । यहाँ पर बतायी गयी १० संज्ञाएँ केवल ५ स्थानों को सूचित करती हैं ।

(विस्तार के लिए आगे टिप्पणी देखिए ।)

बहवः स्युः स्वराः प्रोक्ताः अहोबलेन यद्यपि ।

द्वादशैव प्रयुक्तास्ते तेन रागादिलक्षणे ॥२९९॥

९६ : श्रीमल्लदयसङ्गीतम्

यद्यपि अहोबल ने बहुत से स्वरों का उल्लेख किया है किन्तु रागों के लक्षणों आदि में उन्होंने केवल १२ स्वरों का प्रयोग किया है।

वीणादण्ड पर स्वर-स्थापना-विधि

स्वरस्य हेतुसूताया वीणायाश्चाक्षुषत्वतः।

तत्र स्वरविबोधार्थं स्थानलक्षणमुच्यते ॥३००॥

स्वर की प्राप्ति के लिए प्रत्यक्ष साधन-स्वरूप वीणा पर स्वर-बोध के लिए स्वर-स्थानों के लक्षण हम बता रहे हैं।

टीका—स्वरों की प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त करने का साधन वीणा है। इस पर स्वर-स्थानों का निर्देश किया जा रहा है, ताकि उसके आधार पर स्वरों का प्रत्यक्ष बोध हो सके।

ध्वन्यवच्छिन्नवीणायां मध्ये तारकसः स्थितः।

अवच्छिन्न, यानी लगातार, स्पष्ट ध्वनि वाली वीणा के (ठीक) मध्य में तार षड्ज स्थित होता है।

टीका—यहाँ स्वर-स्थान षड्ज-तन्त्री पर बताये जा रहे हैं। मुक्त तन्त्री की ध्वनि को षड्ज मान लेने पर तन्त्री पर, ठीक बीच में, अर्थात् ३ लम्बाई पर तार षड्ज का स्थान होगा।

उभयोः षड्जयोर्मध्ये मध्यमं स्वरमाचरेत् ॥३०१॥

दोनों षड्जों के (ठीक) मध्य में मध्यम स्वर होता है।

टीका—मध्य षड्ज का स्थान वीणा के मेरु पर होता है। मेरु और तार षड्ज के ठीक बीच में मध्यम होगा। लम्बाई की दृष्टि से षड्ज-तन्त्री की ३ लम्बाई पर मध्यम प्राप्त होगा।

त्रिभागात्मकवीणायां पञ्चमः स्यात्तदग्रिमे।

वीणा की लम्बाई के तीन सम भाग करने पर पहले भाग पर, यानी पहला भाग जहाँ समाप्त होता है, वहाँ पर पञ्चम होता है।

टीका—मेरुदण्ड अथवा षड्ज तन्त्री के यदि तीन भाग किये जायें तो पहले भाग के अन्त में पञ्चम प्राप्त होगा। दूसरे शब्दों में, ३ लम्बाई पर पञ्चम होगा।

षड्जपञ्चमयोर्मध्ये गान्धारस्य स्थितिर्भवेत् ॥३०२॥

गान्धार की स्थिति षड्ज और पञ्चम के ठीक मध्य में होती है।

टीका—मेरु और पञ्चम के बीच गान्धार होगा। गान्धार का स्थान लम्बाई की दृष्टि से ६ लम्बाई पर आता है।

[त्रिभागात्मकवीणायां] सपथोः पूर्वभागे च स्थापनीयोऽयं रिस्वरः।

षड्ज और पञ्चम के मध्यवर्ती क्षेत्र के तीन सम भाग करने पर पहले भाग पर यानी पहला भाग जहाँ समाप्त होता है वहाँ पर ऋषभ स्वर स्थापित किया जाता है।

टीका—श्लोक ३०२ का 'त्रिभागात्मकवीणायां' यह अंश आगे की पक्ति में (श्लोक ३०३ पर) भी लेना होगा। मेरु और पञ्चम तक की लम्बाई के तीन भाग किये जायें, तो पहले भाग के अन्त में ऋषभ होगा। यह स्थान तार की ८/९ लम्बाई पर होता है।

‘सपथोर्मध्यदेशे तु धैवतं स्वरमाचरेत् ॥

तार षड्ज और पञ्चम के मध्यवर्ती क्षेत्र में धैवत स्वर होता है।

टीका—पण्डित अहोबल ने धैवत के स्थान-निर्देश में 'सपथोर्मध्यदेशे' कहा है। ध्यान देने योग्य है कि गान्धार की भाँति (षड्जपञ्चमयोर्मध्ये) या मध्यम की भाँति ('उभयोः षड्जयोर्मध्ये') धैवत के स्थान के लिए 'मध्ये' न कहकर 'मध्यदेशे' कहा गया है। अतः पञ्चम और तार षड्ज के ठीक मध्य में धैवत का स्थान न मान कर पञ्चम और तार षड्ज के मध्यवर्ती क्षेत्र में मानना होगा। ऋषभ के स्थान से षड्ज-पञ्चम भाव के अनुसार धैवत का स्थान पञ्चम और तार षड्ज के बीच के भाग में यथाविधि स्थापित किया जा सकता है।

(‘त्रिभागात्मकवीणायां’) तत्रांशद्वयसन्त्यागान्निषादस्य स्थितिर्भवेत् ॥३०३॥

पञ्चम और तार षड्ज के तीन सम भाग कर दो भाग छोड़ देने पर अर्थात् जहाँ से तीसरा भाग आरम्भ होता है, वहाँ पर निषाद का स्थान होता है।

इति शुद्धस्वराः ।

—०❀०—

विकृत स्वरों के स्थान-निर्देश

भागत्रयान्विते मध्ये मेरोः ऋषभसंज्ञितात् ।

भागद्वयोत्तरं मेरोः कुर्यात् कोमलरिस्वरम् ॥३०४॥

९८ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

मेरु से ऋषभ तक तीन सम भाग करने पर मेरु से दो भाग के बाद, अर्थात्, जहाँ से तीसरा भाग प्रारम्भ होता है, वहाँ पर कोमल ऋषभ होता है।

मेरुधैवतयोर्मध्ये तीव्रगान्धारमाचरेत् ।

मेरु और धैवत के मध्य में तीव्रगान्धार होता है ।

भागत्रयविशिष्टेऽस्मिन्स्तीव्रगान्धारषड्जयोः ॥३०५॥

पूर्वभागोत्तरं मध्ये मं तीव्रतरमाचरेत् ।

तीव्र गान्धार से तार षड्ज तक तीन सम भाग करने पर पहले भाग को छोड़ कर मध्यभाग पर तीव्रतर मध्यम होता है ।

भागत्रयान्विते मध्ये पञ्चमोत्तरषड्जयोः ॥३०६॥

कोमलो धैवतः स्थाप्यः पूर्वभागे मनीषिभिः ।

पञ्चम से तारषड्ज के तीन भाग कर पहले भाग पर, यानी पहले भाग के अन्त में कोमल धैवत की स्थापना विद्वान् करें ।

तथैव धसयोर्मध्ये भागत्रयसमन्विते ॥

पूर्वभागद्वयादूर्ध्वं निषादं तीव्रमाचरेत् ॥३०७॥

इसी प्रकार, धैवत और तार षड्ज तक तीन सम भाग करके पहले दो भागों के आगे, यानी जहाँ से तीसरा भाग प्रारम्भ होता है, वहाँ पर तीव्र निषाद होता है ।

इति पञ्चविहङ्गताः ।

—०६३०—

मध्ये पूर्वोत्तराबद्धवीणायां गात्र एव वा ।

षड्जपञ्चमभावेन श्रुतीर्द्वाविंशतिं जगुः ॥३०८॥

प्रारम्भ और अन्त में (नियत सारियों से) बँधी हुई वीणा के मध्यवर्ती क्षेत्र में षड्ज पञ्चम भाव से २२ श्रुतियाँ बतायी गयी हैं ।

रागतत्त्वविबोधे हि श्रीनिवासेन धीमता ।

अहोबलमतस्यैवानुवादः स्यात् समादृतः ॥३०९॥

पण्डित श्रीनिवास ने रागतत्त्वविबोध में अहोबल के मत का अनुवाद मात्र किया है ।

स्वराध्याय : ९९

सङ्गीतपारिजात के शुद्ध विकृत स्वरों का वीणादण्ड पर निदर्शन

शुद्ध मध्यम तन्त्री पर		
प्रचलित उ. भा. स्वर	शुद्ध स्वर	विकृत स्वर
शुद्ध मध्यम	शुद्ध मध्यम	अतितीव्रतम गान्धार
		तीव्र मध्यम
तीव्र मध्यम		तीव्रतर मध्यम
		तीव्रतम मध्यम
शुद्ध पञ्चम	शुद्ध पञ्चम	
		पूर्व धैवत
कोमल धैवत		कोमल धैवत
शुद्ध धैवत	शुद्ध धैवत	पूर्व निषाद
		कोमल निषाद, तीव्र धैवत
कोमल निषाद	शुद्ध निषाद	तीव्रतर धैवत
		तीव्र निषाद
तीव्र निषाद		तीव्रतर निषाद
		तीव्रतम निषाद
शुद्ध षड्ज	शुद्ध षड्ज	
		पूर्व ऋषभ
कोमल ऋषभ		कोमल ऋषभ
शुद्ध ऋषभ	शुद्ध ऋषभ	पूर्व गान्धार
		तीव्र ऋषभ, कोमल गान्धार
कोमल गान्धार	शुद्ध गान्धार	तीव्रतर ऋषभ
		तीव्र गान्धार
तीव्र गान्धार		तीव्रतर गान्धार
		तीव्रतम गान्धार
शुद्ध मध्यम	शुद्ध मध्यम	अतितीव्रतम गान्धार
	७	२२

१०० : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

अहोबल के स्वर-स्थानों पर अनुवादक की टिप्पणी

पण्डित अहोबल के 'सङ्गीतपारिजात' के यहाँ उद्धृत अंशों के आधार पर हम अहोबलोकत स्वर-स्थानों का विश्लेषणात्मक विवेचन इस प्रकार कर सकते हैं :—

- (१) अहोबल सम्भवतः यह बताना चाहते हैं कि समस्त श्रुतियाँ स्वरस्व प्राप्त कर सकती हैं। कोई भी स्वर विकृत होने पर अपनी पूर्ववर्ती और आगामी श्रुतियों पर जा सकता है। इसलिए, बाईसों श्रुतियों को स्वरस्व प्राप्त होने की सम्भावनाओं का प्रतिपादन अहोबल कोमलादि और तीव्रादि संज्ञाएँ कल्पित कर करते हैं।
- (२) कोई स्वर अपने नियत 'शुद्ध' स्थान अर्थात् अपनी अन्तिम श्रुति से पूर्व जब विकृत होता है, तब उसे अपनी उपान्त्य श्रुति पर 'कोमल' और उपान्त्यपूर्व श्रुति पर 'पूर्व' कहा जाता है। नियत 'शुद्ध' स्थिति से पहले स्वर-विकृतियाँ केवल २ ही सम्भव हैं, ऐसा अहोबलोकत स्वर-संज्ञाओं से ज्ञात होता है।
- (३) कोई स्वर जब अपने नियत 'शुद्ध' स्थान से आगे बढ़ कर विकृत होता है, तब आगामी ४ श्रुतियों पर उसे क्रमशः 'तीव्र', 'तीव्रतर', 'तीव्रतम' तथा 'अतितीव्रतम' कहा जाता है।
- (४) सप्तस्वरों में न्यूनतम द्विश्रुतिकत्व (ग और नि का) तथा अधिकतम चतुःश्रुतिकत्व (सा, म, प का) है। इसी लिए अहोबल ने स्वर की पूर्वनिवृत्त विकृतावस्थाएँ केवल २ और उत्तरनिवृत्त विकृतावस्थाएँ ४ बतायी हैं, ऐसा प्रतीत होता है।
- (५) किसी भी स्वर की पूर्वविकृतियाँ और उत्तरविकृतियाँ केवल पूर्व के और उत्तर के 'शुद्ध' स्थानों तक ही सीमित रहती हैं, उससे अधिक नहीं। दूसरे शब्दों में, कोई स्वर जब अपने स्थान से पहले की ओर विकृत होता है, तो केवल वहीं तक जा सकता है, जहाँ पर उसके पहले का शुद्ध स्वर है, उसके बाद और पीछे नहीं जा सकता। इसी प्रकार, आगे जाकर विकृत होने की क्रिया केवल अगले शुद्ध स्थान तक ही सम्भव है, उससे आगे नहीं; क्योंकि अगले शुद्ध स्थान के बाद की श्रुतियों पर वही अगला स्वर विकृत हो सकता है। इसे हम दो उदाहरणों से स्पष्ट कर रहे हैं :—(१) ९वीं श्रुति पर स्थित शुद्ध

स्वराध्याय : १०१

गान्धार पूर्वनिवृत्त अवस्थाओं में ८वीं श्रुति पर 'कोमल ग' और ७वीं पर 'पूर्व ग' कहा जायगा। ७वीं श्रुति शुद्ध रे का स्थान है। ७वीं, ६वीं और ५वीं ये तीन श्रुतियाँ रे की हैं। ऋषभ के श्रुति-क्षेत्र में गान्धार केवल शुद्ध रे तक ही पूर्वविकृतावस्था प्राप्त कर सकता है, उसके पहले इसलिए नहीं जा सकता कि वहाँ ऋषभ की पूर्वविकृतियाँ आयेंगी। (२) ९वीं श्रुति पर स्थित शुद्ध ग आगे ४ श्रुतियों पर जाकर विकृत हो सकता है, क्योंकि ९वीं से १३वीं श्रुतियों तक का क्षेत्र ग के आगामी शुद्ध स्वर म का है। १३वीं के बाद आगे १४वीं आदि श्रुतियों पर ग की विकृत अवस्थाएँ सम्भव नहीं, क्योंकि वह पञ्चम का श्रुति-क्षेत्र है, जिसमें म की विकृतियाँ आयेंगी। इसी तरह, रे अपने स्थान से केवल २ श्रुतियाँ आगे जाकर ८वीं श्रुति पर तीव्र और ९वीं पर तीव्रतर हो सकता है। तीव्रतम और अतितीव्रतम रे सम्भव नहीं, क्योंकि ९वीं श्रुति पर शुद्ध ग आ जाने के बाद १०वीं से १३वीं श्रुति तक म का क्षेत्र है, जिसमें ग की विकृतियाँ ही सम्भव हैं, रे की नहीं।

- (६) षड्ज और पञ्चम ये दोनों अचल स्वर हैं, जो विकृत नहीं होते। साथ ही, इन दो स्थानों (यानी ४थी श्रुति और १७वीं श्रुति) पर कोई विकृत स्वर नहीं हो सकता।
- (७) रे, ग, घ और नि अपने शुद्ध स्थानों के आगे और पीछे दोनों ओर विकृत होते हैं। म केवल आगे की ओर विकृत होता है, पीछे की ओर नहीं।
- (८) नि, ग और म को आगे की ओर विकृत होने के लिए क्रमशः सा, म, और प के चतुःश्रुतिक क्षेत्र प्राप्त होते हैं; किन्तु जैसा पहले बताया जा चुका है, सा और प की श्रुतियों पर विकृत स्वर नहीं हो सकता; इसलिए नि और म केवल ३-३ श्रुतियों तक आगे जा कर तीव्रतम तक विकृत हो सकते हैं। केवल ग अतितीव्रतम तक विकृत हो सकता है। रे और घ को आगे क्रमशः ग और नि के द्विश्रुतिक क्षेत्र मिलते हैं, इसलिए वे तीव्रतर अवस्था तक विकृत हो पाते हैं।
- (९) इस प्रकार पहले और आगे विकृत होने वाले कुल २२ स्वरों की कल्पना पण्डित अहोबल करते हैं। शुद्ध ७ स्वर मिला कर अहोबलोक्त स्वर कुल २९ होते हैं :—(१) शुद्ध षड्ज, (२) पूर्व रे, (३) कोमल रे,

१०२ : श्रीमल्लक्ष्यसंज्ञातम्

(४) शुद्ध रे, (५) तीव्र रे, (६) तीव्रतर रे, (७) पूर्वं ग, (८) कोमल ग, (९) शुद्ध ग, (१०) तीव्र ग, (११) तीव्रतर ग, (१२) तीव्रतम ग, (१३) अतितीव्रतम ग, (१४) शुद्ध म, (१५) तीव्र म, (१६) तीव्रतर म, (१७) तीव्रतम म, (१८) शुद्ध प, (१९) पूर्वं घ, (२०) कोमल घ, (२१) शुद्ध घ, (२२) तीव्र घ, (२३) तीव्रतर घ, (२४) पूर्वं नि, (२५) कोमल नि, (२६) शुद्ध नि, (२७) तीव्र नि, (२८) तीव्रतर नि, (२९) तीव्रतम नि ।

(१०) इन २९ स्वर-संज्ञाओं में से निम्नलिखित १० को पण्डित अहोबल ने राग-लक्षण-निर्देश में अप्रयुक्त माना है—

(१) पूर्वं रे, (२) तीव्र रे, (३) तीव्रतर ग, (४) तीव्रतम ग, (५) तीव्र म, (६) तीव्रतम म, (७) पूर्वं घ, (८) तीव्र घ, (९) तीव्रतर नि, (१०) तीव्रतम नि । अतः केवल १९ स्वर-संज्ञाओं का व्यवहार अहोबल के अनुसार तत्कालीन रागों में होता था ।

(११) रागों में प्रयुक्त इन १९ स्वर-संज्ञाओं में समस्थानिक युग्म और स्वतन्त्र इस प्रकार हैं :—

स्वतन्त्र स्थान	समस्थानिक युग्म
(१) शुद्ध षड्ज	(१) पूर्वं ग—शुद्ध रे
(२) कोमल रे	(२) शुद्ध ग—तीव्रतर रे
(३) कोमल ग	(३) शुद्ध म—अतितीव्रतम ग
(४) तीव्र ग	(४) शुद्ध घ—पूर्वं नि
(५) तीव्रतर म	(५) शुद्ध नि—तीव्रतर घ
(६) शुद्ध प	
(७) कोमल घ	
(८) कोमल नि	
(९) तीव्र नि	

उपरिलिखित ५ समस्थानिक युग्मों की १० संज्ञाएँ केवल ५ स्थानों को सूचित करती हैं । इस प्रकार स्वतन्त्र ९+समस्थानिक युग्म ५, कुल १४ स्वर-स्थानों का उपयोग पण्डित अहोबल ने मान्य किया है, ऐसा कहा जा सकता है ।

स्वराध्याय : १०३

(१२) किन्तु वीणा पर स्वर-स्थान निर्देश के समय अहोवाल ने ७ शुद्ध और ५ विकृत स्वरों का ही उल्लेख किया है। ये ५ विकृत स्वर हैं—
कोमल रे, तीव्र ग, तीव्रतर म, कोमल ध, तीव्र नि। कोमल ग और कोमल नि का निर्देश वहाँ नहीं मिलता।

संगीतपारिजात में वर्णित स्वरों की पूर्व और पश्चात् विकृतियाँ

पूर्वविकृतस्वर	शुद्ध षड्ज	पश्चाद्विकृतस्वर
	३	तीव्रतम नि
	२	तीव्रतर नि
	१	तीव्र नि
	शुद्धनिषाद	तीव्रतर ध
कोमल नि	२१	तीव्र ध
पूर्व नि	शुद्ध धैवत	
कोमल ध	१६	
पूर्व ध	१८	
	शुद्ध पंचम	
	१६	तीव्रतम म
	१५	तीव्रतर म
	१४	तीव्र म
	शुद्ध मध्यम	अतितीव्रतम ग
	१२	तीव्रतम ग
	११	तीव्रतर ग
	१०	तीव्र ग
	शुद्ध गान्धार	तीव्रतर रे
कोमल ग	८	तीव्र रे
पूर्व ग	शुद्ध ऋषभ	
कोमल रे	६	
पूर्व रे	५	
	शुद्ध षड्ज	
	३	
	२	
	१	
८	७	१४

१०४ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

(१३) अहोबल के स्वरों में से शुद्ध षड्ज, कोमल ऋषभ, शुद्ध ऋषभ, शुद्ध मध्यम, शुद्ध पञ्चम, कोमल धैवत और शुद्ध धैवत वर्तमान उत्तरभारतीय संगीत के भी वे ही स्वर हैं। अहोबल के शुद्ध गान्धारनिषाद हमारे कोमल गान्धार-निषाद हैं। अहोबल के तीव्रतर गान्धार, मध्यम और निषाद हमारे तीव्र गान्धार, मध्यम और निषाद हैं।

पुण्डरीक विट्ठलकृत सद्गायचन्द्रोदय के शुद्ध-विकृत स्वर

स्वराः श्रुतिभ्यः प्रभवन्ति ते तु षड्जादयः सप्त यथाक्रमेण ।

वेदाग्निपक्षाग्विपयोधिबह्निपक्षान्तिमश्रुत्यधिसंभिताः स्युः ॥३१०॥

स्वर श्रुतियों से उत्पन्न होते हैं। षड्जादि सप्त स्वर क्रमशः ४, ३, २, ४, ४, ३ और २ इन श्रुतियों से युक्त होते हैं, तथा अपनी अन्तिम श्रुति पर स्थित होते हैं।

षड्जाभिधानस्त्वृषभस्ततः स्याद् गान्धारको मध्यमपञ्चमौ च ।

ततः परं धैवतको निषाद इति स्वराः सप्त मता मुनीन्द्रैः ॥३११॥

संगीतज्ञों के अनुसार ये सात स्वर हैं : षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद ।

शुद्धाः स्वरा ये तु भवन्ति सप्त तज्जान् विकारान् प्रवदामि सप्त ।

ये सप्त स्वर शुद्ध हैं। इनसे उत्पन्न सात विकृतस्वरों को मैं बताता हूँ।

स्वोपान्तिकश्रुत्यधिसंभितः स्यात्षड्जाभिधानो लघुषड्जनामा ॥३१२॥

एवं मपौ स्तो लघुशब्दपूर्वौ..... ।

अपनी उपान्त्य श्रुति पर स्थित षड्ज को 'लघु' षड्ज कहते हैं। इसी प्रकार म और प भी अपनी-अपनी उपान्त्य श्रुतियों पर 'लघु' कहलाते हैं।

.....साधारणो गः प्रथमश्रुतिस्थः ।

मस्य द्वितीयश्रुतिगोन्तरः स्यात्.....

मध्यम की प्रथम श्रुति पर 'साधारण' ग और द्वितीयश्रुति पर 'अन्तर' ग होता है।

.....षड्जाह्वयस्य प्रथमश्रुतिस्थः ॥३१३॥

तथा द्वितीयश्रुतिवर्तमानो निः कंशिकी काकलिनामधेयः ।

षड्ज की प्रथम और द्वितीय श्रुतियों पर क्रमशः 'कंशिकी' और 'काकली' नामक निषाद होता है।

स्वराध्याय : १०५

स्वस्थानकस्थेषु च तेषु नेष्टाः स्वरेषु भेदा विकृता मुनीन्द्रैः ॥३१४॥

नोपाददे धस्य विकारभेदं निःशङ्कसूरिः खलु कूटताने ।

शुद्ध स्थान पर ही अवस्थित विकृत स्वर को विद्वज्जन भिन्न स्वर नहीं मानते । निःशङ्क उगख्य शाङ्गदेव ने वैवत के विकृत भेद को कूटतान में स्वीकार नहीं किया है ।

सर्वे युतास्ते विकृताश्च शुद्धाश्चतुर्दशैवेति मतं मदीयम् ॥३१५॥

शुद्ध और विकृत कुल चौदह स्वर होते हैं, ऐसी मेरी मान्यता है ।

प्रचलित संगीत में स्वरसंज्ञा-भेद

अथो रिधावाद्यगनिश्रुतिस्थौ लक्ष्येषु वेदश्रुतिकौ भवेताम् ।

वर्तमान सङ्गीत में ग और नि की प्रथम श्रुतियों पर स्थित रे और घ चतुःश्रुतिक माने जाते हैं ।

मः पञ्चमाद्यां श्रुतिमेत्य लक्ष्ये क्वचिच्च पञ्चश्रुतितां प्रयाति ॥३१६॥

वर्तमान सङ्गीत में कभी-कभी पञ्चम की प्रथम श्रुति पर आ कर मध्यम भी पञ्चश्रुतिक हुआ दिखायी देता है ।

(सद्राग चन्द्रोदय..... निदर्शन की तालिका देखें पृष्ठ १०६ पर)

पुण्डरीक विट्ठलकृत रागमाला के शुद्ध-विकृत स्वर

द्वाविंशतिः प्रतिस्थानं सोपानाकारवत् क्रमात् ।

प्रभवन्त्युच्चोच्चतराः श्रुतयः श्राव्यमात्रतः ॥३१७॥

प्रत्येक स्थान में अर्थात्, मन्द्र, मध्य और तार तीनों में ही, सोपानों यानी सीढ़ियों की भाँति क्रमशः ऊँची होती हुई २२ श्रुतियाँ होती हैं, जो अपनी श्राव्यता के कारण ही 'श्रुतियाँ' कहलाती हैं ।

रागादिव्यवहाराय तासु सप्त स्वराः स्थिताः ।

षड्जश्च ऋषभश्चैव गान्धारो मध्यमस्तथा ॥३१८॥

पञ्चमो धैवतश्चाथ निषादश्चेत्यनुक्रमात् ।

तेषां संज्ञाः सरिगमपधनीत्यपरा मताः ॥३१९॥

इन श्रुतियों में ही सप्त स्वर स्थित हैं, जो राग आदि में उपयोग के लिए होते हैं । वे सप्त स्वर इस क्रम के अनुसार हैं : षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद । इन स्वरों की दूसरी संज्ञाएँ क्रमशः सा, रि, ग, म, प, ध और नि मानी जाती हैं ।

१०६ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

वीणादण्ड पर सद्रागचन्द्रोदय में वर्णित स्वरों का निदर्शन

शुद्ध षड्ज तन्त्री पर		
वर्तमान उत्तर भारतीय स्वर	शुद्ध स्वर	विकृत स्वर
शुद्ध षड्ज.....	शुद्ध षड्ज	
कोमल ऋषभ.....	शुद्ध ऋषभ	
.....		चतुःश्रुति ऋषभ
शुद्ध ऋषभ.....	शुद्ध गान्धार	
.....		साधारण गान्धार
शुद्ध गान्धार.....		अन्तर गान्धार
.....		लघु मध्यम
शुद्ध मध्यम.....	शुद्ध मध्यम	
.....		पञ्चश्रुति मध्यम
तीव्र मध्यम.....		लघु पञ्चम
शुद्ध पञ्चम.....	शुद्ध पञ्चम	
कोमल धैवत.....	शुद्ध धैवत	
.....		चतुःश्रुति धैवत
शुद्ध धैवत.....	शुद्ध निषाद	
कोमल निषाद.....		कैशिक निषाद
शुद्ध निषाद.....		काकली निषाद
.....		लघु षड्ज
शुद्ध षड्ज.....	शुद्ध षड्ज	
	७	७

वेदाचलाङ्कश्रुतिषु त्रयोदश्यां श्रुतौ ततः ।

सप्तदश्यां च विंश्यां च द्वाविंश्यां च श्रुतौ क्रमात् ॥३२०॥

षड्जादीनां स्थितिः प्रोक्ता प्रथमा भरतादिभिः ।

षड्जादि सप्त स्वरों की प्रथम स्थिति (अर्थात् शुद्धावस्था) क्रमशः ४, ७, ९, १३, १७, २० और २२ इन श्रुतियों पर है, ऐसा भरत आदि पूर्वाचार्यों ने बताया है।

स्वराध्याय : १०७

असपाः पूर्वपूर्वास्ते सञ्चरन्त्युत्तरोत्तरम् ॥३२१॥

इन सप्त स्वरों में से षड्ज और पञ्चम को छोड़कर शेष पाँच स्वर अपने पूर्व स्थानों से, यानी अपने पूर्वोक्त नियत स्थानों से आगे की श्रुतियों पर क्रमशः संचरण करते हैं।

त्रिस्त्रिंशतीस्ते प्रत्येकं याति गश्च चतुर्गतीः ।

यद्यद्वागोपयोगः स्यात्तत्तदिच्छागतिर्भवेत् ॥३२२॥

उनमें से प्रत्येक स्वर तीन-तीन गतियों अर्थात्, विकृत स्थितियों को प्राप्त करता है, और गान्धार चार गतियों को। विभिन्न रागों में, इनमें से किसी स्वर की जो भी गति उपयोगी होती है, उसे ही वांछनीय माना जाता है।

टीका—वैसे तो रे, म, घ, नि के तीन-तीन विकृत भेद हैं, और ग के चार, किन्तु उन भेदों को रागों की आवश्यकतानुसार ही स्वीकार किया जाता है। अर्थात्, राग के स्वरों के नाम सा, रे, ग आदि क्रम से बनाने के लिए इन एकगतिक, द्विगतिक आदि में से जिस संज्ञा की आवश्यकता होती है, उसे ही ग्रहण किया जाता है।

गन्धोर्गती द्वितीये चान्तरकाकलिनौ स्मृतौ ।

गान्धार और निषाद अपनी द्वितीय गतियों में क्रमशः अन्तर गान्धार और काकली निषाद कहे जाते हैं।

पञ्चम्यष्टादशी षष्ठी तथा चैकोनविंशतिः ॥३२३॥

चतस्रः श्रुतयश्चैता रागाद्यैरप्रयोजकाः ।

शेषा अष्टादशैव स्युः श्रुतयः स्वरबोधकाः ॥३२४॥

पाँचवी, छठी, अठारहवीं और उन्नीसवीं—ये चार श्रुतियाँ रागों आदि में अनुपयोगी होती हैं। शेष अठारह श्रुतियाँ स्वरों की बोधक हैं।

न्यूनाधिकैरुगतिका मन्द्रतारस्वरा यदि ।

न रागहानिकाः सर्वे स्पष्टता मध्यसप्तके ॥३२५॥

मन्द्र और तार में इन स्वरों की एक गति की न्यूनता या अधिकता यदि हो तो भी राग-हानि नहीं होती, किन्तु मध्य सप्तक में ये समस्त गतियाँ स्पष्ट होती हैं।

१०८ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

रागमाला में वर्णित शुद्ध विकृत स्वर-स्थानों का वीणादण्ड पर निदर्शन

शुद्ध षड्ज तन्त्री पर

प्रचलित उ. भा. स्वर	शुद्ध स्वर	विकृत स्वर
शुद्ध षड्ज	शुद्ध षड्ज	
कोमल ऋषभ	शुद्ध ऋषभ	
		एकगतिक रे, (विधुगतिक रे)
शुद्ध ऋषभ	शुद्ध गान्धार	द्विगतिक रे
कोमल गान्धार		एकगतिक ग, (प्रथमगतिक ग, विधुगतिक ग)
शुद्ध गान्धार		द्विगतिक ग, (नेत्रगतिक ग, पक्षगतिक ग)
		त्रिगतिक ग, (वह्निगतिक ग, अनलगतिक ग, गुणगतिक ग)
शुद्ध मध्यम	शुद्ध मध्यम	चतुर्गतिक ग
तीव्र मध्यक		त्रिगतिक म
शुद्ध पञ्चम	शुद्ध पञ्चम	
कोमल धैवत	शुद्ध धैवत	

पुण्डरीक विट्ठलकृत रागमञ्जरी के स्वर

तीव्रा कुमुद्वती मन्दा छन्दोवती दयावती ।

रञ्जनी रक्तिका रोद्री क्रोधी वज्जी प्रसारिणी ॥३२६॥

प्रीतिमृजा क्षिती रक्ता सन्दीपिन्यथालापिनी ।

मदन्ती रोहिणी रम्या चोग्रा क्षोभिणिकेति च ॥

श्रुतिनामानि ख्यातानि पूर्वाचार्यैः क्रमादिति ॥३२७॥

पूर्ववर्ती आचार्यों ने श्रुतियों के नाम क्रमशः इस प्रकार बताये हैं :-
तीव्रा, कुमुद्वती, मन्दा, छन्दोवती, दयावती, रंजनी, रक्तिका, रौद्री, क्रोधी,
वज्री (वज्रिका), प्रसारिणी, प्रीति, मृजा (मार्जनी), क्षिती, रक्ता,
सन्दीपिनी, आलापिनी, मदन्ती, रोहिणी, रम्या, उग्रा और क्षोभिणी ।

रागादिध्यवहाराय तासु सप्त स्वराः स्थिताः ।

षड्जश्च ऋषभश्चैव गान्धारो मध्यमस्तथा ॥३२८॥

पञ्चमो धंवतश्चाथ निषादश्चेत्यनुक्रमात् ।

तेषां संज्ञाः सरिगमपधनीत्यपरा मताः ॥३२९॥

वेदाचलाङ्गश्रुतिषु त्रयोदश्यां श्रुतौ ततः ।

सप्तदश्यां च विड्यां च द्वाद्विड्यां च श्रुतौ क्रमात् ॥३३०॥

षड्जादीनां स्थितिः प्रोक्ता प्रथमा भरतादिभिः ।

असपाः पूर्वपूर्वस्मात्सञ्चरन्त्युत्तरोत्तरम् ॥३३१॥

त्रिस्त्रिगंतीस्ते प्रत्येकं याति गश्च चतुर्गंतीः ।

यद्यद्रागोपयोगः स्यात्तत्तदिच्छागतिर्भवेत् ॥३३२॥

(श्लोक ३१८-३२२ ही यहाँ पुनरावृत्त हैं ।)

साधारणः कैशिकी चान्तरकाकलिनौ तथा ।

साधारणः कैशिकी द्वौ क्रमाद्गतिगनिक्रमः ॥३३३॥

गान्धार और निषाद की प्रथम एवं द्वितीय गतियाँ क्रमशः साधारण
(ग) और कैशिक (नि), एवं अन्तर (ग) और काकली (नि) हैं ।

आशय यह है कि प्रथमगतिक ग-नि क्रमशः साधारण ग-कैशिक नि
हैं तथा अन्तर ग-काकली नि क्रमशः ग-नि की द्वितीयगतिक संज्ञाएँ हैं ।

ऊर्ध्वखलस्तु गान्धारो मध्यमोपरि संस्थितः ।

अपनी ऊर्ध्वखल गति-अर्थात् ऊपर की ओर अन्तिम गति-में गान्धार
मध्यम पर ही आ जाता है ।

मस्य त्रिगतिभेदाश्च मनुः पक्षान्तिको नृपः ॥३३४॥

मध्यम की तीन गतियों के भेद क्रमः मनु मध्यम, पक्षान्तिक मध्यम
और नृप मध्यम हैं ।

११० : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

टीका—मध्यम अपनी मूलस्थिति (१३वीं श्रुति) से ऊर्ध्वगामी होते हुए क्रमशः १४वीं, १५वीं तथा १६वीं श्रुति पर आता है। प्रथमगतिक मध्यम १४वीं श्रुति पर 'मनु मध्यम' इसलिए कहा गया है कि 'मनु' १४ का संकेत है, और शास्त्रग्रन्थों में १४ मनु बताये गये हैं। पक्ष १५ दिनों का होता है, अतः द्वितीयगतिक मध्यम 'पक्षान्तिक मध्यम' कहलाता है। उसी प्रकार त्रिगतिक मध्यम को 'नृप मध्यम' कहने का आधार यह है, कि महाभारत में १६ राजाओं के आख्यान हैं।

अथ कैशिकिनावाद्यावूर्ध्वखली द्वितीयकौ।

अत्युच्छृङ्खलनामानौ तृतीयगतिकौ रिथौ॥

रे और घ अपनी प्रथम गति में 'कैशिक', द्वितीय गति में 'ऊर्ध्वखल' और तृतीय गति में 'अत्युच्छृङ्खल' कहलाते हैं।

इत्येवं स्वरभेदाश्च स्थाने स्थाने भवन्ति हि ॥३३५॥

प्रत्येक स्थान में स्वरों के इतने ही भेद होते हैं।

(रागमञ्जरी में निदर्शन सम्बन्धी तालिका देखें पृष्ठ १११)

आधुनिक हिन्दुस्थानी पद्धति में शुद्ध-विकृत स्वर-संज्ञाएँ

हिन्दुस्थानीयपद्धत्यां लक्ष्यलक्षणकोविदैः।

सप्त शुद्धास्तथा पञ्च विकृता निश्चिताः स्वराः ॥३३६॥

वर्तमान सङ्गीत के विद्वानों ने हिन्दुस्थानी पद्धति में सात शुद्ध और पाँच विकृत स्वर निश्चित किये हैं।

संज्ञास्तेषामथो वचिम लक्ष्यसङ्गीतगोचराः।

यतः स्याद्वागनिर्देशे सर्वेषां सुखबोधनम् ॥३३७॥

उनकी आधुनिक सङ्गीत में प्रचलित संज्ञाएँ मैं बताता हूँ, जिससे रागों के निर्देश में वे सबके लिए सुवोध्य हो सकें।

शुद्धाः सप्त स्वराः शुद्धपूर्वया तत्तदाख्यया।

विज्ञेयाः क्रमशः शुद्धषड्जः शुद्धर्षभस्ततः ॥३३८॥

शुद्धगान्धार इत्युक्तः शुद्धमध्यम इत्यपि।

शुद्धपञ्चम इत्येवं शुद्धधैवत इत्यपि ॥

ततः शुद्धनिषाश्चेत्येवं सप्त स्वराभिधाः ॥३३९॥

जो सात शुद्ध स्वर माने गये हैं, उनकी संज्ञाओं के पहले 'शुद्ध' लगता है। ये सात शुद्ध स्वर क्रमशः इस प्रकार हैं : शुद्ध षड्ज, शुद्ध ऋषभ, शुद्ध गान्धार, शुद्ध मध्यम, शुद्ध पञ्चम, शुद्ध धैवत और शुद्ध निषाद।

स्वराध्याय : १११

रागमञ्जरी में वर्णित शुद्ध-विकृत स्वरों का वीणादण्ड पर निदर्शन

शुद्ध षड्ज तन्त्री पर		
प्रचलित उ. मा. स्वर	शुद्ध स्वर	विकृत स्वर
शुद्ध षड्ज	शुद्ध षड्ज	
कोमल ऋषभ	शुद्ध ऋषभ	
		एकगतिक ऋषभ
शुद्ध ऋषभ	शुद्ध गान्धार	द्विगतिक ऋषभ
कोमल गान्धार		साधारण गान्धार अथवा त्रिगतिक ऋषभ; एकगतिक गान्धार
शुद्ध गान्धार		अन्तर गान्धार; द्विगतिक गान्धार
		त्रिगतिक गान्धार
शुद्ध मध्यम	शुद्ध मध्यम	चतुर्गतिक गान्धार
		एकगतिक मध्यम
		द्विगतिक मध्यम
तीव्र मध्यम		त्रिगतिक मध्यम
शुद्ध पञ्चम	शुद्ध पञ्चम	
कोमल धैवत	शुद्ध धैवत	
		एकगतिक धैवत
शुद्ध धैवत	शुद्ध निषाद	द्विगतिक धैवत
कोमल निषाद		कैशिक निषाद अथवा एक- गतिक निषाद; त्रिगतिक धैवत
शुद्ध निषाद		काकली निषाद; द्विगतिक निषाद
		त्रिगतिक निषाद
शुद्ध षड्ज	शुद्ध षड्ज	

११२ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

विकृताः पञ्च कथ्यन्ते प्रथमः कोमलर्षभः ।

द्वितीयः कोमलो गः स्यात्तृतीयस्तीव्रमध्यमः ॥३४०॥

चतुर्थः कोमलो धाव्यः पञ्चमः कोमलाख्यनिः ।

आहत्य शुद्धविकृताः स्वरा द्वादश ईरिताः ॥३४१॥

विकृत स्वर पाँच हैं : पहला कोमल ऋषभ, दूसरा कोमल गान्धार, तीसरा तीव्र मध्यम, चौथा कोमल धैवत, पाँचवाँ कोमल निषाद । शुद्ध और विकृत मिला कर कुल १२ स्वर बताये गये हैं ।

वर्तमान सङ्गीत में कतिपय स्वरों के संज्ञा-भेद

व्यवहारे तु शुद्धाख्या रिग-धनिस्वराः क्वचित् ।

प्राप्नुवन्ति पुनः संज्ञां तीव्रां लक्ष्यज्ञसम्मताम् ॥३४२॥

मध्यमः शुद्ध एवासौ लक्ष्ये स्यात् कोमलाभिधः ।

परिभाषारहस्यं तत् सर्वत्रैव सुसम्मतम् ॥३४३॥

शुद्ध स्वर, व्यवहार में कभी कभी, लक्ष्यज्ञ विद्वानों द्वारा समर्थित, तीव्र संज्ञाओं को प्राप्त करते हैं । लक्ष्यसङ्गीत में शुद्ध मध्यम ही कोमल मध्यम है, यह परिभाषा विषयक रहस्य सर्वसम्मत है ।

यहाँ अभिप्राय यह है कि शुद्ध रे, ग, घ, नि को तीव्र भी कहा जाता है और शुद्ध म को कोमल भी ।

विकृत स्वरों का स्थान-निर्देश

षड्जर्षभकयोर्मध्ये संस्थितः कोमलर्षभः ।

गान्धारो रिगयोर्मध्ये संस्थितः कोमलाभिधः ॥३४४॥

मध्यमस्तीव्रसंज्ञोऽसौ नपयोरन्तरे स्थितः ।

पधयोरन्तरे चैव भवेत् कोमलधैवतः ॥३४५॥

निषादः कोमलाख्योऽपि धनिमध्ये सुसंस्थितः ।

एवं पञ्च समाख्याता विकृताः स्थानभेदतः ॥३४६॥

षड्ज और ऋषभ के बीच कोमल ऋषभ स्थित है । कोमल गान्धार ऋषभ और गान्धार के बीच में स्थित है । तीव्र मध्यम का स्थान मध्यम और पञ्चम के बीच में है । पञ्चम और धैवत के अन्तराल में कोमल धैवत होता है । कोमल निषाद भी धैवत और निषाद के मध्य में स्थित है । इस प्रकार पाँच विकृत स्वरों को स्थानभेद के साथ बताया गया ।

८

स्वराध्याय : ११३

प्रचलित उत्तर भारतीय सङ्गीत के स्वरों का वीणादण्ड पर निदर्शन

		शुद्ध षड्ज तन्त्री पर	
		शुद्ध स्वर	विकृत स्वर
१		 शुद्ध षड्ज	
२			
३			कोमल ऋषभ
४			
५		 शुद्ध ऋषभ	
६			
७			कोमल गान्धार
८		 शुद्ध गान्धार	
९			
१०		 शुद्ध मध्यम	
११			
१२			तीव्र मध्यम
१३			
१४		 शुद्ध पञ्चम	
१५			
१६			कोमल धैवत
१७			
१८		 शुद्ध धैवत	
१९			
२०			कोमल निषाद
२१		 शुद्ध निषाद	
२२			
१		 शुद्ध षड्ज	
		७	५

११४: श्रीमत्सङ्गसङ्गीतम्

आधुनिक दक्षिणात्य पद्धति में शुद्ध-विद्धत स्वर-नाम

शुद्ध षड्ज तन्त्री पर

प्रचलित स्वर (उत्तर भारतीय)	शुद्ध स्वर	विद्धत स्वर
शुद्ध षड्ज	 शुद्ध षड्ज	
कोमल ऋषभ	 शुद्ध ऋषभ	
शुद्ध ऋषभ	 शुद्ध गान्धार	चतुःश्रुति ऋषभ
कोमल गान्धार		साधारण गान्धार; षट्श्रुति ऋषभ
शुद्ध गान्धार		अन्तर गान्धार
शुद्ध मध्यम	 शुद्ध मध्यम	
तीव्र मध्यम		प्रति मध्यम (वराली मध्यम)
शुद्ध पञ्चम	 शुद्ध पञ्चम	
कोमल धैवत	 शुद्ध धैवत	
शुद्ध धैवत	 शुद्ध निषाद	चतुःश्रुति धैवत
कोमल निषाद		कैशिक निषाद; षट्श्रुति धैवत
शुद्ध निषाद		काकली निषाद
शुद्ध षड्ज	 शुद्ध षड्ज	
	७	५

सूच्यता

ऋमात्स्वराणां सप्तानामारोहश्चावरोहणम् ।

सूच्यतेत्युच्यते ग्रामद्वये ताः सप्त सप्त च ॥३४७॥

—रत्नाकरे

स्वराध्याय : ११५

सङ्गीतरत्नाकर में कहा गया है :—सप्तस्वरों के क्रमिक आरोह-अवरोह को 'मूर्च्छना' कहते हैं। दोनों ग्रामों में सात-सात मूर्च्छनाएँ हैं।

प्राक्कालीनेषु ग्रन्थेषु मूर्च्छनाः सप्त कीर्तिताः ।

प्रतिग्रामसमासक्ता याभी रागाः समुत्थिताः ॥३४८॥

प्राचीन काल के ग्रन्थों में प्रत्येक ग्राम से सात मूर्च्छनाओं की उत्पत्ति बतायी गयी है, जिनसे राग उद्भूत होते हैं।

भिन्नस्वरं समारभ्य सप्तस्वरव्यवस्थया ।

भवेत् परिस्फुटा तत्र स्वरान्तरविभिन्नता ॥३४९॥

सप्तस्वरों, अर्थात् ग्रामगत सप्त स्वरों की व्यवस्था में भिन्न-भिन्न स्वरों से (मूर्च्छना) आरम्भ करने पर स्वरान्तरों में भिन्नता स्पष्ट दिखायी देती है।

टीका—यहाँ ग्रन्थकार का आशय यह है कि ग्रामगत सप्त स्वरों में से प्रत्येक को आरम्भ स्वर, अर्थात् पङ्क मान कर क्रमशः आरोह-अवरोह करने पर प्रत्येक मूर्च्छना में भिन्न-भिन्न स्वरान्तर प्राप्त होते हैं।

रत्नाकरादिग्रन्थेषु मूर्च्छनाजातियोगतः ।

रागमेलाः समाख्याता रहस्यं तत् सुसम्मतम् ॥३५०॥

यह तत्त्व सर्वसम्मत है कि सङ्गीत रत्नाकर आदि ग्रन्थों में मूर्च्छना तथा जाति के संयोग से रागमेलों की निर्मिति उल्लिखित है।

पण्डितमैध्यकालीनैरहोबलादिभिः पुनः ।

रहस्यं मूर्च्छनानां तद्विभिन्नं समुदीरितम् ॥३५१॥

साथ ही, अहोबल आदि मध्यकालीन पण्डितों ने मूर्च्छनाओं का कुछ अलग ही सिद्धान्त बताया है।

मेलः स्यान्मूर्च्छनाधारो ग्रामाधारा तु मूर्च्छना ।

स्वरेभ्यो ग्रामसम्भूतिः श्रुतयः स्वरजन्मभूः ॥३५२॥

मेल मूर्च्छना पर आधृत है और मूर्च्छना ग्राम पर। ग्राम स्वरों से बनते हैं तथा स्वरों की जन्म-भूमि श्रुतियाँ हैं।

मेलः स्वरसमूहः स्याद्वागव्यञ्जनशक्तिमान् ।

द्विलिङ्गोच्चारणमेवात्र समूहः परिकीर्तितः ॥३५३॥

राग-निर्माण करने में समर्थ स्वर-समूह को 'मेल' कहा जाता है। स्वरों के विलिङ्ग उच्चार के कारण ही उसे समूह कहा गया है।

११६ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

शुद्धैः स्वरैः समस्तैर्यो युक्तः सम्पूर्णशब्दभाक् ।

षड्भिः षाडव इत्युक्तः स्वरैः पञ्चभिरोडुवः ॥३५४॥

सातों शुद्ध स्वरों से युक्त मेल को 'सम्पूर्ण' कहा जाता है, और छह स्वरों से युक्त को 'षाडव' तथा पाँच स्वरों वाले मेल को 'ओडुव' कहते हैं ।

मेलानुसारतस्तत्र त्रैविध्यं मूर्च्छनास्वपि ।

समादिष्टं तु सुस्पष्टं रागोत्पादनहेतवे ॥३५५॥

मेलों के अनुसार ही मूर्च्छनाओं में भी उपर्युक्त त्रिविधता का स्पष्ट निर्देश रागोत्पादन हेतु किया गया है ।

समानस्वरमेलेऽपि केवलं मूर्च्छनाभिदा ।

रानभेदसमुत्पत्तिः सम्भवेदिति प्रस्फुटम् ॥३५६॥

यह स्पष्ट है कि केवल मूर्च्छना-भेद से एक ही मेल से भिन्न-भिन्न रागों की उत्पत्ति सम्भव है ।

लक्ष्येऽधुना तु सर्वत्र रागमेलनिरूपणम् ।

मृदुतीव्रादिसंज्ञाभिः क्रियत इत्यसंशयम् ॥३५७॥

वर्तमान संगीत में सर्वत्र कोमल, तीव्र आदि स्वर-नामों के द्वारा रागों और मेलों का निरूपण किया जाता है, इसमें सन्देह नहीं ।

मूर्च्छनं तु स्वरस्यैव गमकादिकसंज्ञितम् ।

स्वीकृतं लक्ष्यसम्भत्या श्रोतृचित्तानुरञ्जकम् ॥३५८॥

अधुना प्रचलित संगीत की दृष्टि से स्वर के ही गमक आदि के उन प्रयोगों को मूर्च्छना माना जाता है, जो श्रोताओं के मन को आनन्दित करते हैं ।

सप्तस्वरसमूहात्मा नित्यं मेल इतीरितः ।

षाडबोडुवसम्पूर्णभिद्द्वारा रागहेतुः ॥३५९॥

सात स्वरों से युक्त समूह को 'मेल' कहा जाता है, जो षाडव, ओडुव और सम्पूर्ण भेदों के द्वारा रागजनक बनता है ।

मूर्च्छना और मेल पर अनुवादक की टीका

मूर्च्छना

परिभाषा के अनुसार सप्त स्वरों के क्रमिक आरोहावरोह को मूर्च्छना कहा गया है । ग्राम के सप्त स्वरों में से प्रत्येक स्वर को षड्ज मानकर आगामी स्वरों को क्रमशः ऋषभादि कहने पर प्रत्येक बार भिन्न-भिन्न स्वरान्तर प्राप्त होंगे; यथा—

- (१) सा ॥ रे । ग ॥ म ॥ प ॥ ध । नि ॥ सा ॥ रे । ग ॥ म
 (२) ० ॥ सा । रे ॥ ग ॥ म ॥ प । ध ॥ नि ॥ सा
 (३) ० । सा ॥ रे ॥ ग ॥ म । प ॥ ध ॥ नि । सा
- इत्यादि

मूर्च्छनाओं का प्रयोजन स्वर-भिन्नता की प्राप्ति ही था। प्राचीन तन्त्री वाद्यों में ग्राम के प्रत्येक स्वर को एक-एक तन्त्री पर स्थापित किया जाता था। परदों से रहित तन्त्री-वाद्यों के काल में गायन-वादन के समय 'जाति' के लिए जिन स्वरों की आवश्यकता होती थी, उनमें समस्त तन्त्रियों को मिलाने की जगह ऐसी तन्त्री को ही षड्ज मान लेते थे, जिसके आगे की तन्त्रियों पर आवश्यकतानुसार ऋषभादि मिल सकें। मूर्च्छनाओं का प्रयोग मुख्यतः वाद्य-वादन—वह भी तन्त्री वाद्यवादन—से सम्बद्ध रहा, ऐसा माना जाता है। वैजयन्ती कोष में भी "वादने मूर्च्छना प्रोक्ताः" से यही संकेत मिलता है।

नाट्यशास्त्र में प्रत्येक ग्राम में ७ मूर्च्छनाएँ बतायी गयी हैं। वहाँ षड्ज ग्राम और मध्यम ग्राम की कुल १४ मूर्च्छनाएँ उल्लिखित हैं। कुछ परवर्ती ग्रन्थों में इनके साथ ही गान्धारग्राम की ७ मूर्च्छनाओं के नाम भी मिलते हैं।

नाट्यशास्त्र में उपलब्ध विवरण के अनुसार षड्जग्राम की उत्तरमन्द्रा, रजनी, उत्तरायता, शुद्धषड्जा, मत्सरीकृता, अश्वक्रान्ता तथा अभिरुद्वगता ये सप्तमूर्च्छनाएँ क्रमशः सा, नि, घ, प, म, ग तथा रे से प्रारम्भ होती हैं। उसी प्रकार, मध्यमग्रामगत सौवीरी, हरिणाश्वा, कलोपनता, शुद्धमध्या, मार्गी, पौरवी तथा हृष्यका मूर्च्छनाएँ क्रमशः म, ग, रे, सा, नि, घ तथा प से आरम्भ होती हैं। भरताचार्य ने "क्रमयुक्ताः स्वराः सप्त मूर्च्छनास्त्वभि-संज्ञिता" कहा है। वहाँ आरोह या अवरोह क्रम का उल्लेख नहीं है। विद्वानों का मत है, कि भरतोक्त मूर्च्छनाओं में स्वर अवरोह क्रम में मानना अधिक उचित है। तात्पर्य यह कि भरतोक्त उत्तरमन्द्रा के स्वर सा, नि, घ, प, म, ग, रे, होंगे। बृहद्देशीकार ने आरोहावरोह दोनों क्रमों का निर्देश मूर्च्छना की परिभाषा में किया है। बृहद्देशी में उत्तरमन्द्रा को सा, रे, ग, म, प, घ, नि इस आरोह-क्रम में बताया गया है तथा अन्य सभी मूर्च्छनाओं का निदर्शन भी आरोहक्रम से ही किया गया है। यथा—रजनी—नि, सा, रे, ग, म, प, घ, इत्यादि। परवर्ती युगों के ग्रन्थों में कहीं नाट्यशास्त्र, तो कहीं बृहद्देशी, तो कहीं दोनों की मिश्रित, मूर्च्छना-व्याख्याएँ स्वीकार की गयी हैं।

११८ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

नाट्यशास्त्र में सप्तस्वरीय मूर्च्छनाएँ ही बतायी गयी हैं, किन्तु वृहद्देशी में सप्तस्वर मूर्च्छना के साथ ही द्वादशस्वर मूर्च्छनाओं का भी प्रतिपादन किया गया है। आचार्य मतङ्ग ने नन्दिकेश्वर मत के अनुसार मन्द्र और तार के कुछ स्वरों को भी ग्रहण करते हुए मूर्च्छना में बारह स्वर बताये। द्वादशस्वरीय मूर्च्छनाएँ 'स्थान-प्राप्ति' के साथ ही जाति, भाषा आदि की सिद्धि के प्रयोजन से निर्मित की गयी थीं, ऐसा प्रमाण वृहद्देशी में मिलता है। भरतमत में सप्तस्वरीय मूर्च्छनाओं का प्रयोजन मन्द्र और तार स्थानों की प्राप्ति है। द्वादशस्वरमूर्च्छनाविवाद सम्भवतः लोकमान्य न हो सका। मूर्च्छनाओं की सप्तस्वरीयता ही बहुसम्मत रही है।

मूर्च्छनाओं के छह भेद बताये जाते हैं : शुद्धा, सान्तरा, सकाकली, साधारणीकृता, षाड्विता और औडुविता। शुद्ध स्वरों से युक्त मूर्च्छनाएँ 'शुद्ध' मानी गयी हैं। दो ग्रामों की शुद्ध मूर्च्छनाएँ कुल १४ हैं। अन्तर गान्धार-युक्त मूर्च्छनाओं को 'सान्तरा' कहते हैं, और काकली निषादयुक्त मूर्च्छनाओं को 'सकाकली'। अन्तर गान्धार और काकली निषाद इन दोनों ही 'साधारण' स्वरों से युक्त मूर्च्छना 'साधारणीकृता' कहलाती हैं। षट्स्वरीय मूर्च्छनाएँ 'षाड्वित' और पञ्चस्वरीय 'औडुवित' कहलाती हैं। असम्पूर्ण होने के कारण इन दो प्रकारों को 'मूर्च्छना-तान' भी कहा गया है। भरताचार्य ने चार मूर्च्छना-भेद बताये हैं—पूर्णा, षाड्विता, औडुविता तथा साधारणीकृता। दो ग्रामों की १४ मूर्च्छनाओं में से प्रत्येक के उपर्युक्त ४ भेद हो सकते हैं, अतएव मूर्च्छनाओं की कुल संख्या $14 \times 4 = 56$ मानी गयी है।

मूर्च्छनाविषयक इस शास्त्रीय निरूपण के साथ ही 'मूर्च्छना' शब्द के कुछ अन्य व्यावहारिक अर्थों अथवा प्रयोगों को भी देखें। 'मूर्च्छना' को कलाकार वाद्य-वादन, स्वरों के आलंकारिक प्रयोग, राग की मूलभूत स्वर-स्थापना, इत्यादि विभिन्न अर्थों में भी प्रयुक्त करते हैं। साथ ही, 'क्रमयुक्त स्वर' इस साधारण अर्थ में भी मूर्च्छना शब्द व्यवहृत होता है, जैसा श्रीमल्लक्ष्य-सङ्गीतम् के श्लोक ३५२ और ३५५ में दिखायी देता है।

मेल

'मेल' वह स्वर-समूह है जो राग-रचनासामर्थ्य से युक्त हो। राग सम्पूर्ण, षाडव और औडव हो सकते हैं; इसलिए रागोत्पादक मेल के लिए सम्पूर्ण-स्वरयुक्त होना आवश्यक माना गया। मेल में स्वरों को क्रमानुसार होना

स्वराध्याय : ११९

चाहिए। इस प्रकार किसी भी मेल में स्वर सा, रे, ग, म, प, ध, नि इन्हीं नामों और क्रम के अनुसार होने चाहिए। स्वरों के शुद्ध-विकृत भेद यथा-वश्यक रूप से मेल में ग्रहण किये जा सकते हैं। इस दृष्टि से, मेल 'मूर्च्छना' का पर्याय कहा जा सकता है (देखिए—श्लोक ३६०)।

जिस प्रकार मूर्च्छनाओं के षाडव और औडुव भेद भी मूर्च्छना ही कहे गये हैं उसी प्रकार मेलगत स्वरों से निर्मित षट्स्वरीय और पञ्चस्वरीय प्रकारों को भी 'षाडव मेल' और 'औडुव मेल' कहा जा सकता है (देखिए—श्लोक ३५४)।

सम्पूर्ण, षाडव और औडुव इन तीन भेदों से, आरोह और अवरोह में स्वर-संख्या की भिन्नता रख कर, कुल ९ मिश्रित प्रकार बन सकते हैं। किसी भी एक मेल से इन ९ प्रकारों अथवा जातियों के राग गणित की दृष्टि से ४८४ बन सकते हैं।

'मेल' की उत्पत्ति ग्राम अथवा सप्तक से ही होती है। दाक्षिणात्य विद्वान वेङ्कटमखी ने मेल-प्रस्तार विधि से यह स्थापना रखी है कि सप्तक से केवल ७२ मेलों की उत्पत्ति सम्भव है।

'मेल' राग का जनक माना गया है। यह शास्त्रीय दृष्टि से सही तो है परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से देखें तो ऐसा नहीं लगता कि पहले किसी भी मेल से स्वर चुन कर फिर राग बनाये गये होंगे। 'राग' तो वस्तुतः स्वयमेव निर्मित होते हैं, क्योंकि गायन-वादन में जो 'धुनें' लोकप्रिय हो जाती हैं वे ही कालान्तर में 'राग' कही जाने लगती हैं। यह तो बाद में सोचा जाता है कि 'राग' के स्वर किस मेल के अनुकूल हैं। इस प्रकार मेल वास्तव में रागों के वर्गीकरण में उपयोगी हैं।

रागों को मेलों में वर्गीकृत करने की व्यवस्था मध्ययुग में अस्तित्व में आयी तथा विद्वानों के अनुसार इसका सूत्रपात दाक्षिणात्य पद्धति में हुआ। विद्वानों के अनुसार, विद्यारण्य (१४वीं शताब्दी) ने सर्वप्रथम 'मेल' शब्द का प्रयोग किया। उन्होंने अपने युगीन सङ्गीत के १५ आधारभूत रागों को 'मेल' नाम प्रदान कर शेष रागों को उनके अन्तर्गत समाविष्ट किया। विद्यारण्य द्वारा प्रवर्तित मेल-राग पद्धति दक्षिण और उत्तर दोनों में मान्य हुई।

प्रचलित उत्तर भारतीय सङ्गीत में समस्त रागों को १० मेलों में वर्गीकृत करने की प्रणाली बहुसम्मत है। इस वर्गीकरण का आधार स्वरों का

१२० : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

शुद्धत्व-विकृतत्व मात्र नहीं है। प्रमुख रागांग, राग का गान-समय, अन्य रागों से राग-विशेष का नैकट्य, राग का चलन और प्रकृति आदि अनेक तथ्यों को ध्यान में रख कर रागों के मेल निश्चित किये गये हैं। पण्डित भातखण्डे ने उत्तर भारतीय रागों को १० मेलों में वर्गीकृत करने की दिशा में उल्लेखनीय कार्य किया है। उनकी वर्गीकरण व्यवस्था को वैज्ञानिक एवं सरलतम माना गया है। इस व्यवस्था के दोषों की ओर भी आधुनिक विद्वानों ने ध्यानाकर्षण किया है। उँगलियों पर गिने जा सकने योग्य केवल कुछ रागों को छोड़ कर शेष सभी प्रचलित राग इस व्यवस्था में बड़े ही सुन्दर ढंग से मेलों में वर्गीकृत हैं, ऐसा अधिकांश लक्ष्य-मर्मज्ञों का अभिमत है।

मेल-प्रस्तार

सरिगमपधनीति सङ्गीते मेल ईरितः।

पर्यायो मूर्च्छनायाः स्यात् सत्कृतो लक्ष्यवर्त्मनि ॥३६०॥

संगीत की शब्दावली में 'स रि ग म प ध नि' इस स्वरसमूह को 'मेल' कहा जाता है। 'मेल' सम्भवतः 'मूर्च्छना' का ही आधुनिक पर्याय है।

टीका—यहाँ मेल की सम्पूर्णस्वरीयता का संकेत किया गया है। वर्तमान उत्तर और दक्षिण दोनों ही पद्धतियों में मेल में षड्जादि सप्त स्वरों का क्रमानुसार होना आवश्यक माना जाता है। ये सप्त स्वर शुद्ध या विकृत हो सकते हैं।

मूर्च्छनाएँ भी सप्तस्वरीय होती थीं और उनके द्वारा जाति आदि गेय-प्रकारों की रचना की जाती थी। मूर्च्छना और मेल के स्वरूप एवं प्रयोजन में सादृश्य को देखते हुए मेल को मूर्च्छना का आधुनिक पर्याय कहा गया है।

सरिगमस्वरोपेतं मेले पूर्वाङ्गमीप्सितम्।

पधनिसस्वरैश्चाथ सम्भवत्युत्तराङ्गकम् ॥३६१॥

मेल का पूर्वाङ्ग 'स रि ग म' स्वरों से युक्त है, तथा उत्तराङ्ग 'प ध नि स' से।

पूर्वाङ्गे कोमलो ज्ञेयो स्वरो रिगौ तथैव च।

उत्तराङ्गे निषौ ज्ञेयो रागावयवसंज्ञितौ ॥३६२॥

पूर्वाङ्ग स्वरों में रे और ग को तथा उत्तराङ्ग स्वरों में ध और नि को, जो रागों में प्रयुक्त होते हैं, कोमल समझना चाहिए।

स्वराध्याय : १२१

टीका—यहाँ आशय यह है कि पूर्वाङ्ग के स्वरों में शुद्ध के अतिरिक्त कोमल रे-ग भी सम्मिलित हैं, तथा उत्तराङ्ग में भी कोमल घ-नि सम्मिलित हैं। दूसरे शब्दों में, मेल के रे, ग, घ, नि, शुद्ध अथवा कोमल दोनों प्रकार के हो सकते हैं।

पूर्वाङ्गेत्त्वचलौ शिष्टौ स्वरौ तो षड्जमध्यमौ ।

पसौ तथोत्तराङ्गे तो निश्चलौ लक्षितौ पुनः ॥३६३॥

पूर्वाङ्ग के शेष दो स्वर षड्ज और मध्यम अचल होते हैं। इसी प्रकार उत्तराङ्ग में पञ्चम और षड्ज (तार षड्ज) अचल हैं।

टीका—यहाँ मेल के पूर्वाङ्ग-उत्तराङ्ग के सन्दर्भ में अचल स्वर क्रमशः सा-म और प-सा बताये गये हैं। मेल-प्रस्तार-विधि में समस्त मेल पूर्वार्ध सा से प्रारम्भ होते हैं और म पर समाप्त। इसी प्रकार सभी उत्तरमेलार्ध प से प्रारम्भ होकर सा पर समाप्त होते हैं। पूर्वाङ्ग में रे-ग और उत्तराङ्ग में घ-नि शुद्ध अथवा विकृत चाहे जिस तरह से लिये जा सकते हैं, परन्तु सा-म और प-सा क्रमशः पूर्वाङ्ग और उत्तराङ्ग में होने ही चाहिए। इसी लिए यहाँ उन्हें 'अचल' कहा गया है। स्मरणीय है कि यहाँ 'अचल' शब्द अपने सामान्य अर्थ, 'अविकृत' में प्रयुक्त नहीं है, अपितु 'स्थायी', 'अपरिवर्तित' इस अर्थ में है।

रिगधनिस्वराणां हि विकृतिभिः समीरिताः ।

प्रस्तारक्रियया लक्ष्ये मुख्यतो रागमेलकाः ॥३६४॥

आधुनिक संगीत में रागमेल, यानी मेल मुख्यतः रे, ग, घ, नि स्वरों की विकृतियों की प्रस्तार-क्रिया से ही बताये गये हैं।

मेलज्ञानं विना मेलजन्यं ज्ञातुं न शक्यते ।

अतो मेलप्रबोधार्थं तत्स्वरूपं निरूप्यते ॥३६५॥

मेलों के ज्ञान के अभाव में मेलजन्य रागों का ज्ञान सम्भव नहीं है। इसलिए मेलप्रस्तार विधि का निरूपण हम कर रहे हैं।

सङ्गीतसारामृतोक्त मेलप्रस्तार-क्रिया

‘षड्ज आद्यस्तदुपरि चत्वारः क्रमशः स्वराः ।

ऋषभाख्यानकाश्चापि गान्धाराख्यानकाश्च ते ॥३६६॥

आद्यस्तत्र न गान्धारश्चतुर्थो रिषभो न हि ।

ऋषभावपि गान्धारी द्वितीयकतृतीयकौ ॥३६७॥

१२२ : श्रीमल्लहयसङ्गीतम्

प्रथमादित्रयं ह्यत्र भवेदृषभसंज्ञकम् ।

द्वितीयादित्रयं चात्र गान्धारसंज्ञितं भवेत् ॥३६८॥

“सप्तक का आद्य स्वर षड्ज है, जिसके आगे के क्रमशः चार स्वर ऋषभ भी कहलाते हैं और गान्धार भी । उन चार स्वरों में से पहला स्वर गान्धार नहीं कहलाता और न चौथा स्वर ऋषभ कहलाता है । बीच के दो स्वर ऋषभ भी हैं, और गान्धार भी । इस प्रकार, उन चार स्वरों में से पहले तीन स्वर ऋषभ संज्ञा से युक्त हैं, तथा दूसरे से आरम्भ कर तीन स्वर गान्धार संज्ञा से युक्त ।”

टीका—मेल-प्रस्तार क्रिया का यह निरूपण दाक्षिणात्य पद्धति के अनुसार है । दाक्षिणात्य संगीत में सप्तक में स्वर-स्थान तो वे बारह ही हैं जो उत्तर-पद्धति में माने जाते हैं; किन्तु वहाँ स्वर-संज्ञाएँ कुल सोलह होती हैं । षड्ज के आगे के चार स्वरों में पहला स्वर शुद्ध ऋषभ होता है, और चौथा अन्तर गान्धार । मध्यवर्ती दो स्वरों की दो-दो संज्ञाएँ हैं । दूसरे स्वर की दो संज्ञाएँ हैं—शुद्ध गान्धार तथा पञ्चश्रुति रि । तीसरे स्वर की भी दो संज्ञाएँ हैं—साधारण गान्धार तथा षट्श्रुति रि । इस प्रकार, उन चार स्वरों में से पहले, दूसरे और तीसरे की संज्ञाएँ ऋषभ हैं, एवं दूसरे, तीसरे और चौथे की संज्ञाएँ गान्धार हैं । अतः सप्तक के प्रथम पाँच स्वर इस प्रकार होते हैं :—

स्वर-स्थान—१	— २	— ३	— ४	— ५
स्वर-नाम— स—शुद्ध रि—शुद्ध ग, पञ्चश्रुति रि—साधारण ग, षट्श्रुति रि—अन्तर ग				

छठवाँ स्वर शुद्ध मध्यम होता है । मेलप्रस्तार-क्रिया में सप्तक के इस षट्स्वरीय पूर्वाङ्ग से चतुःस्वरीय मेल-पूर्वाङ्ग बनाये जाते हैं, जिनमें पहला स्वर स और अन्तिम म होता है । स और म के बीच के चार स्वरों में से किन्हीं भी दो स्वरों को इस प्रकार लिया जाता है कि उनमें से पहला रि हो, और दूसरा ग । इसका विवरण आगामी पंक्तियों में अन्यत्र दिया गया है ।

षड्जस्य पुरतश्चत्वारः स्युः स्वरा यथा ।

पञ्चमस्यापि पुरतश्चत्वारः स्युः स्वरास्तथा ॥३६९॥

धैवताख्याः निषादाख्याः प्रथमाद्यास्तु धैवताः ।

द्वितीयाद्या निषादा स्युर्मुखार्यादिषु तु त्रिषु ॥३७०॥

रागेष्वथ धनी शुद्धौ द्वितीयौ तु धनीरितौ ।

पञ्चश्रुतिर्धैवतश्च कैशिक्याख्यनिषादकः ॥३७१॥

तृतीयो षट्श्रुतिर्धञ्ज काकल्याण्यनिषादकः ।

त्रिष्वेतेषु

युगलेष्वन्यतरद्गृह्यमीरितम् ॥३७२॥

जिस प्रकार षड्ज के आगे चार स्वर हैं, उसी प्रकार पञ्चम के आगे भी धैवत और निषाद कहलाने वाले चार स्वर हैं। इनमें से पहले तीन स्वर धैवत कहे जाते हैं, और दूसरे से आरम्भ होने वाले तीन स्वर निषाद कहलाते हैं। मुखारी आदि तीन रागों में इन स्वरों की युग्म-संज्ञाओं में से शुद्ध ध-नि, पञ्चश्रुति ध-कैशिक नि, तथा षट्श्रुति ध-काकली नि इन तीन युगलों (अर्थात् जोड़ियों) में से एक-एक को लिया जाता है।

टीका—सप्तक के उत्तराङ्ग में पञ्चम से आरम्भ कर पाँच स्वर हैं। उनमें से पञ्चम के आगे जो चार स्वर हैं, वे धैवत और निषाद कहलाते हैं। उन चार स्वरों में से पहला शुद्ध धैवत है और अन्तिम काकली नि। दूसरा स्वर शुद्ध नि और पञ्चश्रुति ध दोनों कहलाता है। तीसरे स्वर की भी दो संज्ञाएँ हैं—षट्श्रुति ध और कैशिक नि। इस प्रकार उन चार स्वरों में प्रथम, द्वितीय और तृतीय धैवत नामधेय हैं तथा द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ निषाद संज्ञायुक्त हैं —

स्वर-स्थान—१—	२	—	३	—	४	—	५
स्वर-नाम—	प-शुद्ध ध	शुद्ध नि	पञ्चश्रुति ध	कैशिक नि	षट्श्रुति ध	काकली नि	

जैसा आषाढी पंक्तियों में अन्यत्र वर्णित है, मेल के उत्तराङ्गों की रचना करते समय प्रथम स्वर 'प' लेने के पश्चात् अन्य दो स्वर उपर्युक्त चार स्वरों में से इस प्रकार लिये हैं कि उनमें से पहला ध हो, और दूसरा नि।

श्लोक ३७२ में 'युगलेष्वन्यतरद् गृह्यम्' का अभिप्राय यह है कि वहाँ वर्णित शुद्ध ध-नि आदि तीन युग्मों में से इस प्रकार स्वर लिये जायें कि ध एक युग्म का हो और नि दूसरे युग्म का। उदाहरणार्थ प्रथम युग्म से शुद्ध ध लेने के पश्चात् दूसरा स्वर शुद्ध नि लिया जा सकता है; या दूसरे युग्म से कैशिक नि लिया जा सकता है, न कि पञ्चश्रुति ध। इसी प्रकार, यदि प के बाद दूसरे युग्म से पञ्चश्रुति ध लिया गया हो तो तीसरे युग्म से काकली नि ही लिया जा सकता है।

श्लोक ३७०-३७१ में मुखारी आदि तीन रागों से तात्पर्य है—मुखारी, सामवराली और भूपाल राग जो इन्हीं नामों से युक्त मेल भी हैं।

१२४ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

इन तीनों में क्रमशः शुद्ध घ-नि, शुद्ध घ-कैशिक नि, और शुद्ध घ-काकली नि ये स्वर लगते हैं ।

स्वरेषु द्वादशस्वेषु तत्तद्वागोपयोगतः ।

तत्तत्स्वरसमूहात्मा मेल इत्येवमीरितः ॥३७३॥

इन बारह स्वरों में से विभिन्न रागों में जो जो स्वर प्रयुक्त होते हैं उन्हीं के विभिन्न समूहों को मेल कहते हैं ।”

तथा हि ।

इसी प्रकार—

षड्ज आद्यस्तदुपरि चत्वारः क्रमशः स्वराः ।

ऋषभाख्यानकाश्चापि गान्धाराख्यानकाश्च ते ॥३७४॥

आद्यस्तत्र न गान्धारश्चतुर्थो रिषभो न हि ।

ऋषभावपि गान्धारौ द्वितीयकतृतीयकौ ॥३७५॥

प्रथमादित्रयं ह्यत्र भवेदृषभसंज्ञकम् ।

द्वितीयादि त्रयं चात्र भवेद्गान्धारसंज्ञितम् ॥३७६॥

(यहाँ श्लोक ६६६-६८ की पुनरावृत्ति मात्र है ।)

ऋषभादित्रयं चाथ रारीरुसंज्ञितं यदि ।

गागीगुसंज्ञितं भूयाद्गान्धारादित्रयं ध्रुवम् ॥३७७॥

ऋषभ से आरम्भ होने वाले तीन स्वरों को यदि क्रमशः ‘रा’, ‘री’ और ‘रु’ संज्ञाएँ प्रदान की जायें, तो गान्धार से आरम्भ होनेवाले तीन स्वर निश्चय ही क्रमशः ‘गा’, ‘गी’ और ‘गु’ कहे जा सकते हैं ।

टीका—मेलप्रस्तार के लिए सुविधा की दृष्टि से स्वरों की संक्षिप्त सांकेतिक संज्ञाएँ प्रयुक्त की जाती हैं । शुद्ध ऋषभ के लिए ‘रा’, पञ्चश्रुति ऋषभ के लिए ‘रि’ तथा षट्श्रुति ऋषभ के लिए ‘रु’ ये संज्ञाएँ कल्पित की गयी हैं । इसी तरह से शुद्ध, साधारण और अन्तर गान्धारों को क्रमशः ‘गा’, ‘गी’ और ‘गु’ संज्ञाएँ प्रदान की जाती हैं ।

स्वरेष्वेषु चतुर्ष्वेव षट्संज्ञाः कृत्रिमा मताः ।

प्रस्तारस्य सुसिद्ध्यर्थमिति स्यात्तद्विदां स्फुटम् ॥३७८॥

सुधीजनों को यह स्पष्ट ज्ञात है कि इन चार स्वरों की ये छह कृत्रिम संज्ञाएँ मेलप्रस्तार की सफल सिद्धि के लिए ही रखी गयी हैं ।

एवं च पञ्चमाग्रेऽपि निवसत्सु स्वरेषु तत् ।

धाधीधुनानिनुसंज्ञं संज्ञाषट्कं भवेत् स्फुटम् ॥३७९॥

ठीक इसी प्रकार से, पञ्चम के आगे के चार स्वरों की छह संज्ञाएँ 'धा', 'धी', 'धु', 'ना', 'नी' और 'नु' होंगी, यह स्पष्ट है ।

उपर्युक्तेऽथपूर्वाङ्गे प्रस्तारक्रियया ततः ।

अर्धमेलास्तु षट्संख्या स्फुट रागोपयोगिनः ॥३८०॥

सरागामा सरागीमा सरागुमा सरीगीमा ।

सरीगुमा सरुगुमा भवेयुस्ते यथाक्रमम् ॥३८१॥

प्रस्तारक्रिया के द्वारा रागों की दृष्टि से उपयोगी छह अर्धमेल पूर्ववर्णित पूर्वाङ्ग में बनते हैं, जिनका क्रम इस प्रकार है—१. स रा गा मा, २. स रा गी मा, ३. स रा गु मा, ४. स री गी मा, ५. स री गु मा ६. सरुगुमा ।

उत्तराङ्गे पुनस्त्वेवमर्धमेला भवन्ति ते ।

पधानासा पधानीसा पधानुसादिका ध्रुवम् ॥३८२॥

पुनः, उत्तराङ्ग में भी इसी प्रकार से प धा ना सा, प धा नी सा, प धा नु सा, इत्यादि छह मेलार्ध निश्चय ही बनते हैं ।

उत्तराङ्गस्य षट्स्य योजनात् प्रथमे दले ।

षट्त्रिंशन्मेलसंप्राप्तिर्भवेत् सद्यो न संशयः ॥३८३॥

उत्तराङ्ग के इन छह मेलार्धों को पूर्वाङ्ग के छह मेलार्धों से जोड़ देने पर तत्काल ही ३६ मेलों की प्राप्ति हो जाती है, इसमें सन्देह नहीं ।

टीका—६ पूर्वमेलार्ध और ६ उत्तरमेलार्ध मिल कर $६ \times ६ = ३६$ पूर्ण मेल बनते हैं ।

यथा—

- | | |
|--------------------------|---------------------------|
| १. स रा गा मा प धा ना सा | ७. स रा गी मा प धा ना सा |
| २. स रा गा मा प धा नी सा | ८. स रा गी मा प धा नी सा |
| ३. स रा गा मा प धा नु सा | ९. स रा गी मा प धा नु सा |
| ४. स रा गा मा प धी नी सा | १०. स रा गी मा प धी नी सा |
| ५. स रा गा मा प धी नु सा | ११. स रा गी मा प धी नु सा |
| ६. स रा गा मा प धु नु सा | १२. स रा गी मा प धु नु सा |

१२६ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

१३. स रा गु मा प धा ना सा	२५. स री गु मा प धा ना सा
१४. स रा गु मा प धा नी सा	२६. स री गु मा प धा नी सा
१५. स रा गु मा प धा नु सा	२७. स री गु मा प धा नु सा
१६. स रा गु मा प धी नी सा	२८. स री गु मा प धी नी सा
१७. स रा गु मा प धी नु सा	२९. स री गु मा प धी नु सा
१८. स रा गु मा प धु नु सा	३०. स री गु मा प धु नु सा
१९. स री गी मा प धा ना सा	३१. स रु गु मा प धा ना सा
२०. स री गी मा प धा नी सा	३२. स रु गु मा प धा नी सा
२१. स री गी मा प धा नु सा	३३. स रु गु मा प धा नु सा
२२. स री गी मा प धी नी सा	३४. स रु गु मा प धी नी सा
२३. स री गी मा प धी नु सा	३५. स रु गु मा प धी नु सा
२४. स री गी मा प धु नु सा	३६. स रु गु मा प धु नु सा

मासंज्ञमध्यमस्थाने मिसंज्ञो यदि मध्यमः ।

प्रयुज्येत तदा चान्यत्पट्विंशन्मेलसम्भवः ॥३८४॥

यदि उपर्युक्त मेल-प्रस्तार क्रिया में 'ना' संज्ञा वाले मध्यम के स्थान पर 'मि' संज्ञा वाला मध्यम प्रयुक्त किया जाय तो अन्य ३६ मेल बन जाते हैं।

टीका—'मा' शुद्ध मध्यम की सांकेतिक संज्ञा है, और 'मि' तीव्र मध्यम की (जिसे दक्षिण में बराळी अथवा प्रति म कहा जाता है तथा जो सङ्गीतसारासमृतोक्त विकृत पञ्चम है)। पूर्ववर्णित मेलप्रस्तार शुद्ध म को लेकर किया गया है। शुद्ध म के स्थान पर तीव्र मध्यम लेने पर अन्य ३६ मेल बनेंगे, जिनमें तीव्र मध्यम होता है।

एवं द्वासप्ततिः प्रोक्ता लक्ष्यलक्षणकोविदैः ।

सर्वरागाश्रयीभूता मेलाः शास्त्रैकगोचराः ॥३८५॥

इस प्रकार कुल ७२ मेल प्रचलित सङ्गीत के मर्मज्ञ विद्वानों ने बताये हैं, जो समस्त रागों के लिए आश्रयभूत हैं तथा जो शास्त्रों में दिखायी देते हैं।

चतुर्दण्डप्रकाशिका में मेलप्रस्तार

येनोपायेन मेलास्ते द्विसप्ततिरिति स्फुटाः ।

तमुपायं प्रवक्ष्यामि लक्ष्यज्ञसुखबुद्धये ॥३८६॥

जिस उपाय (यानी विधि) से ये ७२ मेल निर्मित होते हैं, उसे मैं लक्ष्यज्ञों के सुलभ ज्ञान के लिए वर्णित करता हूँ।

रगारगीरगू चंव रिगीरिगुगू तथा ।

षड्भेदा इति पूर्वाङ्गे द्रष्टव्या गीतकोविदः ॥३८७॥

पूर्वाङ्ग के र गा, र गी, रि गु, और रू गु ये छह प्रकार सङ्गीतज्ञों को जानने चाहिए ।

घनाधनीधनू चंव धिनीधनुधुनू तथा ।

उत्तराङ्गेऽपि षड्भेदा द्रष्टव्या गीतकोविदः ॥३८८॥

उत्तराङ्ग में भी घ ना, घ नी, घ नु, धि नी, धि नु और धु नु ये छह प्रकार जानने चाहिए ।

पूर्वाङ्गागतषड्भेदाः षड्जाद्याः स्युः पृथक्पृथक् ।

उत्तराङ्गस्थषड्भेदाः पञ्चमाद्याः पृथक्पृथक् ॥३८९॥

षड्ज से प्रारम्भ होने वाले पूर्वाङ्ग के छह प्रकार अलग-अलग हैं । उत्तराङ्गागत पञ्चम से प्रारम्भ होने वाले छह प्रकार भिन्न-भिन्न हैं ।

आद्यः पूर्वाङ्गो भेद उत्तराङ्गस्थितैः क्रमात् ।

योज्यते यदि षड्भेदः षण्मेलाः सम्भवन्त्यतः ॥३९०॥

यदि पूर्वाङ्गागत प्रथम प्रकार उत्तराङ्ग के छह भेदों से जोड़ा जाय तो छह मेल बन जाते हैं ।

पूर्वाङ्गस्य द्वितीयोऽपि भेदोऽनेनैव वर्त्मना ।

संयोज्यते यदि तदा षण्मेलाः सम्भवन्त्यतः ॥३९१॥

पूर्वाङ्ग के द्वितीय भेद को भी इसी विधि से जोड़ा जाने पर छह मेल बन जाते हैं ।

एवं तृतीयो भेदोऽपि षण्मेलोपादको भवेत् ।

चतुर्थोऽपि तथैव स्यात्पञ्चमोऽप्येवमेव हि ॥३९२॥

एवं षष्ठोऽपि विज्ञेयः षण्मेलोत्पत्तिकारणम् ।

अतः पूर्वाङ्गमेलानां षण्णामपि पृथक्पृथक् ॥३९३॥

उत्तराङ्गस्थितैः षड्भिर्भेदः संयोजने कृते ।

षट्षण्मेलप्रकारेण मेलाः षट्त्रिंशदागताः ॥३९४॥

इसी तरह तृतीय प्रकार भी छह मेलों को उत्पन्न करता है । चतुर्थ, पञ्चम और षष्ठ प्रकार भी छह-छह मेलों को उत्पन्न करते हैं । इस प्रकार छह पूर्वाङ्ग मेलों के साथ उत्तराङ्ग के छह भेदों का पृथक्-पृथक् संयोजन करने पर, छह-छह मेल प्रकारों से कुल छत्तीस मेल बन जाते हैं ।

१२८ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

एतेष्वेव तु षट्त्रिंशन्मेलेषु प्रतिमेलकम् ।
 मासंज्ञमध्यमस्थाने मिसंज्ञो यदि मध्यमः ॥३९५॥
 निवेश्यते तदा तेषां भवेदुत्तरमेलता ।
 इत्यस्माभिः समुन्नीता जाता मेला द्विसप्ततिः ॥३९६॥

इन्हीं छत्तीस मेलों में से प्रत्येक मेल में 'मा' संज्ञा वाले (अर्थात् शुद्ध) मध्यम के स्थान पर यदि 'मि' संज्ञा वाला याने विकृत) मध्यम रख दिया जाय तो वे उत्तर मेल बन जाते हैं । इस प्रकार हम वहत्तर मेल निमित्त कर लेते हैं ।

टीका—शुद्ध मध्यम वाले ३६ मेलों को 'पूर्वमेल' तथा तीव्र मध्यम, जिसे पं. वेङ्कटमखी ने वराळी मध्यम कहा है; वाले अन्य ३६ मेलों को 'उत्तरमेल' कहा जाता है ।

ननु त्यक्त्वा मासंज्ञं तु केवलं मध्यमं पुनः ।
 मिसंज्ञितस्य तत्स्थाने मध्यमस्य निवेशनात् ॥३९७॥
 त एव पूर्वमेलाः किं भवन्त्युत्तरमेलकाः ।
 इति चोक्ते सदृष्टान्तं परिहारं प्रचक्ष्महे ॥३९८॥
 कटाहसम्भृतं क्षीरं केवलं दधिबिन्दुना ।
 यथा संयोज्यमानं तु दधिभावं प्रपद्यते ॥३९९॥
 तथैव पूर्वमेलास्ते मध्यमेन मिसंज्ञिकाः ।
 केवलेनापि संयुक्ता भजन्त्युत्तरमेलताम् ॥४००॥

केवल 'मा' संज्ञा वाले मध्यम को अलग करके स्थान पर 'मि' संज्ञा वाले मध्यम को रख देने से ही पूर्व मेल ही क्यों उत्तर मेल बन जाते हैं?—ऐसा पूछ जाने पर मैं इसका उदाहरण सहित प्रत्याख्यान इस प्रकार करता हूँ । जिस प्रकार दही की केवल एक बूंद डाल देने से कढ़ाई में भरा हुआ सारा दूध दही बन जाता है । उसी प्रकार केवल एक स्वर, 'मि' संज्ञा वाले मध्यम से युक्त हो जाने पर वे सभी पूर्व मेल उत्तरमेल बन जाते हैं ।

अथ विज्ञाय तत्वेन मेलान् द्रव्यधिकसप्ततिम् ।
 तेषां प्रयोगसमये रगारगीतिमत्कृतः ॥४०१॥
 सङ्केतो नैव सङ्ग्राह्यः किन्तु पूर्वप्रसिद्धया ।
 व्यवहारः सरिगमपधनीत्येव संज्ञया ।
 द्विसप्ततेश्च मेलानां कर्तव्य इति निर्णयः ॥४०२॥

७२ मेलों को तात्त्विक रूप से अच्छी तरह समझने की दृष्टि से मैंने उनकी निर्माण-विधि में रगा, रगी ऐसी संज्ञाएँ प्रयुक्त की हैं । किन्तु प्रत्यक्ष

व्यवहार में ये सांकेतिक संज्ञाएँ ग्रहण करने योग्य नहीं हैं। इन ७२ मेलों का प्रयोग सा, रे, ग, म, प, ध, नि इन पूर्वप्रसिद्ध संज्ञाओं से ही किया जाना चाहिए—यह निर्णय है।

उपर्युक्त ७२ मेलों का चतुर्दण्डप्रकाशिका के लेखक द्वारा समर्थन

पण्डित वेङ्कटमखी ७२ मेलों की रचना की सार्थकता को स्वीकृत करते हुए उसके समर्थन में कहते हैं :—

ननु द्विसप्ततिर्मेला भवता परिकल्पिताः ।

प्रसिद्धाः पुनरेतेषु मेलाः कतिचिदेव हि ॥४०३॥

दृश्यन्ते न तु सर्वेऽपि तेन तत्कल्पनं वृथा ।

कल्पनागौरवन्यायादिति चेद्विमुच्यते ॥४०४॥

आपने ७२ मेलों की परिकल्पना की है। परन्तु, उनमें से केवल कुछ ही मेल प्रसिद्ध हैं, सभी नहीं। इसलिए, आपकी यह ७२ मेलों की परिकल्पना, कल्पनागौरव न्याय के अनुसार, निरर्थक ही है। यदि ऐसा कहा जाय, तो उसका उत्तर है :—

अनन्ताः खलु भेदास्ते देशस्था अपि मानवाः ।

तेषु साङ्गीतिकैरुच्चावचसङ्गीतकोविदैः ॥४०५॥

ये कल्पयिष्यमाणाश्च फल्प्यमानाश्च कल्पिताः ।

अस्मदादिभिरज्ञाता ये च शास्त्रं कगोचराः ॥४०६॥

ये च देशीयरागास्तद्रागसामान्यमेलकाः ।

ये तु पन्तुवराढ्याख्यकल्याणिप्रमुखा अपि ॥४०७॥

नानादेशीयरागास्तद्रागसामान्यमेलकाः ।

सङ्ग्रहीतुं समुन्नीता एते मेला द्विसप्ततिः ॥४०८॥

ततश्चतेषु वयमर्थशङ्का किं कारणं भवेत् ॥४०९॥

देश-भेद से मनुष्य असंख्य प्रकारों के होते हैं। उनमें से विभिन्न देशीय सङ्गीतों के जानने वाले सङ्गीतज्ञों के द्वारा जिन रागों की कल्पना भविष्य में की जायगी और जिनकी कल्पना अभी की जा रही है और जो कल्पित किये जा चुके हैं और जो केवल ग्रन्थों में वर्णित हैं किन्तु हम लोगों को ज्ञात नहीं हैं और जो देशीय सङ्गीत के रागों के सामान्य (यानी बहुप्रचलित) पन्तु-वराढी, कल्याणी आदि प्रमुख राग मेल हैं, उन सभी विभिन्न देशीय रागों

१३० : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

और मेलों को सङ्गृहीत करने के लिए ये ७२ मेल उत्पन्न किये गये हैं। अतः उनके विषय में व्यर्थता की शंका क्यों की जानी चाहिए ?

टीका—पण्डित वेङ्कटमखी कहते हैं कि ७२ मेलों की उनकी परिकल्पना रागों और मेलों की अत्यन्त विशाल, व्यापक सामग्री के संग्रह की दृष्टि से है। विभिन्न देशों में पाये जाने वाले राग, भूतपूर्व, वर्तमान और भविष्यत् समस्त राग, ग्रन्थगत अप्रचलित राग, प्रचलित राग और उनके मेल—इन सभी के समावेश की सम्भावना को देखते हुए ये ७२ मेल कल्पित किये गये हैं। अतः इन मेलों की अनुपयोगिता या व्यर्थता की आशंका निर्मूल ही है।

न हि सङ्घट्यते वृत्तरत्नाकरनिरूपिते ।

तत्र प्रस्तारलब्धानां वृत्तानां निकुरन्त्यके ॥४१०॥

अस्मदादिप्रसिद्धान्यवृत्तवैयर्थ्यशंसनम् ।*

वृत्तरत्नाकर नामक ग्रन्थ में, प्रस्तार-प्राप्त वृत्तों (यानी छन्दों) के समूहों में आये हुए, हमारे प्रसिद्ध छन्दों के अतिरिक्त जो छन्द हैं उनके विषय में व्यर्थता की शंका तो घटित नहीं होती (तब, हमारे द्वारा प्रस्तार-क्रिया से प्राप्त इन ७२ मेलों के विषय में ऐसा सन्देह क्यों होना चाहिए ?) ।

न हि सङ्घट्यते तालप्रस्तारजनिते पुनः ॥४११॥

तालजाले प्रसिद्धान्यतालवैयर्थ्यशंसनम् ।* *

पुनः, प्रस्तार-क्रिया द्वारा प्राप्त ताल-समूहों में आये हुए, हमारे प्रसिद्ध तालों के अतिरिक्त अन्य तालों के विषय में व्यर्थता की आशंका घटित नहीं होती, (तब प्रस्तार-क्रिया द्वारा प्राप्त इन मेलों के विषय में यह आशंका क्यों होनी चाहिए ?) ।

टीका—उपर्युक्त श्लोकों में ग्रन्थकार ने दो तकों द्वारा यह सिद्ध किया है कि ७२ मेलों की कल्पना व्यर्थ नहीं है। वृत्तरत्नाकर नामक छन्द-विषयक

* और * * :—श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम् में यहाँ निम्नलिखित पाठ हैं—

* अस्मदादिप्रसिद्धस्य वृत्तवैयर्थ्यशंसनम् ।

* * तालजाले प्रसिद्धस्य तालवैयर्थ्यशंसनम् ।

ये पाठ अर्थ की दृष्टि से ठीक मालूम नहीं होते। अतः हमने मद्रास म्यूजिक अकादमी द्वारा प्रकाशित चतुर्दण्डिप्रकाशिका के पाठ को अधिक विश्वसनीय मान कर यहाँ लिया है—द्र० इस संस्करण में पृ० ४३ ।

ग्रन्थ में वर्ण-प्रस्तार-क्रिया द्वारा अनेकानेक छन्दों की कल्पना की गयी है। उन छन्दों में, वर्तमान प्रसिद्ध छन्दों के अतिरिक्त भी अनेक छन्द हैं। जब उन छन्दों को व्यर्थ नहीं कहा जाता, तो स्वर-प्रस्तार-क्रिया से सिद्ध इन ७२ मेलों को व्यर्थ कहना क्या उचित है? इसी प्रकार, उन तालों को (जो हमारे प्रसिद्ध तालों से अलग हैं) भी लोग व्यर्थ नहीं कहते, जो ताल-प्रसार क्रिया द्वारा सिद्ध होते हैं, तब इन मेलों के विषय में भी ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए।

यदि कश्चिन्मदुन्नीतमेलेभ्यस्तद्विसप्ततेः ॥४१२॥*

न्यूनं वाप्यधिकं वाऽपि प्रसिद्धं द्वादशस्वरैः ।

कल्पयेन्मेलनं तर्हि ममायासो वृथा भवेत् ॥

न हि तत्कल्पने भाललोचनोऽपि प्रगल्भते ॥४१३॥

प्रसिद्ध १२ स्वरों से यदि कोई व्यक्ति मेरे द्वारा उत्पन्न किये गये ७२ मेलों से कम या अधिक मेलों की प्राप्ति कर सके तो मेरा प्रयत्न व्यर्थ हो जायगा। किन्तु ऐसा कर सकने में स्वयं भगवान् शंकर भी समर्थ नहीं हैं।

टीका—पण्डित वेङ्कटमखी ने अत्यन्त दृढ़ शब्दों में ७२ मेलों का समर्थन यहाँ किया है। उनके अनुसार प्रसिद्ध १२ स्वरों के मेलानुकूल प्रस्तार से केवल ७२ मेल ही बन सकते हैं—न कम, न अधिक। यदि कोई ७२ से ७१ या ७३ मेल बना कर बता दे तो पण्डित वेङ्कटमखी अपने सारे प्रयत्न को निरर्थक मान लेंगे। परन्तु उनका अडिग विश्वास है कि मनुष्य तो क्या, स्वयं भगवान् शंकर के लिए भी यह असम्भव ही है।

पद्धत्यां दाक्षिणात्यानां ये द्वादश स्वरा मताः ।

त एवात्र प्रतीताः स्युरिति लक्ष्यज्ञसम्मत्तम् ॥४१४॥

दाक्षिणात्य सङ्गीत-पद्धति में जो बारह स्वर माने जाते हैं वे ही यहाँ (मेलप्रस्तार में) प्रयुक्त प्रतीत होते हैं, ऐसा लक्ष्यसङ्गीत के ज्ञाता मानते हैं।

रागोत्पादनतत्त्वं च सर्वसाधारणं यतः ।

द्विसप्ततिमेलकानां स्वीकारोऽत्र न गृहीतः ॥४१५॥

राग-निर्माण का तत्त्व अथवा सिद्धान्त, चूँकि सर्वसाधारण है, अतः ७२ मेलों का स्वीकार किया जाना अनुचित नहीं है।

* यह पाठ, जो अधिक उचित है, चतुर्दण्डप्रकाशिका (मद्रास संस्करण) से लिया गया है—देखिये वहाँ पृ० ४३।

१३२ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

वीणादण्ड पर मेलप्रस्तार क्रिया का निदर्शन

आधुनिक उ. भा स्वर	ग्रन्थोक्त स्वर	कृत्रिम संज्ञाएँ
शुद्ध षड्ज	शुद्ध षड्ज	
कोमल रे.	शुद्ध ऋषभ.....	(रा)
शुद्ध रे	शुद्ध गान्धार, पञ्चश्रुति....	(री) (गा)
कोमल ग	साधारण ग, षट्श्रुति रे....	(गी) (रू)
शुद्ध ग	अन्तर ग.....	(गु)
शुद्ध म	शुद्ध म	
तीव्र म	वराली म.....	(मि)
शुद्ध प	शुद्ध प	
कोमल ध	शुद्ध ध.....	(धा)
शुद्ध ध	शुद्ध नि, पञ्चश्रुति ध.....	(धी) (ना)
कोमल नि	कैशिक नि, षट्श्रुति ध....	(ध्रु) (नी)
शुद्ध नि	काकली नि.....	(नु)
शुद्ध षड्ज	शुद्ध षड्ज	

तात्पर्य यह है कि राग-रचना का सिद्धान्त सभी लोग समान मानते हैं, इस लिए ७२ मेलों की इस कल्पना को रागोत्पादन की दृष्टि से स्वीकार कर लेना आपत्तिजनक नहीं ।

स्वराध्याय : १३३

यद्यप्येतावती सङ्ख्या मेलानां शास्त्रसम्मतता ।

व्यवहारे न ते सर्वे प्रतीता इति सम्मतम् ॥४१६॥

मेलों की यह संख्या यद्यपि शास्त्र-सम्मत है, तथापि व्यवहार में वे सभी मेल नहीं दिखाई देते, यह तथ्य भी सर्वसम्मत है ।

❦

रागोत्पादन-प्रकरण

इस प्रकरण में मेल से रागों की उत्पत्ति का विवेचन किया गया है ।

हिन्दुस्थानीयपद्धत्यां द्वादशैव स्वरा मताः ।

उद्गमस्थानभूतास्ते रागाणामिति सम्मतम् ॥४१७॥

हिन्दुस्थानी पद्धति में बारह ही स्वर माने गये हैं । ये बारह स्वर ही रागों के उद्गम स्थान हैं, यह सर्वसम्मत है ।

शुद्धाः सप्त तथा पञ्च विकृता उक्तलक्षणाः ।

योग्यमेलव्यवस्थित्या भवेयु रागहेतवः ॥४१८॥

पूर्वोक्त लक्षणों से युक्त ये सात शुद्ध एवं पाँच विकृत स्वर यथायोग्य रूप से मेलों में व्यवस्थित हो कर राग-रचना के लिए हेतु-भूत होते हैं ।

टीका—सप्तक के ही बारह स्वर भाँति-भाँति से मेलों में लिये जाते हैं और मेलों से राग निमित्त होते हैं । इसलिए, रागोत्पत्ति के मूलभूत कारण स्वर ही हैं । यहाँ 'हेतु' का अर्थ कारण है ।

सूक्ष्मस्वरप्रयोगाणां विधानं श्रूयते क्वचित् ।

ग्रन्थोक्तनियमाभावात्तच्चर्चा वादमूलका ॥४१९॥

रागों में सूक्ष्म स्वरों के प्रयोग का विधान भी कहीं-कहीं सुनाई देता है, किन्तु उनकी चर्चा विवादास्पद है, क्योंकि तद्विषयक नियम सङ्गीत के शास्त्र-ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होते ।

टीका—ऐसा कहा जाता है कि रागों में मान्य बारह स्वरों के अतिरिक्त अन्य सूक्ष्म स्वरों या ध्वनियों का प्रयोग भी होता है । यह सत्य भी है किन्तु उनकी चर्चा यहाँ करना विवादों को जन्म दे सकता है; क्योंकि, एक तो, शास्त्रग्रन्थों में ऐसे सूक्ष्म ध्वनिप्रयोगों के विषय में कोई स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध

१३४ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गातम्

नहीं होते; दूसरे, ऐसे सूक्ष्म प्रयोग न तो लिख कर समझाये जा सकते हैं और न उनके विषय में विद्वानों का मतैक्य ही है ।^१

एकस्मिन्नेव रागे स्याद् भिन्नश्रुतिप्रयोजनम् ।

स्वरसङ्गत्यधीनं तदिति लक्ष्यविदो विदुः ॥४२०॥

एक ही राग में भिन्न-भिन्न श्रुतियों या ध्वनियों का प्रयोग, स्वर-सङ्गतियों के अन्तर्गत और उनके अनुसार किया जाता है, यह लक्ष्यज्ञ विद्वानों को ज्ञात ही है ।

भिन्नश्रुतिसमाधोगे परिणामो भवेत् पृथक् ।

विज्ञानं तु तथाप्येतच्छ्रोतृगणेश्चिदुल्लभम् ॥४२१॥

भिन्न-भिन्न श्रुतियों के प्रयोग के कारण राग का प्रभाव भी भिन्न-भिन्न होता है, किन्तु श्रोताओं में राग के प्रभाव का ज्ञान प्राप्त कर सकना अत्यन्त कठिन है ।

टीका—यह तो निश्चित है कि राग में विभिन्न श्रुतियों अथवा सूक्ष्म ध्वनियों के प्रयोग के कारण राग के प्रभाव में भी यत्किञ्चित् परिवर्तन होता है । परन्तु इसका अनुमान लगा सकना तथा उसके आधार पर यह कह सकना कि अमुक राग में अमुक श्रुतियों के प्रयोग से अमुक प्रभाव होता है, असम्भव सा प्रतीत होता है ।

सर्वमेतत्समालोच्य लक्ष्यमार्गानुसारिणा ।

द्वादशैव स्वरा अत्र मया मेलेषु निश्चिताः ॥४२२॥

इन समस्त तथ्यों का सूक्ष्म अवलोकन करते हुए मैंने वर्तमान प्रचार के अनुसार प्रसिद्ध बारह स्वरों को ही मेलों में निश्चित किया है ।

टीका—राग में सूक्ष्म स्वरों या श्रुतियों के प्रयोग के विषय में मतैक्य के अभाव तथा उनके परिणामों के ज्ञान की असम्भाव्यता पर विचार करते हुए, मेलों में मान्य बारह स्वरों को योजित करना तथा उन बारह स्वरों से युक्त मेलों द्वारा रागोत्पत्ति वर्णित करना ही श्रेयस्कर है ।

तथा हि रागतत्त्वविबोधे ।

रागतत्त्वविबोध में भी यही कहा गया है—

१. विस्तार के लिए दिखिये—आगामी पृष्ठों में राग-परिभाषा पर अनुवादक की टिप्पणी ।

स्वराध्याय : १३५

श्रुतयो द्वादशैवात्र स्वरस्थानतयोदिताः ।

तथोक्तवारिताः सर्वास्वरस्थानतयादिशेत् ॥४२३॥

वारह श्रुतियाँ वारह स्वर-स्थानों के द्वारा व्यक्त होती हैं। उनके अति-रिक्त अन्य समस्त श्रुतियाँ अस्वर या स्वर-विहीन स्थान मानी जाती हैं।

टीका—यहाँ अभिप्राय यह है कि २२ श्रुतियों में से केवल १२ ही स्वर-नाम प्राप्त करती हैं; शेष १० श्रुतियाँ स्वर नहीं बनतीं।

न श्रुतिस्थस्वरोत्पन्नप्रस्तारप्राप्तमेलजान् ।

युक्तोद्ग्राहयुजो रागान् कल्पयन्तु मनीषिणः ॥४२४॥

इन श्रुतिस्थ स्वरों से उत्पन्न एवं प्रसार प्राप्त मेलों से उपयुक्त उद्ग्राह-युक्त रागों की कल्पना विद्वानों को नहीं करनी चाहिए।

मैलाः स्युर्मूर्च्छनाधारा रागास्तु मूर्च्छनाश्रिताः ।

अतो वक्ष्ये प्रकारान्तान् मूर्च्छनाया नवोदितान् ॥४२५॥

मेल मूर्च्छनाओं के लिए आधारभूत हैं तथा राग मूर्च्छनाओं पर आश्रित हैं। अतः मैं मूर्च्छनाओं से नवनिर्मित उन प्रकारों का वर्णन करता हूँ।

टीका—यहाँ 'मूर्च्छना' का अर्थ क्रमयुक्त स्वरों का समूह है। प्राचीन मूर्च्छना वस्तुतः ग्राम के मूलभूत स्वरों में से किसी स्वर को षड्ज मान कर प्राप्त किये गये भिन्न-भिन्न अन्तरों वाले क्रमयुक्त सप्तस्वरों का ही नाम था। मेल में भी सात स्वर होते हैं। इस तरह मेल अपने आपमें मूर्च्छना कहा जा सकता है। फिर, जिस प्रकार सप्तस्वरीय मूर्च्छनाओं से षाडवित और औडुवित मूर्च्छनाएँ बनती हैं, उसी प्रकार मेल के सप्त स्वरों से भी षट्स्वरीय और पञ्च स्वरीय क्रम बनते हैं, जिन्हें मूर्च्छना-भेद कहा गया है। सम्पूर्ण, षाडव और औडुव मूर्च्छनाओं से सम्पूर्ण-सम्पूर्ण आदि ९ भेद बनाने की विधि अपेक्षाकृत नवीन है।

मैलानुसारतो लक्ष्ये त्रिविध्यं मूर्च्छनागतम् ।

स्पष्टं मया पुरंवोक्तं पुनरुक्तिनिरर्थिका ॥४२६॥

मेलों के ही समान मूर्च्छनाओं की आधुनिककालीन त्रिविधता का स्पष्ट वर्णन मैं पहले कर चुका हूँ, अतः यहाँ उसका पुनः कथन निरर्थक ही है।

पर्यायो मूर्च्छनायाः स्याल्लक्ष्ये मेल समावृतः ।

षाडबौडुवसम्पूर्णभिद्द्वारा रागवाचकः ॥४२७॥

१३६ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

‘मेल’ सम्भवतः मूर्च्छना का अधुना प्रचलितपर्याय है जो अपने सम्पूर्ण, षाडव एवं औडुव भेदों के द्वारा राग-वाचक बनता है ।

मेलगत मूर्च्छनाओं के ९ भेद

आरोहे स्यात्सुसम्पूर्णो विलोमेऽपि तथैव च ।
 स भवेत्प्रथमो भेदो द्वितीयः कथ्यतेऽधुना ॥४२८॥
 प्रारोहे स्यात्सुसम्पूर्णो विलोमे षाडवः पुनः ।
 तृतीयः पूर्ण आरोहे विलोमे चौडुवस्तथा ॥४२९॥
 प्रारोहे षाडवः प्रोक्तः सम्पूर्णः स्याद्विलोमके ।
 चतुर्थो वर्णितो भेदः पञ्चमः कथ्यतेऽधुना ॥४३०॥
 आरोहे चौडुवो यस्तु सम्पूर्णश्च विलोमके ।
 प्रारोहे षाडवो नित्यं विलोमेऽपि तथैव च ॥४३१॥
 षाडवषाडवः षष्ठः कीर्तितो लक्ष्यवेदिभिः ।
 प्रारोहे षाडवख्यातो विलोमे चौडुवः पुनः ॥४३२॥
 सप्तमः सम्मतो भेदोऽष्टमोऽपि कथ्यतेऽधुना ।
 औडुवारोहसम्पन्नो विलोमे षाडवः पुनः ॥४३३॥
 औडुवो रोहणे नित्यसवरोहेऽपि चौडुवः ।
 नयमः कथ्यते भेदो लक्ष्ये नित्यं सुखप्रदः ॥४३४॥

इन श्लोकों में मेलगत सप्त स्वरों के आरोह तथा अवरोह दोनों के सम्पूर्ण, षाडव तथा औडुव नामक तीन प्रकारों के द्वारा निर्मित ९ सम्मिश्र प्रकार बताये गये हैं, जो इस प्रकार हैं :—

प्रथम भेद—आरोह तथा अवरोह दोनों में सम्पूर्ण ।
 द्वितीय भेद—आरोह में सम्पूर्ण तथा अवरोह में षाडव ।
 तृतीय भेद—आरोह में सम्पूर्ण तथा अवरोह में औडुव ।
 चतुर्थ भेद—आरोह में षाडव तथा अवरोह में सम्पूर्ण ।
 पञ्चम भेद—आरोह में षाडव तथा अवरोह में भी षाडव ।
 षष्ठ भेद—आरोह में षाडव तथा अवरोह में औडुव ।
 सप्तम भेद—आरोह में औडुव तथा अवरोह में सम्पूर्ण ।
 अष्टम भेद—आरोह में औडुव तथा अवरोह में षाडव ।
 नवम भेद—आरोह तथा अवरोह दोनों में औडुव ।

द्विसप्ततिर्यतो मेलः शास्त्रकारैः सुनिश्चिताः ।

प्रत्येकमेलनेऽवश्यं नवभेदा भवन्त्यमी ॥४३५॥

शास्त्रकारों ने जो ७२ मेल प्रतिपादित किये हैं उनमें से प्रत्येक मेल के द्वारा उपर्युक्त ९ प्रकार निर्मित होते हैं ।

मेलों से उत्पन्न हो सकने वाले रागों की संख्या का निर्णय

यहाँ यह बताया गया है कि उपर्युक्त ९ भेदों के अनुसार मेलों से कितने राग उत्पन्न हो सकते हैं ।

अथ कुर्वे प्रबोधार्थं जिज्ञासूनां निरूपणम् ।

मूर्च्छनोद्भूतरागाणां प्रस्फुटं शास्त्रसम्मतम् ॥४३६॥

जिज्ञासुओं के ज्ञान के लिए मैं उपर्युक्त मूर्च्छनाओं से उत्पन्न रागों का शास्त्रोक्त निरूपण स्पष्ट करता हूँ ।

शुद्धस्वरसमुद्भूता मूर्च्छना या प्रकीर्तिता ।

तत्र सम्भाव्यरागाणां कुर्मः सङ्ख्यानिदर्शनम् ॥४३७॥

शुद्धस्वरोत्पन्न जो मूर्च्छना मानी जाती है, उससे सम्भाव्य रागों की संख्या का निदर्शन हम कर रहे हैं ।

टीका— यहाँ शुद्ध स्वरयुक्त मेल की मूर्च्छनाओं से उत्पन्न हो सकने वाले रागों की संख्या बतायी जा रही है । अन्य मेलों से भी उसी प्रकार और उतने ही राग बन सकते हैं ।

पूर्णारोहादरोहः स्यात् प्रकारस्त्वेक एव हि ।

सम्पूर्ण आरोह और अवरोह युक्त केवल एक राग बन सकता है ।

सम्पूर्णषाडवास्तत्र षडेव भवन्ति ते ॥४३८॥

सम्पूर्ण षाडव में छह राग-प्रकार बनते हैं ।

सम्पूर्णौडवकाश्चाथ पञ्चदशमिता मताः ।

इति परिस्फुटं भूयादनायासेन तद्विदाम् ॥४३९॥

सम्पूर्ण औडव राग-प्रकार १५ होंगे, यह तो विद्वानों को अनायास ही स्पष्ट हो जाता है ।

षाडवारोहसम्पन्ना बिलोसे षाडवाः पुनः ।^१

षट्त्रिंशद्देवकास्तत्र सन्त्यन्ते लक्ष्यकोविदैः ॥४४०॥

१. इस पंक्ति में षाडव-षाडव प्रकार बताया है । उसके पहले षाडव-सम्पूर्ण प्रकार का उल्लेख होना चाहिए, किन्तु 'श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्' में, जाने किस कारण से, वह अप्राप्य है । षाडव-सम्पूर्ण राग-प्रकार कुल ६ बनते हैं ।

१३८ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

षाडव आरोह तथा षाडव अवरोह वाले भेद विद्वानों ने ३६ माने हैं ।

षाडबौडुवभेदास्ते नवतिः सम्प्रकीर्तिताः ।

पञ्चदशहताः षट् ते परिस्पृष्टं विवेकिनाम् ॥४४१॥

षाडव-औडुव भेद ९० कहे गये हैं । विद्वानों को यह स्पष्ट हो जाता है कि ६ को १५ से गुणा करने पर ये ९० प्रकार बनते हैं ।

टीका—ग्रन्थकार का अभिप्राय यह है कि सूत्र जनों को यह बताने की आवश्यकता नहीं कि पूर्वोक्त छह षाडव आरोहों में से प्रत्येक से १५ औडुव अवरोहों को जोड़ने पर $६ \times १५ = ९०$ षाडव-औडुव प्रकार बनते हैं ।

औडुवारोहसम्पन्ना सम्पूर्णा अवरोहणे ।

पञ्चदश प्रकारास्ते सम्भवेयुर्मते विद्वाम् ॥४४२॥

विद्वानों के मतानुसार औडुव आरोह और सम्पूर्ण अवरोह वाले १५ प्रकार सम्भव हैं ।

औडुवारोहसंयुक्ता विलोमे षाडवास्तथा ।

नवतिप्रमिता भेदा सर्वलक्ष्यज्ञसम्मताः ॥४४३॥

समस्त लक्ष्यज्ञ विद्वान मानते हैं कि औडुव आरोह और षाडव अवरोह-युक्त भेद ९० होते हैं ।

औडुबौडुवभेदास्ते शरनेत्रकराः स्मृताः ।

औडुव-औडुव भेद २२५ कहे गये हैं ।

टीका—‘शरनेत्रकराः’ में शर=५ (कामदेव के पाँच शर होते हैं), नेत्र=२, कर=२ ये अंक संकेतित हैं । ‘अङ्कानां वामतो गतिः’ इस विधान के अनुसार ‘शरनेत्रकराः’ द्वारा व्यक्त संख्या २२५ है ।

एकैकस्यां मूर्च्छनायां प्रकाराः सम्भवन्त्यमी ॥४४४॥

प्रत्येक मूर्च्छना (अर्थात् मेल) से इतने प्रकार उत्पन्न होते हैं ।

द्विसप्ततिमेलकेषु न्यायेनैतेन लक्षिताः ।

वसुवेदवसुवेदरासा भेदा भवन्ति ते ॥४४५॥

इसी न्याय, अथवा नियम से ७२ मेलों से ३४८४८ भेद निर्मित होते हैं ।

स्वराध्याय : १३९

टीका—उपर्युक्त सम्पूर्ण-सम्पूर्ण आदि ९ भेदों के द्वारा प्रत्येक मेल से कुल ४८४ राग-प्रकार बनते हैं :—

सम्पूर्ण-सम्पूर्ण— १

सम्पूर्ण-षाडव— ६

सम्पूर्ण-औडव— १५

षाडव-सम्पूर्ण— ६

षाडव-षाडव— ३६

षाडव-औडव— ९०

औडव-सम्पूर्ण— १५

औडव-षाडव— ९०

औडव-औडव— २२५

कुल ४८४

अतः ७२ मेलों से $४८४ \times ७२ = ३४८४८$ राग-प्रकार बन सकते हैं ।

‘वसुवेदवसुवेदरामाः’ में वसु = ८ (वसु अर्थात् नाग ८ माने गये हैं), वेद = ४ तथा राम = ३ जानना चाहिए ।

त्रैविध्यान्मेलनस्यात्र यतो रागसमुद्भवः ।

उपर्युक्तप्रकारास्ते रागत्वं यान्त्यसंशयम् ॥४४६॥

यह संशयरहित है कि जब सम्पूर्णादि त्रिविध मेल-प्रकारों से रागोत्पत्ति होती है, तब उपर्युक्त प्रकार ही रागत्व प्राप्त करते हैं ।

टीका—सम्पूर्ण षाडव और औडव आरोहावरोहों के परस्पर संयोजन से जो ९ प्रकार तथा उन ९ प्रकारों के द्वारा प्रत्येक मेल से उत्पन्न होने वाले जो प्रकार हैं वे ही राग कहे जा सकते हैं, यह मन्तव्य है ।

हिन्दुस्थानीयपद्धत्यां मार्गास्त्युरपरा अपि ।

लक्ष्यविद्धिः समादिष्टा रागोत्पादनहेतवे ॥४४७॥

इनके अतिरिक्त रागोत्पादन के लिए हिन्दुस्थानी पद्धति में अन्य मार्ग अथवा उपाय भी लक्ष्यज्ञ विद्वानों ने बताये हैं ।

टीका—एक-एक मेल से ४८४ रागों की उत्पत्ति का नियम केवल आरोहावरोहगत स्वरों की संख्या पर आधृत गणितीय नियम है । इसके अतिरिक्त अन्य कई तरह से राग बन सकते हैं । यथा वादी-संवादी के परिवर्तन से, पूर्वाङ्ग या उत्तराङ्ग के प्राबल्य-क्षीणत्व से, विवादी स्वर के प्रयोग से, न्यास-

१४० : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

भेद से, स्वरों के उच्चार या 'लगाव' की भिन्नता से, इत्यादि। कुछ उपाय 'चतुरपण्डित' ने भी आगामी श्लोकों में बताये हैं।

प्रारोहे सम्प्रयुक्तास्ते स्वराः न स्युर्विलोमके ।

अथवा तद्विपर्यासो जनयेद्रागभेदकम् ॥४४८॥

आरोह में लिये गये स्वरों को अवरोह में न लेने से अथवा उनका क्रम उलट देने से भिन्न राग बन जाता है।

टीका—आरोह और अवरोह में अलग-अलग स्वरों का प्रयोग करने पर नया राग बन सकता है। इसी प्रकार आरोह या अवरोह के स्वरों का क्रम बदल देने से भी नया राग बन सकता है। कुछ उदाहरण देखिए—

(अ) सा रे मं प नि सा । सा नि प म रे सा ।

(ब) सा ग म घ नि सा । सा नि प ग रे सा ।

इत्यादि ।

रागोचितस्वरेषु स्याद्विशिष्टा वक्रता वचचित् ।

समानस्वरपङ्क्तौ वा वादिभेदाद्भवेद्भ्रुवा ॥४४९॥

रागोचित स्वरों में कभी विशेष ढंग से वक्रत्व के प्रयोग से अथवा समान स्वरों की दो पङ्क्तियों में (अर्थात् वे ही स्वर दो रागों में लेते हुए) वादी स्वर अलग-अलग लेने से, अलग राग बन जाता है।

टीका—स्वरों को वक्र रूप में प्रयुक्त करने पर राग-स्वरूप भिन्न हो जाता है। उदाहरणार्थ 'सा ग म घ नि सा' इन स्वरों से 'सा ग, म घ, नि सा' यह एक राग-स्वरूप बनता है; और 'सा ग, म घ, नि घ सा' इस प्रकार वक्र ढंग से एक भिन्न ही रागस्वरूप बनता है। वादी स्वर के परिवर्तन से राग-भेद हो जाता है, यथा 'सा रे ग प घ सा' इस औडुव शुद्धस्वरीय समूह में गान्धार के वादित्व से भूपाली तथा धैवत के वादित्व से देशकार ये दो भिन्न-भिन्न राग बनते हैं।

न रागाणां न तालानामन्तः कुत्रापि विद्यते ।

इति यच्छ्रूयते लोके केवलं सत्यमेव तत् ॥४५०॥

रागों और तालों का कहीं अन्त नहीं है—यह लोकप्रसिद्ध उक्ति सत्य ही है।

यद्यप्यसङ्ख्यरागास्ते वर्णिताः शास्त्रगोचराः ।

प्रतीता लक्ष्यके त्वन्न रागाः कतिचिदेव हि ॥४५१॥

स्वराध्याय : १४१

यद्यपि शास्त्रग्रन्थों में असंख्य राग वर्णित किये गये दिखायी देते हैं, तथापि वर्तमान प्रचार में कुछ ही राग हैं।

महर्ष्यो रागसङ्ख्यास्ता ग्रन्थकारैः समीरिताः ।

लक्ष्ये प्रसिद्धिवैधुर्यादनेकाः स्युरपेक्षिताः ॥४५२॥

ग्रन्थकारों ने तो रागों की बड़ी-बड़ी संख्याएँ बतायी हैं, परन्तु अप्रसिद्ध या अप्रचलित हो जाने के कारण उनमें से अनेक राग आज के सङ्गीत में उपेक्षित हैं।

आधुनिकास्तु निष्णाता गायका लक्ष्यवर्तमनि ।

गायन्तस्तत्र श्रूयन्ते क्वचिद्वागशतद्वयम् ॥४५३॥

प्रचलित सङ्गीत में आधुनिक निष्णात गायक लगभग २०० रागों को गाते हुए दिखाते हैं।

तात्पर्य यह कि आज अधिक से अधिक २०० राग सुनायी देते हैं।

रञ्जनाद्वागता प्रोक्तो नियमो लक्ष्यवेदिभिः ।

रागसङ्ख्याप्यवश्यं स्यात्तेन मर्यादिता स्फुटम् ॥४५४॥

रञ्जकता-गुण को लक्ष्यज्ञों ने 'राग' का रागत्व-लक्षण प्रतिपादित किया है। अतः उस नियम के द्वारा रागों की संख्या अवश्य ही सीमित हो जाती है।

टीका—राग का प्राणभूत तत्व है—आनन्द अथवा 'रस' की सृष्टि। राग शब्द स्वयं 'रञ्ज्' धातु से व्युत्पन्न है। कर्णप्रिय मनोरञ्जक ध्वनि-रचना को ही 'राग' कहा गया है। वैसे शास्त्रप्रतिपादित लक्षणानुसार तो असंख्य राग हो सकते हैं जिनका वर्णन ग्रन्थों में भी उपलब्ध है, किन्तु रञ्जकत्व की कसौटी पर खरे उतरने वाले 'राग' ही सच्चे अर्थों में 'राग' कहे जा सकते हैं। पूर्वोक्त मेल-मूर्च्छनाजन्य सम्पूर्ण-सम्पूर्णादि नवधा राग-प्रकार गणित-सिद्ध हैं, परन्तु उनमें से सभी रंजक नहीं हो सकते। साथ ही, लोकरुचिपरिवर्तनानुसार एक युग में प्रचलित राग आगामी काल में अनाकर्षक प्रतीत होने लगते हैं। इसी लिए रञ्जकत्व के निकष पर खरे उतरे केवल कुछ ही राग प्रचार में रह जाते हैं, शेष स्वतः ही प्रचार-बाह्य हो जाते हैं।

अनूपसङ्गीतविलास में उल्लिखित नवविध राग

ग्रन्थेऽनूपविलासाख्ये भावभट्टेन धीमता ।

रागो नवविधः प्रोक्तो मूर्च्छनाभेदसाम्यतः ॥४५५॥

अनूपसङ्गीतविलास नामक ग्रन्थ में पण्डित भावभट्ट ने उपर्युक्त ९ मूर्च्छना-भेदों से साम्य रखने वाले ९ राग-प्रकार बताये हैं।

१४२ : श्रीमल्लक्यसङ्गीतम्

तथा हि ।

रागस्तु नवधा प्रोक्ताः पूर्णः स्यात् सप्तिभिः स्वरैः ।

षड्भिः षाडवसंज्ञः स्यादौडुवः पञ्चभिर्भवेत् ॥४५६॥

यथार्थनामकाः षट्स्युभेदा भावप्रभाषिताः ।

पूर्णौडुवसंज्ञकस्तु

पूर्णषाडवसंज्ञकः ॥४५७॥

तथौडुवरूपपूर्णः स्यात् षाडवाद्यस्तु पूर्णकः ।

षाडवौडुवकश्चापि

तथौडुवकषाडवः ।

प्रोक्तो नवविधो रागः श्रीजनार्दनसूनुना ॥४५८॥

राग के ९ प्रकार बताये गये हैं । सप्तस्वरयुक्त राग पूर्ण (या सम्पूर्ण) कहा जाता है । ६ स्वरों से युक्त राग षाडव तथा ५ स्वरयुक्त राग औडुव कहे जाते हैं । अन्य ६ राग-प्रकार भावभट्ट ने बताये हैं, जो यथार्थ नामक, यानी अपने नाम से ही अपने आरोहावरोह के स्वरों की संख्या सूचित करने वाले हैं—सम्पूर्ण-षाडव, सम्पूर्ण-औडुव, षाडव-सम्पूर्ण, षाडव-औडुव, औडुव-सम्पूर्ण तथा औडुव-षाडव । श्रीजनार्दन के पुत्र भावभट्ट ने इस प्रकार राग को नवविध बताया है ।

टिप्पणी

मूच्छन्नानामतो मन्ये रहस्यं तत्पुरोदितम् ।

प्रापितं मेलकेष्वत्र येन केनापि वर्त्मना ॥४५९॥

मेरी मान्यता है कि पूर्ववर्तियों द्वारा प्रतिपादित मूच्छन्ना का गूढ़ सिद्धान्त आज मेलों में येन-केन प्रकारेण घटित कर दिया गया है ।

टीका—‘चतुर पण्डित’ का अभिप्राय यह है कि मूच्छन्नाओं का प्राचीन रहस्य और स्वरूप आज लुप्त और दुर्बोध हो चला है, फिर भी केवल स्वर-साम्य या रूप-साम्य के कारण मेल तथा मेल के आरोह एवं अवरोह से बनाये जाने वाले सम्पूर्णोदि प्रकारों के सम्बन्ध मूच्छन्ना तथा मूच्छन्ना के षाडवादि भेदों के साथ जैसे-तैसे जोड़ दिये गये हैं ।

मूच्छन्नाजन्य राग-प्रकारों का निरूपण

सम्पूर्ण-सम्पूर्ण प्रकार—१

आरोह

अपरोह

(१) स रि ग म प ध नि | नि ध प म ग रि स

स्वराध्याय : १४३

सम्पूर्ण-षाडव प्रकार—६

(१) स रि ग म प घ नि	० घ प म ग रि स
(२) —————, —————	नि ० प म ग रि स
(३) —————, —————	नि घ ० म ग रि स
(४) —————, —————	नि घ प ० ग रि स
(५) —————, —————	नि घ प म ० रि स
(६) —————, —————	नि घ प म ग ० स

सम्पूर्ण-औडव प्रकार—१५

(१) स रि ग म प घ नि	० ० प म ग रि स
(२) —————, —————	० घ ० म ग रि स
(३) —————, —————	० घ प ० ग रि स
(४) —————, —————	० घ प म ० रि स
(५) —————, —————	० घ प म ग ० स
(६) —————, —————	नि ० ० म ग रि स
(७) —————, —————	नि ० प ० ग रि स
(८) —————, —————	नि ० प म ० रि स
(९) —————, —————	नि ० प म ग ० स
(१०) —————, —————	नि घ ० ० ग रि स
(११) —————, —————	नि घ ० म ० रि स
(१२) —————, —————	नि घ ० म ग ० स
(१३) —————, —————	नि घ प ० ० रि स
(१४) —————, —————	नि घ प ० ग ० स
(१५) —————, —————	नि घ प म ० ० स

१४४ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

षाडव-सम्पूर्ण प्रकार—६

(१) स री ग म प ध ०	नि ध प म ग री स
(२) स री ग म प ० नि	_____ , _____
(३) स री ग म ० ध नि	_____ , _____
(४) स री ग ० प ध नि	_____ , _____
(५) स री ० म प ध नि	_____ , _____
(६) स ० ग म प ध नि	_____ , _____

औडव-सम्पूर्ण प्रकार—१५

(१) सा री ग म प ० ०	नि ध प म ग री स
(२) सा री ग म ० ध ०	_____ , _____
(३) सा री ग ० प ध ०	_____ , _____
(४) सा री ० म प ध ०	_____ , _____
(५) सा ० ग म प ध ०	_____ , _____
(६) सा री ग म ० ० नि	_____ , _____
(७) सा री ग ० प ० नि	_____ , _____
(८) सा री ० म प ० नि	_____ , _____
(९) सा ० ग म प ० नि	_____ , _____
(१०) सा री ग ० ० ध नि	_____ , _____
(११) सा री ० म ० ध नि	_____ , _____
(१२) सा ० ग म ० ध नि	_____ , _____
(१३) सा री ० ० प ध नि	_____ , _____
(१४) सा ० ग ० प ध नि	_____ , _____
(१५) सा ० ० म प ध नि	_____ , _____

षाडवषाडवाः षट्त्रिंशत् प्रकाराः ।

षाडवौडविता नवति प्रकाराः ।

औडुवषाडवा नवति प्रकाराः ।

औडुबौडुवाः पञ्चविंशत्यधिकशतद्वयम् ।

षाडव-षाडव प्रकार ३६ होते हैं और षाडव-औडुव ९० । औडुव-षाडव के प्रकार ९० बनते हैं तथा औडुव-औडुव २२५ ।

तान-प्रकरण

येन विस्तार्यते रागः स तानः कथ्यते बुधैः ।

शुद्धकूटविभेदेन द्विविधास्ते समीरिताः ॥४६०॥

राग का विस्तार जिसके द्वारा किया जाता है, उसे 'तान' कहते हैं । तान के दो भेद बताये गये हैं—शुद्ध तान एवं कूट तान ।

टीका—रागोचित स्वरों के भिन्न-भिन्न प्रकार के समूहों को (जिनके द्वारा रागस्वरूप का विस्तार किया जाता है) 'तान' कहते हैं । 'तान' शब्द के अर्थ में प्राचीनकाल तथा आधुनिक काल में पर्याप्त भिन्नता परिलक्षित होती है । प्राचीन अर्थों में शुद्ध मूर्च्छना के षाडवित तथा औडुवित प्रकार ही 'शुद्ध-तान' है; तथा जिस तान में स्वरों का क्रम भंग हो उन्हें 'कूटतान' कहा गया है । षाडवित-औडुवित शुद्ध मूर्च्छनाएं तथा षाडव-औडुव आदि शुद्ध तानों में भेद बताते हुए आचार्य मतङ्ग ने कहा है—“ननु कथं मूर्च्छनातानयोर्भेदः ? उच्यते । आरोहावरोहक्रमयुक्तः स्वरसमुदायो मूर्च्छनेत्युच्यते, तानस्वारोहणं भवतीति भेदः ।” तात्पर्य यह कि मूर्च्छना में आरोह और अवरोह दोनों ही होते हैं, किन्तु तान केवल आरोहात्मक होती है । राग-विस्तार में शुद्ध एवं कूट तानों का प्रयोग किस प्रकार तथा कहाँ किया जाता है, इस पर ग्रन्थों में स्पष्टीकरण नहीं मिलता । आधुनिक अर्थों में, 'तान' शब्द द्रुत लय में स्वरों के विशिष्ट स्वरूपवाले समूहों द्वारा रागविस्तार के लिये प्रयुक्त होता है ।

शुद्धतानरहस्यं तल्लक्ष्ये नेह परिस्फुटम् ।

अतो विवेचनं तेषां नैवात्र सार्थकं भवेत् ॥४६१॥

प्रचलित सङ्गीत में शुद्ध तानों का सिद्धान्त स्पष्ट नहीं है, अतः उसका विवेचन यहाँ उपादेय नहीं है ।

केचिद्वदन्ति तानेभ्य एतेभ्यो लक्ष्यवत्सर्गि ।

प्रसिद्धं रागत्रैविध्यं साधितं गानकोविदैः ॥४६२॥

१४६ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

कुछ लोग कहते हैं कि इन तानों के द्वारा आधुनिक सङ्गीत में गायकों ने सुपरिचित राग-त्रैविध्य को सिद्ध किया है ।

टीका—‘रागत्रैविध्य’ की दो व्याख्याएँ सम्भव हैं । प्रथम—सम्पूर्ण, षाडव तथा औडव इन तीन प्रकारों के राग तथा द्वितीय—शुद्ध, छायालग एवं सङ्कीर्ण ये तीन राग-प्रकार । शास्त्रोक्त तान-प्रकारों के द्वारा सम्पूर्णादि राग सिद्ध होते हैं, यह एक अर्थ हो सकता है । दूसरे अर्थ के अनुसार इन तानों के आधार पर शुद्ध तथा छायालग और सङ्कीर्ण नामक मिश्र-रागस्वरूपों की सिद्धि होती है । यह अर्थ आगे उद्धृत चतुर्दण्डप्रकाशिका के अंश से भी ध्वनित होता है । किन्तु पूर्वसन्दर्भवशात् यहाँ पहला अर्थ ही ग्राह्य प्रतीत होता है ।

चतुर्दण्डप्रकाशिकायाम्

तानो द्विधा शुद्धतानः कूटतान इति क्रमात् ।

एकैकरागमात्राभिव्यक्तिसम्पादकस्तु यः ॥४६३॥

स शुद्धतान इत्युक्तः कूटतानः स उच्यते ।

यस्तु रागद्वयस्फूर्तिः साधारणतया स्थितः ॥४६४॥

चतुर्दण्डप्रकाशिका में कहा गया है—“तानें दो प्रकार की होती हैं—शुद्ध तान और कूटतान । एक ही राग की अभिव्यक्ति करने वाली तान को शुद्ध तान कहते हैं । कूटतान वह है, जो अविशेष रूप से दो रागों की प्रतीति कराती है ।

ग्रन्थकारास्तु प्राचीना लक्ष्यगामि रहस्यकम् ।

तानानां नैव कुत्रापि विवृण्वन्तीति प्रस्फुटम् ॥४६५॥

यह स्पष्ट ही है कि प्राचीन ग्रन्थकारों ने तान विषयक आधुनिक सिद्धान्त की विवेचना कहीं नहीं की है ।

सङ्गीतरत्नाकर में कूटतान का निरूपण

असम्पूर्णाश्च सम्पूर्णा व्युत्क्रमोच्चारितस्वराः ।

मूर्च्छनाः कूटतानाः स्फुटतत्सङ्घट्टामभिदधमहे ॥४६६॥

व्युत्क्रम से लिये गये स्वरों वाली सम्पूर्ण तथा असम्पूर्ण मूर्च्छनाओं को कूटतानें कहते हैं । उनकी संख्या हम बता रहे हैं ।

टीका—ध्यातव्य है कि यहाँ व्युत्क्रम से तात्पर्य है, मूलक्रम, यानी ग्राम या सप्तक में स्थित सा, रे, ग.... इस मौलिक क्रम का भंग होना । ‘सा

स्वराध्याय : १४७

रे ग म प घ नि' यह मूर्च्छना है, क्योंकि यहाँ मूल-क्रम विद्यमान है। किन्तु 'सा ग रे म प घ नि' यह सप्त-स्वरीय समूह कूट तान कहा जायगा, क्योंकि उसमें सा के बाद रे छोड़कर ग लिया गया है और ग के बाद म न ले कर रे लिया गया है, और फिर रे के बाद ग न होकर म है। 'असम्पूर्ण' का यहाँ अर्थ है—जो सम्पूर्ण या सप्त-स्वरीय न हो। व्यापक अर्थों में छह, पाँच, चार, तीन, दो अथवा एक स्वर से युक्त क्रम-विहीन स्वर-समूह को कूटतान कहा जा सकता है तथा कहा भी गया है।

पूर्णाः पञ्चसहस्राणि चत्वारिंशद्युतानि तु ।

एकैकस्यां मूर्च्छनायां कूटतानाः सह क्रमैः ॥४६७॥

प्रत्येक मूर्च्छना से, क्रम के साथ निर्मित होने वाली पूर्ण कूट तानों की संख्या ५०४० है।

स्युः षाडवानां विंशत्या सह सप्तशतानि तु ।

औडुवानां तु विंशत्या सहितं शतमिष्यते ॥४६८॥

षाडव कूटतानें ७२० और औडुव १२० बतायी गयी हैं।

चतुःस्वराणां कूटानां चतुर्विंशतिरीरिताः ।

त्रिस्वराः षड् द्विस्वरौ द्वावेकस्त्वेकस्वरो मतः ॥४६९॥

चतुःस्वरीय कूटतानें २४, त्रिस्वरीय ६, द्विस्वरीय २, और एकस्वरीय कूट तान १ होती हैं।

नियमोऽयं यथायोग्यं कल्पनीयो विचक्षणैः ।

उपर्युक्ते तु प्रस्तारे मूर्च्छनायाः सविस्तरम् ॥४७०॥

मूर्च्छनाओं के उपर्युक्त प्रस्तार में विद्वानों के द्वारा यह नियम (जो आगे बताया जा रहा है) यथायोग्य विस्तार सहित ध्यान रखने योग्य है।

अङ्कानेकादिसप्तान्तानूर्ध्वमूर्ध्वं लिखेत् क्रमात् ।

हृते पूर्वेण पूर्वेण तेषु चाङ्के परे परे ।

एकस्वरादिसङ्ख्या स्यात् क्रमेण प्रतिमूर्च्छनम् ॥४७१॥

१ से लेकर ७ तक अङ्कों को क्रमशः ऊर्ध्व क्रम में, अर्थात् नीचे से ऊपर की ओर लिखा जाय। प्रत्येक आगामी अङ्क को उसके पूर्व के अङ्कों से गुणा करने पर, प्रत्येक मूर्च्छना से उत्पन्न होने वाली एकस्वरीय आदि कूटतानों की संख्या ज्ञात हो सकती है।

१४८ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

टीका—उपर्युक्त विवरण के अनुसार अङ्क इस प्रकार लिखे जायेंगे:—

७

६

५

४

३

२

१

जितने स्वरों वाली तानों की संख्या ज्ञात करना है, उस अङ्क को पहले के सभी अङ्कों से गुणा करने पर कुल तान-संख्या ज्ञात हो सकती है—

एकस्वरीय तान—१

द्विस्वरीय तानें— $२ \times १ = २$

त्रिस्वरीय तानें— $३ \times २ \times १ = ६$

चतुःस्वरीय तानें— $४ \times ३ \times २ \times १ = २४$

औडुव तानें— $५ \times ४ \times ३ \times २ \times १ = १२०$

षाडव तानें— $६ \times ५ \times ४ \times ३ \times २ \times १ = ७२०$

सम्पूर्ण तानें— $७ \times ६ \times ५ \times ४ \times ३ \times २ \times १ = ५०४०$

सङ्गीतरत्नाकरोक्त प्रस्तार-नियम

क्रमं न्यस्य स्वरः स्थाप्यः पूर्वः पूर्वः परावधः ।

स खेदुपरि तत्पूर्वः पुरस्तूपरिवर्तिनः ॥

मूलक्रमक्रमात्पृष्ठे शेषाः प्रस्तार ईदृशः ॥४७२॥

इस श्लोक का भावार्थ यह है—यहाँ सप्त स्वरों के विभिन्न क्रमों के ज्ञान के लिए प्रस्तार-नियम बताया जा रहा है। पहले मूल क्रम—अर्थात् 'सा रे ग म प ध नि' ऐसा क्रम स्थापित किया जाय। फिर इस मूलक्रम के नीचे, प्रत्येक आगामी स्वर को लेकर क्रमशः उसका पूर्ववर्ती स्वर लिखना होगा। यदि वह पूर्ववर्ती स्वर ऊपर की पंक्ति में आगे आ गया हो, तो फिर उस पूर्ववर्ती का भी पूर्ववर्ती स्वर देखना होगा। यदि वह भी ऊपर आगे आ चुका हो तो फिर उसका भी पूर्ववर्ती स्वर लेना होगा। इस प्रकार निपाद से लेकर षड्ज तक देखते जाना होगा और जो पूर्ववर्ती स्वर ऊपर की पंक्ति में न आया हो, उसे ही लिखना होगा। (यही क्रिया ऊपर की पंक्ति के सभी स्वरों को

लेकर दुहरानी होगी ।) एक स्वर के नीचे जब उसका उचित पूर्ववर्ती स्वर लिख लिया गया हो, तब फिर आगे के स्वर ऊपर की पंक्ति से उतार लिये जायें । अब मूलक्रम का जो भी स्वर इस अवस्था में अवशिष्ट रह जाय, अर्थात् लिखा जाने से रह गया हो उसे इस पंक्ति के स्वरसे पहले लिख लिया जाय । अब शेष प्रस्तार भी इसी प्रकार होंगे । अर्थात्, अब जो स्वर-क्रम प्राप्त हुआ है, उसको ले कर पूर्ववर्ती स्वर को खोजने आदि की पूरी क्रिया जो ऊपर बताया गया है, करनी होगी । इस प्रकार, उस समय तक यह क्रिया दुहरानी होगी, जब तक ऐसा क्रम प्राप्त न हो जाय, जिसके पूर्ववर्ती स्वरों को ले कर अगला क्रम निकाल सकना सम्भव न हो । यह अन्तिम प्रस्तार होगा ।

टीका—प्रस्तार की यह क्रिया अत्यन्त ही जटिल है, और उसे उदाहरण के बिना समझना कठिन है । मान लीजिए, हम एक चतुःस्वरीय क्रम लेते हैं—सा रे ग म । अब इससे कुल कितने चतुःस्वरीय प्रस्तार बन सकते हैं, यह ऊपर की क्रिया के अनुसार हम स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं ।

(१) पहले मूलक्रम स्थापित करना होगा—सा रे ग म । यह पहला प्रस्तार माना जायगा ।

(२) अब इस मूलक्रम के प्रथम स्वर को लेकर उसके नीचे उसका पूर्ववर्ती स्वर लिखना है । यहाँ पहला स्वर सा है । सा आदि स्वर है, और उसके पूर्व कोई स्वर नहीं हो सकता । इसलिए सा के नीचे कोई स्वर नहीं लिखा जा सकता ।

(३) इसी लिए अब प्रथम स्वर को छोड़ कर दूसरा स्वर देखना होगा । दूसरा स्वर रे है । रे का पूर्ववर्ती स्वर सा है । अब यह देखना होगा कि यह पूर्ववर्ती स्वर, यानी सा, क्या ऊपर के मूलक्रम में कहीं आगे आ तो नहीं गया है ? यदि ऐसा हो, तो उसे यहाँ भी छोड़ देना होगा । हम देखते हैं कि मूलक्रम में रे के बाद यह स्वर आगे नहीं आया है । इसलिए, उसे रे के नीचे लिखा जा सकता है जैसे—

सा रे ग म

सा

(४) अब ऊपर की पंक्ति के आगे के स्वरों को नीचे उतार लेना होगा:—

सा रे ग म

सा ग म

१५० : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

- (५) नीचे की पंक्ति में, मूलक्रम का जो स्वर लिखा जाने से रह गया हो, उसे इस पंक्ति के प्रथम स्वर के पूर्व बचे हुए स्थान में लिख लेना होगा। यहाँ सा, ग और म आ गये हैं, केवल रे बच गया है। उसे ही सा के पहले लिखना होगा—

सा रे ग म
रे सा ग म

इस प्रकार, दूसरा चतुःस्वरीय प्रस्तार रे सा ग म बनता है।

- (६) अब इस दूसरे प्रस्तार रे सा ग म को ले कर यही पूरी क्रिया दोहरानी है। रे का पूर्ववर्ती सा है, परन्तु वह इस क्रम में सा के बाद आ चुका है, इसलिए रे के नीचे उसे नहीं लिखा जा सकता। दूसरा स्वर सा है, जिसका पूर्ववर्ती स्वर नहीं हो सकता। इसलिए सा के नीचे भी कुछ नहीं लिखा जा सकता। अब तीसरा स्वर ले कर देखना होगा। यह स्वर ग है। ग का पूर्ववर्ती रे है। रे को ग के नीचे लिखने से पूर्व यह देखना पड़ेगा कि कहीं वह आगे आ तो नहीं गया है। ग के बाद म आया है, रे नहीं। इसलिए ग के नीचे रे लिखा जा सकता है—

रे सा ग म
× × रे

आगे बचा हुआ स्वर नीचे की पंक्ति में उतार लिया जायगा—

रे सा ग म
× × रे म

अब मूलक्रम के दो स्वर सा और ग रह गये हैं, जो यहाँ नहीं आ पाये। उन्हें रे के पहले लिखना होगा—

रे सा ग म
सा ग रे म

इस तरह तीसरा प्रस्तार सा ग रे म बना।

- (७) अब सा ग रे म को ले कर यह प्रस्तारक्रिया की जायगी। हम पूरा वर्णन न दुहरा कर केवल सोपानक्रम से इसे बता रहे हैं :—

सा ग रे म
×
×

सा
सा रे म

ग सा रे म — यह चौथा प्रस्तार है।

(८) 'ग सा रे म' से आगे प्रस्तारक्रिया दुहराने पर—

ग सा रे म

×

×

×

सा

सा म

रे ग सा म — यह पाँचवाँ प्रस्तार है।

(९) 'रे ग सा म' से आगे प्रस्तारक्रिया करने पर—

रे ग सा म

×

रे

रे सा म

ग रे सा म — यह छठा प्रस्तार है।

(१०) 'ग रे सा म' से आगे प्रस्तारक्रिया द्वारा—

ग रे सा म

×

×

×

×

ग

सा रे म ग — यह सातवाँ प्रस्तार प्राप्त होगा।

(११) आगे के कुछ प्रस्तार देखिए—

सा रे म ग

×

सा

सा म ग

रे सा म ग — (८)

×

×

×

१५२ : श्रीमल्लक्यसङ्गीतम्

रे
रे ग
सा म रे ग — (९)

X

X

X

सा

सा रे ग

म सा रे ग — (१०)

म सा रे ग

X

X

X

X

सा

सा ग

रे म सा ग — (११)

X

X

रे

रे सा ग

म रे सा ग — (१२)

X

X

X

X

X

रे

सा ग म रे — (१३)

X

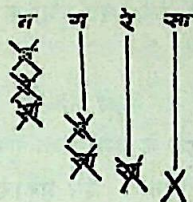
X

सा म रे

ग सा म रे — (१४)

—इत्यादि ।

(१२) इस प्रकार २४वाँ प्रस्तार 'म ग रे सा' प्राप्त होगा। अब इसे ले कर आगे प्रस्तार करने का प्रयत्न करें :—



म के नीचे उसके पूर्ववर्ती ग, रे या सा नहीं आ सकते क्योंकि ये आगे आ चुके हैं। ग के नीचे रे या सा भी इसी कारण नहीं हो सकता। रे के नीचे सा भी इसी लिए नहीं लिखा जा सकता। सा के नीचे कुछ नहीं हो सकता। इस प्रकार 'म ग रे सा' अन्तिम प्रस्तार होगा।

पहले बताया जा चुका है कि चतुःस्वरीय प्रस्तार कुल २४ होते हैं।



सङ्गीतदर्पण के अनुसार खण्ड-मेरु

नष्टोद्दिष्टप्रबोधार्थं खण्डमेरुरथोच्यते ।

'नष्ट' और 'उद्दिष्ट' के ज्ञान के लिए खण्ड-मेरु बताया जा रहा है।

सप्तकोष्ठां लिखेदाद्यां पंक्तिमेकैककोष्ठतः ॥४७३॥

हीनं तु पूर्वपूर्वं स्यात्पंक्तिषट्कमधो लिखेत् ।

पहली पंक्ति में सात कोष्ठक (अर्थात् घर या खाने) बनाये जायें। अगली ६ पंक्तियों में (यानी इस प्रथम पंक्ति के बाद नीचे आने वाली ६ पंक्तियों में) प्रत्येक पंक्ति में प्रथम कोष्ठक की ओर से क्रमशः एक-एक कोष्ठक कम किया जाय। (अर्थात् दूसरी पंक्ति में ६ कोष्ठक होंगे; तीसरी में ५; चौथी में ४; पाँचवीं में ३; छठी में २ और सातवीं में केवल १)।

आद्यपंक्त्यादिकोष्ठे तु लिखेदेकं परेषु खम् ॥४७४॥

पहली पंक्ति के पहले कोष्ठक में '१' अंक लिखा जाय और शेष कोष्ठकों में शून्य (०) लिखे जायें।

द्वितीयपङ्क्तावप्येकमाद्यकोष्ठे लिखेद् बुधः ।

परेषु पूर्वपूर्वाङ्कं कोष्ठसङ्ख्यागुणं न्यसेत् ॥४७५॥

१५४ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

दूसरी पंक्ति के पहले कोष्ठक में भी बुद्धिमान् व्यक्ति को १ लिखना चाहिए तथा शेष कोष्ठकों में, प्रत्येक कोष्ठ के पूर्व के कोष्ठक में लिखे हुए अङ्क में उस कोष्ठक की क्रम-संख्या का गुणा करने पर जो संख्या आये, उसे लिखना चाहिए।

टीका—दूसरी पंक्ति के पहले कोष्ठक में १ है। दूसरे कोष्ठकों में संख्या भरने के लिए उस कोष्ठक के नम्बर का गुणा उससे पहले के कोष्ठक में लिखी गयी संख्या से करना पड़ेगा। इस प्रकार दूसरे कोष्ठक की संख्या $1 \times 2 = 2$ होगी, क्योंकि पहले कोष्ठक में लिखी हुई संख्या १ है और जिस कोष्ठक के लिए संख्या निकालना है उसका नम्बर २ है। तीसरे कोष्ठक का नम्बर ३ और उसके पहले कोष्ठक (याने दूसरे कोष्ठक) में लिखा हुआ अङ्क २ है। इस लिए तीसरे कोष्ठक में ६ लिखा जायगा क्योंकि $2 \times 3 = 6$ होता है। इसी प्रकार आगे चौथे कोष्ठक में २४ ($6 \times 4 = 24$); पाँचवें में १२० ($24 \times 5 = 120$) और छठे में ७२० ($120 \times 6 = 720$) में संख्याएँ लिखी जायेंगी।

एकमेव लिखेदङ्कमधोऽधः पङ्क्तिकोष्ठके।

खण्डमेवरयं प्रोक्तो नष्टोद्दिष्टप्रबोधकः ॥४७६॥

नीचे की पंक्तियों में भी प्रत्येक कोष्ठक के भीतर संख्याएँ इसी प्रकार लिखी जायेंगी। इसे ही 'नष्ट' और 'उद्दिष्ट' का ज्ञान करने वाला खण्डमेरु कहते हैं।

टीका—तीसरी, चौथी, पाँचवीं, छठी और सातवीं पंक्ति के कोष्ठकों के अङ्कों के लिए दूसरी पंक्ति आधार होगी। जिस विधि से दूसरी पंक्ति के कोष्ठकों में बायीं से दाहिनी ओर अङ्क लिखे गये हैं, उसी विधि से अन्य पंक्तियों के कोष्ठकों में भरने होंगे। तीसरी इत्यादि पंक्तियों के कोष्ठकों को दूसरी पंक्ति के कोष्ठकों के अनुसार खड़ी रेखाओं में मानना होगा। यानी, तीसरी पंक्ति का पहला कोष्ठक दूसरी पंक्ति के दूसरे कोष्ठक की सीध में नीचे दूसरे नम्बर का कोष्ठक होता है। इस कोष्ठक का नम्बर २ होगा और दूसरी पंक्ति के दूसरे कोष्ठक में जो संख्या है उसमें २ का गुणा करने पर जो संख्या आयेगी उसे इस कोष्ठक में भरा जायगा। इसी प्रकार, तीसरी पंक्ति के दूसरे से ले कर पाँचवें तक कोष्ठक दूसरी पंक्ति के तीसरे से ले कर छठे कोष्ठक की सीध में दूसरे नम्बर पर पड़ते हैं। इसलिए इन सभी कोष्ठकों में, ऊपर के कोष्ठक में लिखी संख्या को २ से गुणा करने पर प्राप्त होने वाली संख्याएँ

लिखी जायेंगी। चौथी पंक्ति का पहला कोष्ठक दूसरी पंक्ति के तीसरे कोष्ठक की सीध में नीचे तीसरा कोष्ठक पड़ेगा। अतः इसका नम्बर ३ मान कर उसके ऊपर के दूसरी पंक्ति के कोष्ठक में लिखी हुई संख्या में ३ का गुणा करने पर जो संख्या आयेगी उसे इस कोष्ठक में भरना होगा। चौथी पंक्ति के शेष सभी कोष्ठक भी दूसरी पंक्ति के कोष्ठकों की सीध में नीचे तीसरे नम्बर के पड़ते हैं। अतः दूसरी पंक्ति के प्रत्येक कोष्ठक में ३ का गुणा करने से प्राप्त होने वाली संख्याएँ इन कोष्ठकों में भरी जायेंगी। आगे ५वीं पंक्ति के कोष्ठक अपने-अपने ऊपर की दूसरी पंक्ति के कोष्ठकों से चौथे हैं, अतः दूसरी पंक्ति में लिखी हुई संख्याओं में ४ का गुणा करने से प्राप्त होने वाली संख्याएँ उनमें लिखी जायेंगी। इसी प्रकार दूसरी पंक्ति के कोष्ठकों में लिखे गये अङ्कों में ५ का गुणा करने से प्राप्त संख्याएँ छठी पंक्ति के कोष्ठकों में लिखनी होंगी; क्योंकि छठी पंक्ति के कोष्ठक दूसरी पंक्ति के कोष्ठकों की सीध में नीचे की ओर पाँचवें पड़ते हैं। सातवीं पंक्ति में १ ही कोष्ठक है, जो दूसरी पंक्ति के अन्तिम कोष्ठक की सीध में नीचे छठा पड़ता है। अतः दूसरी पंक्ति के अन्तिम कोष्ठक में आयी हुई संख्या में ६ का गुणा करने से प्राप्त संख्या उसमें लिखी जायगी।

खण्ड मेरु की सम्पूर्ण आकृति और प्रत्येक कोष्ठक की संख्या यहाँ देखिए :—

१	०	०	०	०	०	०
	१	२	६	२४	१२०	७२०
		४	१२	४८	२४०	१४४०
			१८	७२	३६०	२१६०
				८६	४८०	२८८०
					६००	३६००
						४३२०

खण्डमेरु का उपयोग 'नष्ट' और 'उद्दिष्ट' के ज्ञान के लिए किया जाता है।

१५६ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

खण्डमेरु का उपयोग

वेद्यतानस्वरमितान् दत्त्वा तेष्वेव लोष्टकान् ।

मूलक्रमं लिखित्वावावृष्टिं तदधो लिखेत् ॥४७७॥

जिस तान को ज्ञात करना हो, उसमें जितने स्वर हों, उतने ही कंकड़ उतने ही कोष्ठों में रखे जायें। इसके पश्चात् मूलक्रम को लिख कर उसके नीचे उद्दिष्ट प्रकार लिखा जाय।

टीका—खण्डमेरु का उपयोग 'नष्ट' और 'उद्दिष्ट' के ज्ञान के लिए होता है। 'उद्दिष्ट' का अर्थ है—दिया हुआ तान-रूप। जब किसी तान का रूप, यानी स्वर दिये गये हों; और यह पूछा गया हो, कि वह तान उतने स्वरों वाली तानों में से कौन से नम्बर की होगी, तब उसे 'उद्दिष्ट' ज्ञात करना कहते हैं। उदाहरण के लिए 'ग म रे सा' यह चतुःस्वरीय तान दी गयी है। चतुःस्वरीय तानों में यह तान कौन से नम्बर की होगी, यह ज्ञात करना 'उद्दिष्ट' ज्ञात करना कहलाता है। 'नष्ट' का अर्थ है—गुमा हुआ। किसी तान का नम्बर तो ज्ञात हो, परन्तु उसका स्वर-रूप ज्ञात न हो, तो उसे ज्ञात करना 'नष्ट' को ज्ञात करना कहलाता है। 'उद्दिष्ट' में तान-रूप ज्ञात होता है, जिसके द्वारा उसका नम्बर ज्ञात किया जाता है। इसके विपरीत, 'नष्ट' में तान के नम्बर से उसके स्वर ज्ञात किये जाते हैं। जिस विधि से खण्डमेरु से 'उद्दिष्ट' और 'नष्ट' को ज्ञात किया जा सकता है, उसका वर्णन आगे किया जा रहा है।

१	०	०	०	०	०	०	० (=कंकड़)
	१	२	६	२४	१२०	७२०	
		४	१२	४८	२४०	१४४०	
			१८	७२	४८०	२९६०	
				१६	१६०	२८८०	
					६००	३६००	
						४३२०	

खण्डमेरु का इतना ही भाग लिया जायगा।

स्वराध्याय : १५७

उद्दिष्ट तान में स्वरों की संख्या जितनी हो, उतने ही कोष्ठों वाला खण्डमेख का भाग लिया जाय। फिर, खण्ड मेख के उस भाग में पहली पंक्ति के कोष्ठों में उतने ही लोष्टक याने कंकड़ रखे जायें, जितने स्वर तान में हैं। मान लीजिए, 'ग रे म सा' यह प्रकार दिया हुआ है। इसमें ४ स्वर हैं, इसलिए ४ कोष्ठों वाला ही खण्डमेख का भाग लेना होगा और कंकड़ भी ४ लेने होंगे। इसके बाद पहली पंक्ति के प्रत्येक कोष्ठ में एक एक कंकड़ रखना होगा। पृष्ठ १५६ की आकृति से यह स्पष्ट हो सकेगा।

अब 'ग रे म सा' का मूलक्रम होगा, और उसके नीचे उद्दिष्ट प्रकार—

मूलक्रम—सा रे ग म

उद्दिष्ट प्रकार—ग रे म सा

स्वरान्मूलक्रमस्यान्त्यात्पूर्वं यावत्तिथः स्वरः।

उद्दिष्टान्त्यस्तावत्तिथे कोष्ठेऽधो लोष्टकं क्षिपेत् ॥४७८॥

लोष्टञ्चालनमन्त्यात्स्यात् त्यक्त्वा लब्धं क्रमो भवेत्।

सप्तश्चेदन्तिमोऽन्त्येन सोऽपि त्याज्यः प्रयत्नतः ॥४७९॥

लोष्टकान्त्याङ्कसंयोगादुद्दिष्टस्य मितिर्भवेत्।

उद्दिष्ट का अन्त्य स्वर मूलक्रम में अन्त्य स्वर से जिस नम्बर पर हो, उसी नम्बर की पंक्ति में कंकड़ को नीचे लाया जाय।

कंकड़ का चालन अर्थात् स्थान-परिवर्तन अन्तिम स्वरों से ही, यानी अन्तिम स्थानों से ही होता है। जो स्वर या स्थान प्राप्त हो गया हो, अर्थात् उद्दिष्ट के जिस-जिस स्वर का स्थान कंकड़ों के यथायोग्य स्थान-परिवर्तन से ज्ञात हो गया हो उसे छोड़ते हुए मूल और उद्दिष्ट दोनों ही क्रम देखना चाहिए। मूलक्रम और उद्दिष्ट में स्वर यदि समान ही हो, अर्थात् यदि दोनों में उसी स्थान पर हो तो उन्हें भी प्रयत्नपूर्वक छोड़ देना होगा—यानी, उस अवस्था में कंकड़ों का स्थान-परिवर्तन आवश्यक नहीं होगा।

इस क्रिया से, सभी कंकड़ अन्ततः जिन कोष्ठों में पहुँच गये हों, उनमें लिखी हुई संख्याओं का योग करने से उद्दिष्ट तान का नम्बर प्राप्त हो जाता है।

टीका—जैसा पहले बताया जा चुका है, उद्दिष्ट क्रम में जितने स्वर हों, उतने ही कोष्ठों वाला मेख-खण्ड लेकर मूलक्रम और उद्दिष्ट क्रम को लिख

१५८ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

लिया जाता है। अब उद्दिष्ट के अन्तिम स्वर का स्थान मूलक्रम में अन्तिम स्वर से कौन सा पड़ता है यह पहले देखा जाय, और फिर कंकड़ को उसी नम्बर की पंक्ति में उतारा जाय। हमने पहले 'ग रे म सा' का उदाहरण दिया है। इसका अन्तिम स्वर है—सा। मूलक्रम है—'सा रे ग म' और उसमें अन्तिम स्वर म है। अब यह देखना होगा कि मूलक्रम में, अन्तिम स्वर से उद्दिष्ट का अन्तिम स्वर कौन सा पड़ता है। म की ओर से चौथा स्वर सा है। इसलिए अब अन्तिम कंकड़ को नीचे चौथी पंक्ति में सीधा उतारना होगा। आकृति देखिए—

१	०	०	०
	१	२	६
		४	१२
			१८ ०६

कंकड़ का स्थान-परिवर्तन अन्तिम स्वर से ही होता है। यानी, पहले उद्दिष्ट के अन्तिम स्वर को ले कर कंकड़ का स्थान-परिवर्तन किया जायगा। यह हो जाने के पश्चात् उस स्वर को उद्दिष्ट और मूलक्रम दोनों में से हटा दिया जाय। अब उद्दिष्ट के शेष स्वरों में से जो अन्तिम है, वह मूलक्रम में शेष स्वरों में से अन्तिम से कौन-सा है, यह देख कर उसी नम्बर की पंक्ति में उस अन्तिम कंकड़ को उतारा जायगा, जो अभी पहली पंक्ति में उपान्त्य कोष्ठ में है। यह हो जाने के पश्चात् उस स्वर को भी मूलक्रम और उद्दिष्ट दोनों में से हटा कर फिर यही क्रिया उस समय तक करनी होगी, जब तक उद्दिष्ट के सभी स्वरों के उचित स्थान कंकड़ों से खण्डमेख में उचित कोष्ठों से प्राप्त न हो जायें। यदि उद्दिष्ट का कोई स्वर और मूलक्रम के अन्तिम से गिना गया उसका नम्बर वही हो, जिस कोष्ठ में उस स्वर का प्रतीक कंकड़ रखा गया है, तब उस कंकड़ का स्थान-परिवर्तन नहीं होगा।

अन्ततः सभी कंकड़ जब इस प्रकार यथायोग्य रूप से चलित हो चुके हों, तब कंकड़ जिन-जिन कोष्ठों में हों, उन-उन कोष्ठों में लिखे हुए अङ्कों का योग करने से उद्दिष्ट तान की क्रम-संख्या ज्ञात हो जाती है।

उद्दिष्ट-ज्ञान के लिए निर्दिष्ट इस प्रयोग का हम सोपानानुसार विश्लेषण इस प्रकार कर सकते हैं :—

प्रथम सोपान

- (अ) उद्दिष्ट तान के स्वरों की संख्या के अनुसार खण्डमेरु का उतने ही कोष्ठों वाला खण्ड लेना। कोष्ठों की संख्या प्रथम पंक्ति में बायीं ओर से गिननी चाहिए और जितने कोष्ठ चाहिए, उतने ले कर शेष छोड़ देने चाहिए। अभीष्ट कोष्ठों में से अन्तिम के नीचे सीधी रेखा में अन्य पंक्तियों के जितने कोष्ठ आते हैं, वे सभी इस मेरुखण्ड के अन्तर्गत होंगे।
- (ब) अब इस मेरु-खण्ड की प्रथम पंक्ति में उतने ही कंकड़ रखे जायें जितने स्वर उद्दिष्ट तान में हैं। प्रत्येक कोष्ठ में १ ही कंकड़ रहेगा। ये कंकड़ स्वरों के प्रतीक हैं।
- (स) उद्दिष्ट तान में जितने स्वर हैं, उनका मूलक्रम लिख कर उनके नीचे उद्दिष्ट क्रम लिखना।

द्वितीय सोपान

- (अ) उद्दिष्ट का अन्तिम स्वर मूलक्रम में अन्तिम स्वर की ओर से कौन सा हो ?— यह देखना।
- (ब) इसके बाद अन्तिम कंकड़ को, क्योंकि वह उद्दिष्ट के अन्तिम स्वर का प्रतीक है, सीधे नीचे की ओर उस नम्बर के कोष्ठ में रखना होगा, जिस नम्बर पर उद्दिष्ट का अन्तिम स्वर मूलक्रम में अन्तिम स्वर से है।
- (स) उद्दिष्ट के अन्तिम स्वर का स्थान मेरु-खण्ड में कंकड़ को उचित कोष्ठ में ले जा कर ज्ञात हो चुका है। अतः उस स्वर को उद्दिष्ट में से हटा देना होगा; साथ ही, उसी स्वर को मूलक्रम में से भी हटा देना पड़ेगा।

तृतीय सोपान

उद्दिष्ट में अब जितने स्वर शेष रहे, उनमें से जो अन्तिम है, वह मूलक्रम में शेष रहे स्वरों में से अन्तिम से कौन सा है ?—यह देख कर दाहिनी ओर से दूसरे कंकड़ का स्थान-परिवर्तन द्वितीय सोपान के (ब) की ही भाँति किया जायगा। फिर द्वितीय सोपान के (स) की भाँति ही उस स्वर को भी उद्दिष्ट क्रम और मूलक्रम दोनों से हटा देना होगा।

१६० : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

द्वितीय सोपान में वर्णित क्रियाएँ उस समय तक करनी होंगी, जब तक उद्दिष्ट के सभी स्वरों के स्थान मेरु-खण्ड के कंकड़ों के उचित कोष्ठों में पहुँच जाने से ज्ञात न हो जायें ।

स्मरण रहे :—

(i) जहाँ कंकड़ का स्थान-परिवर्तन आवश्यक न हो वहाँ न किया जाय ।

(ii) प्रत्येक खड़ी रेखा में केवल एक ही कंकड़ रहना चाहिए ।

चतुर्थ सोपान

अन्त में कंकड़ जिन कोष्ठों में आ चुके हैं, उनमें लिखी हुई संख्याओं का जोड़ किया जाय । यही उद्दिष्ट तान का नम्बर होगा ।

निम्न उदाहरण द्वारा हम उद्दिष्ट-ज्ञान-विधि को समझ सकते हैं :—

उद्दिष्ट—‘ग रे म सा’ यह प्रकार चतुःस्वरीय तानों में से कौन से नम्बर पर है, इसे ज्ञात करना है ।

विधि—पूर्व पृष्ठों में बताए गये सोपानों के अनुसार :—

प्रथम सोपान

(अ) स्वरों की संख्या चार है, इसलिए ४ कोष्ठों वाला मेरु-खण्ड लिया और (ब) के अनुसार ४ कंकड़ रखे—

१	०	०	०
	१	२	६
		४	१२
			१८

(स) मूलक्रम—सा रे ग म

उद्दिष्ट क्रम—ग रे म सा

द्वितीय सोपान

(अ) उद्दिष्ट क्रम का अन्तिम स्वर—सा । मूलक्रम में अन्तिम स्वर म से वह चौथा है ।

(ब) अन्तिम कंकड़ को नीचे चौथे कोष्ठ में लाया गया—

१	०	०	०
	१	२	६
		४	१२ ✓
			१८

(स) सा को मूलक्रम और उद्दिष्ट क्रम दोनों में से हटा दिया—

मूलक्रम—रे ग म

उद्दिष्ट क्रम—ग रे म

तृतीय सोपान—

(१) (अ) शेष मूलक्रम—रे ग म

शेष उद्दिष्ट क्रम—ग रे म

उद्दिष्ट का अन्तिम स्वर म मूलक्रम का भी अन्तिम स्वर है।

(ब) यहाँ कंकड़ के स्थान-परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है।

१	०	० ✓	०
	१	२	६
		४	१२ ✓
			१८

(स) म को मूलक्रम और उद्दिष्ट दोनों से हटा दिया :—

मूलक्रम—रे ग

उद्दिष्ट क्रम—ग रे

(२) (अ) अवशिष्ट मूलक्रम—रे ग

अवशिष्ट उद्दिष्ट क्रम—ग रे

उद्दिष्ट का अन्तिम स्वर रे है, जो मूलक्रम के अन्तिम से दूसरा है।

१६२ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

(ब) तीसरे कंकड़ को नीचे दूसरे कोष्ठ में सरकाया :—

१	०	०	०
	१	२	६
		४	१२
			१८

(स) रे को मूलक्रम और उद्दिष्ट क्रम दोनों से हटा दिया—

मूलक्रम— ग

उद्दिष्ट क्रम—ग

(३) (अ) अवशिष्ट मूलक्रम— ग

अवशिष्ट उद्दिष्ट क्रम—ग

दोनों में वहीं स्वर है।

(ब) इसी लिए अन्तिम (यानी, चौथे) कंकड़ का स्थान नहीं बदलेगा—

१	०	०	०
	१	२	६
		४	१२
			१८

चतुर्थ सोपान—

अन्ततः कंकड़ जिन कोष्ठों में पहुँचे हैं, उनमें लिखे हुए अंक इस प्रकार हैं—१, १, ०, १८ इनका योग— $१+१+०+१८=२०$ होता है।

प्रयोग फल—उद्दिष्ट प्रकार 'ग रे म सा' चतुःस्वरीय तानों में बीसवाँ है।

संख्या तु यदा रूपे पृष्टे नष्टं तदुच्यते ॥४८०॥

जब तान की संख्या दी हो और उसका रूप पूछा गया हो तब उसे 'नष्ट' कहते हैं।

स्वराध्याय : १६३

यैरङ्गैर्नष्टसंख्या स्यान्मौलिकाङ्कसमन्वितैः ।

नष्टतानस्वरस्थानं तैर्ज्ञात्वा तं स्वरं लिखेत् ॥४८१॥

मूल अंक (अर्थात्, पहली पंक्ति के पहले कोष्ठ का अङ्क-१) सहित मेरु-खण्ड के जिन-जिन कोष्ठों में लिखी हुई संख्याओं का योग 'नष्ट' के बराबर होता है, उन संख्याओं (अर्थात्, जिन कोष्ठों में वे संख्याएँ लिखी हों, उन कोष्ठों) के द्वारा नष्ट तान के स्वर-स्थान जान कर तान के स्वर लिखे जाने चाहिए ।

टीका :—इस श्लोक के बाद सङ्गीतदर्पण में निम्नलिखित श्लोक भी है, जो यद्यपि श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम् में उद्धृत नहीं किया गया है, किन्तु नष्ट-ज्ञान प्रयोग को समझने में सहायक है ।

क्रमोऽत्रापि च कर्तव्यो लब्धत्यागेन पूर्ववत् ।

तथैवात्र लिखेच्छिष्टमेवं नष्टोत्तरं वदेत् ॥

अर्थात्, नष्ट ज्ञात करने के लिए भी, उद्दिष्ट-ज्ञानविधि में जिस प्रकार बताया गया है, उसी प्रकार जो स्वर प्राप्त हो गया हो, उसे छोड़ते हुए मूल और नष्ट क्रमों को देखना चाहिए; और शेष सब कुछ उसी प्रकार लिखते जाना चाहिए ।

नष्ट ज्ञात करने की क्रिया एक तरह से उद्दिष्ट ज्ञात करने की क्रिया की ठीक उलटी है । एक उदाहरण से हम नष्ट-ज्ञान प्रयोग को स्पष्टतः समझ सकते हैं :—

नष्ट—चतुःस्वरीय तानों में से १३वीं तान का स्वर-रूप ज्ञात करना है ;

विधि—तान में ४ स्वर हैं, इसलिए ४ कोष्ठकों वाला ही मेरुखण्ड लिया जायगा, और कंकड़ भी ४ ही लेकर पहली पंक्ति के प्रत्येक कोष्ठ में एक-एक कंकड़ रख दिया जायगा ।

A✓	B✓	C✓	
१	०	०	०
	१	२	६
		४	१२ ^D
			१८

१६४ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

अब पहले कंकड़ को अर्थात् पहली पंक्ति के पहले कोष्ठ में रखे हुए कंकड़ को चलित न करते हुए शेष तीनों को सीधे नीचे के कोष्ठों में इस प्रकार रखा जाय कि अन्त में चारों कंकड़ जिन कोष्ठों में हैं, उनमें लिखी हुई संख्याओं का योग १३ हो :

चतुःस्वरीय मूलक्रम है—सा रे ग म
मान लें, नष्ट में स्वर क्रम है—A B C D

अब D का प्रतीक कंकड़ उस स्थान पर होना चाहिए, जितने पर नष्ट का अन्तिम स्वर D मूलक्रम के अन्तिम स्वर म से होगा। D को नीचे तीसरे कोष्ठ में ले जाया गया है, इसलिए D को मूलक्रम में म से तीसरा होना चाहिए। मूलक्रम में अन्तिम से तीसरा स्वर रे हैं, इसलिए D रे होना चाहिए।

अब मूलक्रम से रे और नष्ट से D हटा दिया। शेष रहा—

मूलक्रम—सा ग म

नष्ट—A B C

C का प्रतीक कंकड़ उसी स्थान पर होना चाहिए, जितने पर नष्ट का अन्तिम स्वर C मूलक्रम के अन्तिम स्वर म से होगा। C कंकड़ का स्थान-परिवर्तन नहीं किया गया था, इसलिए C को म होना चाहिए।

पुनः C और म को हटा कर अवशिष्ट मूलक्रम सा ग और नष्ट AB रहेगा।

B कंकड़ भी सरकाया नहीं गया है, इसलिए B=ग होना चाहिए।

A कंकड़ भी वहीं रहा है, इसलिए A=सा होना चाहिए।

अतः ज्ञात हुआ कि—A=सा

B=ग

C=म

D=रे

प्रयोग-फल :—अतः चतुःस्वरीय तानों में से तेरहवाँ प्रकार 'सा ग म रे' होगा।



वर्ण तथा अलंकार

वर्ण

गानक्रियोच्यते वर्णः स चतुर्धा निरूपितः।

स्याप्यारोह्यवरोही च सञ्चारीत्यथलक्षणम् ॥४८२॥

स्वराध्याय : १६५

स्थित्वा स्थित्वा प्रयोगः स्यादेकस्यैव स्वरस्य यः ।

स्थायी वर्णः स विज्ञेयः परावन्वर्थनामकौ ॥

एतत्सम्मिश्रणाद्वर्णः सञ्चारी परिकीर्तितः ॥४८३॥

सङ्गीतरत्नाकर (१. ६. १-३) से उद्धृत इन श्लोकों में कहा गया है—

गाने की क्रिया को 'वर्ण' कहते हैं । वर्ण के चार भेद निरूपित किये गये हैं : स्थायी, आरोही, अवरोही तथा संचारी । उनके लक्षण इस प्रकार हैं—

एक ही स्वर का, एक-एक कर जो प्रयोग किया जाता है, उसे स्थायी वर्ण कहते हैं ।

दूसरे दो वर्ण—अर्थात् आरोही तथा अवरोही—अपने नामों के अर्थ के अनुसार ही होते हैं । इन तीनों वर्णों के सम्मिश्रण से संचारी वर्ण होता है ।

कल्लिनायकृतटीकायास्—

उपरिलिखित श्लोकों पर कल्लिनाथ की टीका इस प्रकार है—

गानक्रियाया वर्णत्वं स्वरपदादेर्वर्णनात् विस्तारकरणात् ।

गानक्रिया का वर्णत्व स्वर, पद आदि के वर्णन अथवा विस्तार किये जाने से होता है ।

एकस्यैवेति तत्रादौ "सा सा सा, री री री" एवमादिप्रयोगः ।

'एकस्यैव' इत्यादि श्लोकगत अंश का अर्थ है—एक ही स्वर का "सा सा सा री री री" आदि प्रयोग प्रथम वर्ण, स्थायी वर्ण है ।

द्वितीये "सा री गा मा"^२ इत्येवमादिरूप ।

द्वितीय वर्ण—अर्थात्, आरोही वर्ण—में "सा री गा मा" आदि रूप होते हैं ।

परावन्वर्थनामकौ । परावारोह्यवरोहिणावन्वर्थनामकौ । 'स रि ग म प घ नि' इत्यारोहणादारोही । 'नि घ प म ग रि स' इत्यवरोहादवरोहीत्येवम् ।

'परावन्वर्थनामकौ' का अर्थ है—अन्य दो वर्ण अपने नाम के अन्वर्थ से होते हैं । 'सा रि ग म प घ नि' आरोह होने के कारण यह आरोही वर्ण है । 'नि घ प म ग रि स' अवरोह होने के कारण यह अवरोही वर्ण है, ऐसा अभिप्राय है ।

१. द्रष्टव्य पृ० १५१, प्रथम भाग (अङ्गार संस्करण) ।

२. श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम् में यहाँ "सा री मा मा" है ।

१६६ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

एतत्सम्मिश्रणात् । एतेषां स्थाय्यादीनां त्रयाणां वर्णानाम् “सा री सा री ग सा नि ध सा री ग” इत्येवं यथायोगं मिश्रणात्संचारीवर्णः परिकीर्तितः ।

‘एतेषां सम्मिश्रणात्’ का अर्थ है—स्थायी आदि इन तीनों वर्णों के ‘सारी सारीग सानिध सारीग’ इत्यादि प्रकारों के यथायोग्य मिश्रण से संचारी वर्ण होता है ।

यत्र गानक्रियायां यस्य वर्णस्य बाहुल्यं दृश्यते तत्र तेन व्यपदेशः कर्तव्य इति मन्तव्यम् ।

गानक्रिया में जहाँ जिस वर्ण का बाहुल्य दिखायी देता हो, वहाँ उस वर्ण के अनुसार नाम प्रदान किया जाना चाहिए; यह मन्तव्य है ।

अनुवादक की टीका

सङ्गीत कला में स्वरों के प्रत्यक्ष व्यवहार को ‘वर्ण’ कहा जाता है । ‘गानक्रिया’ का अर्थ केवल गायन ही नहीं, अपितु वादन भी उसके अन्तर्गत है । स्वर-प्रयोग की क्रिया में एक से दूसरे स्वर को क्रमशः जोड़ते हुए राग, पद आदि का ‘वर्णन’ अथवा विस्तार किया जाता है । इस क्रिया में जब एक ही स्वर पर स्थित रह कर उसका बार-बार प्रयोग होता है, तब ‘स्थायी’ वर्ण कहलाता है । आरोह क्रम में स्वरों का संयोग ‘आरोही’ वर्ण है तथा अवरोहक्रमयुक्त स्वरसंयोग ‘अवरोही’ वर्ण है । संचारी मिश्रित वर्ण है, जिसमें पूर्वोक्त तीनों वर्णों का मिश्रण होता है । सङ्गीत में स्वरसंयोग क्रिया में संचारी वर्ण ही प्रमुख है, किन्तु जहाँ अन्य क्रम स्पष्ट दिखते हैं, वहाँ स्थायी आदि वर्णों से उस स्वरसमूह का नामकरण किया जाता है ।



अलङ्कार

विशिष्टवर्णसन्दर्भमलङ्कारं प्रचक्षते ।

तस्य भेदा बहुविधा ग्रन्थकारैरुदीरिताः ॥४८४॥^१

—रत्नाकरे^२ ।

१. अङ्गार संस्करण में ‘तस्य भेदास्तु बहवः……’ पाठ है (द्र० पृ० १५२ प्रथम भाग) ।

२. सङ्गीतरत्नाकर १. ६. ३-४ ।

स्वराध्याय : १६७

सङ्गीतरत्नाकर में कहा गया है—“वर्णों के विशिष्ट समुदाय को अलंकार कहते हैं। ग्रन्थकारों ने अलङ्कारों के अनेक प्रकार बताये हैं।”

कल्लिनाथटीकायाम् :—

इस श्लोक की कल्लिनाथकृत टीका^१ इस प्रकार है :—

वर्णसन्दर्भोऽलङ्कार इत्येतावत्युक्ते^२ सञ्चारिण व्यभिचारः स्यात्; स मा भूदिति विशिष्टमिति विशेषणम्। वंशिष्ट्यं च नियतकलादिभ्युक्तत्वम्।

“वर्णसन्दर्भं अलङ्कार है”—ऐसा कहे जाने पर, ‘किसी संचारी वर्ण-विशेष में चाहे जैसी स्वरयोजना वाला वर्ण समूह’, ऐसा अर्थ न हो जाये, इसी लिए यहाँ “विशिष्ट” यह विशेषण “वर्णसन्दर्भ” के साथ प्रयुक्त हुआ है। अलङ्कार का यह वैशिष्ट्य निश्चित कला (अर्थात्, मात्रा) आदि से युक्त होने के कारण होता है।

क्रमेणस्वरसन्दर्भमलङ्कारं प्रचक्षते।

तस्य भेदास्तु भूयांसस् [तत्र स्थायिगतान् ब्रुवे]^३ ॥४८५॥

—पारिजाते।

सङ्गीतपारिजात के अनुसार—“क्रमयुक्त स्वरों के समूह को अलङ्कार कहते हैं। अलङ्कार के बहुत से भेद हैं।”

शशिना रहितेव निशा विजलेव नदी लता विपुष्पेव।

अविभूषितेव कान्ता गीतिरलङ्कारहीना स्यात् ॥४८६॥

—भरतनाट्यशास्त्रे।

भरतनाट्यशास्त्र में कहा गया है—“अलङ्कारों से रहित गीति चन्द्रमा-विहीन रात्रि, जलरहित नदी, पुष्पविहीन लता और आभूषणविहीन स्त्री की ही भाँति (अनाकर्षक) प्रतीत होती है।

अलमेते ह्यलङ्कारा रञ्जनलब्धे स्वरावबोधाय।

वर्णज्ञान्यासाय च तदवश्यं पूर्वमभ्यस्याः ॥४८७॥

—रागविबोधे।

१. द्र० पृ० १५२।

२. अङ्गार पाठ में ‘इत्येतावत्युक्ते’ के पश्चात् ‘वर्णविशेषे’ भी आया है।

३. कोष्ठकान्तर्गत शब्द यहाँ अनावश्यक हैं, अतः अनुवाद में उन्हें छोड़ दिया गया है।

१६८ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

रागविबोध (प्रथम विवेक, श्लोक ८१) में ३४ अलङ्कारों का निरूपण करने के पश्चात् कहा गया है—इतने अलङ्कार स्वरों की रञ्जकता की प्राप्ति के लिए, स्वरों के स्वरूप के ज्ञान के लिए तथा स्थायी आदि वर्णों के विस्तार के लिए पर्याप्त हैं। इसलिए, अलंकारों का अभ्यास आरम्भ में ही अवश्य किया जाना चाहिए।

ध्रुवो मधुरो रूपकश्च क्षम्पस्त्रिपुट एव च ।

अठताल एकतालः सप्ततालाः प्रकीर्तिताः ॥४८८॥

ताल सात कहे गये हैं—ध्रुव, मधु, (या मधु), रूपक, क्षम्प, त्रिपुट, अठ ताल तथा एकताल ।

एतत्तालाश्रिताश्चैव ह्यलङ्कारास्तु सप्त ते ।

अहोबलेन सम्प्रोक्ताः पारिजाते स्वनिमित्तौ ॥४८९॥

पण्डित अहोबल ने अपने सङ्गीतपारिजात में इन सप्त तालों पर आश्रित सात अलङ्कार बताये हैं ।

इन्द्रनीलो महावज्रो निर्दोषः सीरकोकिलौ ।

आवर्तकः सदानन्दस्तेषां संज्ञाः समीरिताः ॥४९०॥

इन सप्त अलङ्कारों के नाम हैं—इन्द्रनील, महावज्र, निर्दोष, सीर, कोकिल, आवर्तक तथा सदानन्द ।

अन्येऽपि स्युरलङ्कारा लक्ष्यसागोपयोगिनः ।

नव्यशिक्षार्थिवर्गस्य तान् प्रवक्ष्यामि नामतः ॥४९१॥

भद्रो नन्दो गात्रवर्णो बिन्दुरभ्युच्छ्रयस्तथा ।

आक्षिप्तः प्रेङ्खितः श्येनस्त्रिवर्णो जववारिदौ ॥४९२॥

शङ्खाक्षेपो मता एते त्रयोदश सुलक्षणाः ।

सम्मत्याहोबलस्यैव सङ्गृहीता मयात्र ते ॥४९३॥

लक्षणानि प्रसिद्धानि पारिजाते यतस्ततः ।

उद्धृतानि न तान्यत्र विस्तरातिभिया मया ॥४९४॥

अन्य अलङ्कार भी हैं, जो प्रचलित सङ्गीत के प्रारम्भिक विद्यार्थियों के लिए उपयोगी हैं। उन अलङ्कारों के नाम मैं बता रहा हूँ—भद्र, नन्द, गात्रवर्ण, बिन्दु, अभ्युच्छ्रय, आक्षिप्त, प्रेङ्खित, श्येन, त्रिवर्ण, जव, वारिद, शंख तथा आक्षेप। सुन्दर लक्षणों से युक्त इन तेरह अलङ्कारों को मैंने अहोबल

के मतानुसार संकलित किया है। सङ्गीतपारिजात में इन अलङ्कारों के लक्षण यत्र-तत्र दिये गये हैं, जिन्हें मैंने विस्तारभय से यहाँ उद्धृत नहीं किया है।

टीका—उपर्युक्त अलङ्कारों के लक्षणों और स्वरूपों का जो विवरण सङ्गीतपारिजात में प्राप्त होता है, उसका संक्षेप इस प्रकार है :—

१. भद्र—किसी स्वर से आरम्भ कर अगले स्वर तक जाना तथा फिर पूर्व स्वर पर लौटना। यथा—सा रे सा; रे ग रे.....।
२. नन्द—इसमें क्रम भद्र के ही समान है; परन्तु प्रत्येक स्वर दो बार आता है तथा तत्कालीन रूपक ताल के अनुसार यह अलङ्कार बताया गया है। उदाहरण—सा सा रे रे सा सा.....।
३. गात्रवर्ण—इसमें प्रत्येक स्वर तीन या चार बार लिया जाता है; यथा—सा सा सा, या सा सा सा सा।
४. बिन्दु—इसमें प्रथम स्वर को तीन बार दीर्घ तथा द्वितीय स्वर को ह्रस्व बताया गया है। सम्भवतः इसका स्वरूप कुछ इस तरह का हो सकता है—सा सा सा रे; रे रे रे ग.....।
५. अभ्युच्छ्रय—इसमें एक-एक स्वर छोड़ा जाता है; यथा—सा ग प नि; रे म घ सां; ग प नि रें.....।
६. आक्षिप्त—इसमें बीच का स्वर छोड़ा जाता है तथा प्रत्येक स्वर दो बार आता है; यथा—सा सा ग ग; रे रे म म; ग ग प प।
७. प्रेङ्खित—क्रमशः दो-दो स्वर आन्दोलन सहित लेना; यथा— $\overbrace{\text{सा रे; रे ग; ग म;}}$
८. श्येन—आद्य स्वर के साथ क्रमशः अगले-अगले स्वर लेना; यथा—सा रे; सा ग; सा म; सा प;।
९. त्रिवर्ण—तोसरे स्वर को तीन बार लेना; यथा—सा रे ग ग ग; रे ग म म म;।
१०. जव—सभी स्वरों को क्रमवत् लेते हुए प्रत्येक बार अन्त की ओर से एक-एक स्वर छोड़ते जाना; यथा—सा रे ग म प घ नि; सा रे ग म प घ; सा रे ग म प; सा रे ग म; सा रे ग; सा रे। अवरोह क्रम में भी इसी प्रकार नि घ प म ग रे; नि घ प म ग; नि घ प म;।

१७० : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

११. वारिद—षड्ज लेकर क्रमशः सातवें (नि), छठे (घ), पाँचवें (प) आदि स्वर को तीन बार लेना; यथा—सा नि नि नि; सा घ घ घ; सा प प प; सा म म म.... अवरोह भी इसी प्रकार ।

१२. शङ्ख—इसका स्वरूप इस प्रकार बताया है—आरोह क्रम में—सा सा रे ग; रे रे ग म; अवरोह भी इसी प्रकार सा सा नि घ;

१३. आक्षेप—तीन क्रमिक स्वर लेना; यथा—सा रे ग; रे ग म; ग म प;

अलङ्कारान्विता रागा विस्तरं नाप्नुवन्ति हि ।

एतैः पुनः प्रगातृणां स्वरतालप्रवीणता ॥४९५॥

अलङ्कारों के बिना रागों का विस्तार नहीं हो पाता । साथ ही अलङ्कारों के अभ्यास से गायकों में स्वर और ताल में प्रवीणता का विकास होता है ।



राग

योऽयं ध्वनिविशेषस्तु स्वरवर्णविभूषितः ।

रञ्जको जनचित्तानां स रागः कथ्यते बुधैः ॥४९६॥

उस विशिष्ट ध्वनिरचना को विद्वानों के द्वारा 'राग' कहा जाता है, जो स्वरों और वर्णों से अलंकृत हो, एवं जनचित्तरञ्जक हो ।

टीका—'राग' भारतीय सङ्गीत का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्व है । रागों का ही गायन-वादन हमारे शास्त्रीय सङ्गीत में होता है । रागों के स्वरूप और उनके लक्षण अथवा नियम शास्त्रों में प्रतिपादित हैं । इसी लिए रागमूलक सङ्गीत 'शास्त्रीय' सङ्गीत कहा जाता है ।

रागों का उद्भव 'जातियों' से माना जाता है । कुछ विद्वान यह भी कहते हैं, कि 'जाति' 'राग' की ही पूर्व-संज्ञा थी । आचार्य मतङ्ग ने 'जाति' को राग की जननी कहा है—“...सकलस्य रागादेर्जन्महेतुत्वाज्जातय इति ।” उन्होंने यह भी कहा है, कि संसार में जो कुछ भी गाया जाता है, वह जातियों के ही अन्तर्गत है—“यत्किञ्चिद् गीयते लोके तत्सर्वं जातिषु स्थितम् ।” इस दृष्टि से 'जाति' को राग आदि समस्त गेय-प्रकारों के वर्गीकरण की व्यवस्था भी माना जा सकता है । भरतादि आचार्यों ने शुद्ध और विकृत कुल १८ जातियों का उल्लेख किया है ।

भरतनाट्यशास्त्र में ग्रामराग और जातिराग के रूप में 'राग' शब्द आया है। ग्रामरागों का प्रयोग नाट्यान्तर्गत पञ्च सन्धियों में किये जाने का विधान है। 'जातिराग' के विषय में नाट्यशास्त्र में कहा गया है, कि अल्प गान्धार-निषाद वाली जातियों में अवरोह में अन्तर गान्धार और काकली निषाद नामक 'साधारण' स्वरों का प्रयोग किये जाने पर 'जातिराग' बनते हैं। इस आधार पर यह निष्कर्ष निकालना अनुचित नहीं कि जाति-गान की अपेक्षा जातिराग में नियम-बन्धन कुछ शिथिल रहे होंगे। जातिरागों से ही रागों का विकास हुआ होगा, ऐसा कहा जा सकता है।

भरत के परवर्ती काल में राग-सङ्गीत प्रचलित हो चला, और जाति-गान शनैः शनैः प्रचार-वाह्य होने लगा।

आचार्य मतङ्गकृत 'बृहद्देशी' में सर्वप्रथम राग की परिभाषा मिलती है। बृहद्देशी के अनुसार स्वरों और वर्णों के वैशिष्ट्य एवं ध्वनिभेद के कारण रञ्जक लगनेवाली रचना 'राग' है—

स्वरवर्णविशेषेण ध्वनिभेदेन वा पुनः ।
रञ्जते येन यः कश्चित् स रागः सम्मतः सताम् ॥

अथवा

योऽसौ ध्वनिविशेषस्तु स्वरवर्णविभूषितः ।
रञ्जको जनचित्तानां स च राग उदाहृतः ॥

राग की इसी परिभाषा को सभी ग्रन्थकारों ने मान्य किया है।

राग के तीन लक्षण सभी परिभाषाओं में बताये गये हैं। इनमें से रञ्जकत्व को राग का प्राणतत्त्व माना गया है। 'राग' का शाब्दिक अर्थ ही यह है—“रञ्जनाञ्जायते रागो व्युत्पत्तिः समुदाहृता” (बृहद्देशी)। राग आनन्द-मार्गी होने के कारण 'रस' का पर्याय माना जा सकता है। रञ्जकत्व के अभाव में किसी भी ध्वनि-रचना को 'राग' नहीं कहा जा सकता, भले ही वह शिल्प और कौशल की दृष्टि से कितनी ही वैशिष्ट्यपूर्ण और चमत्कारयुक्त क्यों न हो! वैसे मधुर लगने वाली प्रत्येक ध्वनि-रचना इस दृष्टि से 'राग' हो सकती है; परन्तु शास्त्रकारों ने इस शब्द को इतनी व्यापकता में प्रयुक्त नहीं किया है। 'राग' कतिपय विशिष्ट ध्वनि-स्वरूपों को ही कहा गया है, जो परम्परानुगत रूप से प्राप्त एवं शास्त्रों में अङ्गीकृत हों।

१७२ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

राग को ऐसी ध्वनि-रचना कहा गया है, जो वैशिष्ट्यपूर्ण हो, तथा स्वरों और वर्णों से युक्त हो, यह ध्यान देने योग्य है। यद्यपि स्वर भी ध्वनियाँ ही हैं, तथापि स्वर निश्चित ध्वनि-बिन्दु हैं, जिन्हें 'स्वर' मान लिया गया है। रागों के स्वरूप स्वरों द्वारा ही बताये जाते हैं, किन्तु केवल स्वरों से राग नहीं बनते। राग में स्वरों का विशिष्ट संयोजन अनिवार्य है। साथ ही, राग के स्वर स्वरूप की आवश्यकता के अनुसार अपने मूलभूत स्थानों से यत्किञ्चित् आगे-पीछे भी होते रहते हैं। स्वर का इस प्रकार आगे या पीछे की ओर से लगना अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है। किसी स्वर का ऐसा चालन किस अगले या पिछले स्वर-बिन्दु तक होता है, यह बताया नहीं जा सकता—केवल सुन कर ग्रहण किया जा सकता है। प्रायः यह चालन दो स्वरों के मध्यवर्ती अन्तरालों में होता है। इसी लिए, राग को मूलतः ध्वनि-रचना कहा गया, स्वर-रचना नहीं। मीड, गमक आदि प्रयोगों में स्वरेतर ध्वनियों का समावेश भी हो जाता है, यह सभी जानते हैं।

राग नामक ध्वनि-रचना का वैशिष्ट्य उसके विशिष्ट नियमों पर आधारित है, जिन्हें राग-नियम या राग-लक्षण कहा जाता है। ग्रह, अंश, न्यास आदि नियमों को लेकर राग के स्वरों का उचित प्रयोग किये जाने पर ही 'राग' का विशिष्ट स्वरूप आविर्भूत होता है।

राग-नियम राग-स्वरूप को स्थूलतः ही व्यक्त करते हैं। इसका कारण यह है कि रागगत सूक्ष्म ध्वनि-प्रयोगों और उसके 'स्वभाव' को किसी भी प्रकार से शब्दों में नहीं बताया जा सकता। इसी लिए राग-विद्या किसी गुरु के चरणों में बैठ कर ही सीखी जा सकती है—ग्रन्थाध्ययन से नहीं।

राग-स्वरूप की सूक्ष्मता को हृदयङ्गम कर नियमों के ढाँचे के भीतर स्वर-संचार करने की स्वतन्त्रता कलाकर को प्राप्त है। इसी लिए एक ही राग को अलग-अलग ढंग से प्रस्तुत किया जा सकता है, तथा उसमें अनेकविध बन्दिशें रची जा सकती हैं। इस प्रकार, राग बन्धन में भी स्वातन्त्र्य का अवकाश प्रदान करता है।

रागों की जातियाँ

औडुवः पञ्चभिः प्रोक्तः स्वरैः षड्भिश्च षाडवः ।

सम्पूर्णः सप्तभिर्ज्ञेय एवं रागस्त्रिधा मतः ॥४९७॥

राग तीन प्रकार के माने गये हैं :—पाँच स्वरों से युक्त 'औडुव', छह स्वरों से युक्त 'षाडव' तथा सात स्वरों से युक्त 'सम्पूर्ण' ।

हृदयप्रकाशे

“द्वौ त्रयो वापि चत्वारः स्युस्ताना रञ्जकस्वराः ।

पञ्चाक्षरं रागः स त्रिषा पञ्चभिर्औडुवः ॥४९८॥

षड्भिः स्वरैः षाडवः स्यात्सम्पूर्णः सप्तभिः स्वरैः ॥”

दो, तीन अथवा चार रञ्जक स्वरों से तानें बनती हैं । पाँच आदि स्वरों से (यानी, पाँच या अधिक स्वरों से) राग बनता है; जो तीन प्रकार का होता है :—‘औडुव’ पाँच स्वरों से युक्त, ‘षाडव’ षट्स्वरीय एवं ‘सम्पूर्ण’ सप्तस्वरीय ।

पञ्चोत्तेभ्यः स्वरेभ्यश्च न तु स्याद्रागसम्भवः ॥४९९॥

पाँच से कम स्वरों से राग बनना सम्भव नहीं है ।

प्राचीन ग्रन्थोक्त राग-लक्षण

रञ्जयन्ति मनांसीति रागास्ते दशलक्षणाः ।

भवन्ति ते मतङ्गाद्यैः प्रापितान्यानि च क्रमात् ॥५००॥

लक्षणानि दशोक्तानि लक्ष्यन्ते तावदादितः ।

ग्रहांशौ मन्द्रतारौ च न्यासापन्यासकौ तथा ॥५०१॥

अथ संन्यासविन्यासौ बहुत्वं चाल्पता तथा ।

लक्षणानि दशतानि रागाणां मुनयोऽब्रुवन् ॥५०२॥

जो (स्वर-समूह विशेष) मन का रञ्जन करते हैं, उन्हें ‘राग’ कहते हैं । मतङ्गादि पूर्वाचार्यों ने रागों को दश लक्षणों (नियमों) से युक्त किया है । ये दश लक्षण क्रमानुसार इस प्रकार हैं :—ग्रह, अंश, मन्द्र, तार, न्यास, अपन्यास, संन्यास, विन्यास, बहुत्व तथा अल्पत्व । ये ही दश लक्षण संगीतज्ञों ने बताये हैं ।

दशानामपि चैतेषां क्रमालक्षणमुच्यते ।

अब इनके लक्षण क्रमशः बताते हैं ।

येनादौ गीयते गीतं स्वरेण स भवेद् ग्रहः ॥५०३॥

जिस स्वर से गीत (यानी राग) आरम्भ किया जाता है, उसे ‘ग्रह’ स्वर कहते हैं ।

१७४ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

बहुशो गीयते येन स्वरेणांशः स कथ्यते ।

अंशस्वरस्त्वसावेव जीवस्वर इति स्मृतः ॥५०४॥

जिस स्वर का बहुल प्रयोग किया जाता है, उसे 'अंश' स्वर कहा जाता है। 'अंश' को ही 'जीव' स्वर कहा गया है।

नीचैः स्वरेण यद्गानं स मन्द्रस्वर उच्यते ।

मन्द्र स्थान में प्रयुक्त स्वर को 'मन्द्र' स्वर कहते हैं।

उच्चस्वरेण यद्गानं स तारस्वर उच्यते ॥५०५॥

तार स्थान में प्रयुक्त स्वर को 'तार' स्वर कहते हैं।

न्यासस्वरः स कथितो येन गीतं समाप्यते ।

जिस स्वर पर गीत को समाप्त किया जाता है, उसे 'न्यास' स्वर कहते हैं।

अवान्तरसमाप्ति यो गीतस्यापि तनोति सः ॥५०६॥

अपन्यासः स स्मृतोऽन्यस्त्वात्यन्तिकसमाप्तिः ॥

इति भेदो भवेन्न्यासापन्यासस्वरयोर्द्वयोः ॥५०७॥

गीत के मध्य में, अर्थात् किसी भाग की समाप्ति बताने वाले स्वर को 'अपन्यास' स्वर कहते हैं। यह स्वर अवान्तर-समाप्ति का सूचक है, जबकि न्यास स्वर आत्यन्तिक समाप्ति का। न्यास और अपन्यास में यही अन्तर है।

संन्यासो नाम गीताद्यखण्डस्यैव समाप्तिः ॥

गीत का प्रथम खण्ड जिस स्वर पर समाप्त होता है, वह 'संन्यास' स्वर कहलाता है।

गीतखण्डाद्यावयवस्यान्ते तिष्ठति स स्वरः ॥५०८॥

विन्यासः ,

गीत के प्रथम खण्ड के किसी अवयव की समाप्ति जिस पर होती है, वह स्वर 'विन्यास' स्वर कहा जाता है।

.... एतौ संन्यासविन्यासौ भरतादिसिः ।

अन्तर्भूतावपन्यासस्वर एवेति कीर्तितम् ॥५०९॥

१. अनुवाद की सुविधा की दृष्टि से यहाँ श्लोक-पंक्तियों को यथावश्यक रूप से तोड़ा गया है।

स्वराध्याय : १७५

भरत आदि आचार्यों ने संन्यास और विन्यास स्वरों को अपन्यास स्वर के ही अन्तर्भूत बताया है ।

अलङ्घनं तथाऽभ्यासो बहुत्वं द्विविधं मतम् ।

बहुत्व दो प्रकार का माना गया है—अलङ्घनजन्य बहुत्व तथा अभ्यास-जन्य बहुत्व ।

स्वरस्यास्पर्शनं यत्तल्लङ्घनं परिकीर्तितम् ॥५१०॥

साकल्येन स्वरस्पर्शस्त्वलङ्घनमिति स्मृतम् ।

स्वर को स्पर्श न करने की (अर्थात्, स्वर को पूर्णतः छोड़ देने की) क्रिया को 'लङ्घन' कहा गया है । स्वर को पूर्णतः स्पर्श करने की क्रिया 'अलङ्घन' है ।

यदेकस्य स्वरस्यैव नैरन्तर्येण वाऽथवा ॥५११॥

व्यवधानेन स्याद् भूयो भूयोऽप्युच्चारणं हि तत् ।

अभ्यासः ॥५१२॥

जहाँ एक ही स्वर का लगातार, अथवा रुक-रुक कर बार-बार, उच्चारण किया जाता है, उसे 'अभ्यास' कहते हैं ।

.... इति शंसन्ति बहुत्वं द्विविधं ततः ॥५१२॥

इस प्रकार, बहुत्व के दो प्रकार बताये गये हैं ।

अल्पत्वं च द्विधा प्रोक्तमनभ्यासाच्च लङ्घनात् ।

पूर्वोक्ताभ्यासराहित्यमनभ्यासः प्रकीर्तितः ॥

पूर्वोक्तालङ्घनाभावो लङ्घनं परिकीर्तितम् ॥५१३॥

अल्पत्व भी दो प्रकार से बताया गया है—अनभ्यासजन्य एवं लङ्घन-जन्य । पूर्व पंक्तियों में वर्णित अभ्यास का अभाव जहाँ हो, उसे 'अनभ्यास' कहते हैं, एवं अलङ्घन का अभाव 'लङ्घन' कहा गया है ।

टीका—'राग' की परिभाषा में उसे 'ध्वनि की विशेष रचना' कहा गया है, यह हम पूर्व पृष्ठों में देख चुके हैं । राग का यह वैशिष्ट्यपूर्ण ध्वनि-स्वरूप जिन नियमों का पालन करते हुए स्वरों के संयोजन के द्वारा निर्मित होता है, उन्हें राग-लक्षण अथवा राग-नियम कहा जाता है । प्राचीन सङ्गीताचार्यों ने राग के दस लक्षण प्रतिपादित किये हैं । प्राचीन सङ्गीत में राग के गायन में उन नियमों का अत्यन्त शुद्धतापूर्वक पालन अपेक्षित था ।

१७६ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

प्रत्येक राग के आरम्भ तथा अन्त के निश्चित स्वर माने गये थे। 'ग्रह' राग का आरम्भक स्वर था, तथा 'न्यास' उसकी पूर्ण समाप्ति का स्वर। आज की भाँति स्वेच्छापूर्वक किसी भी स्वर से राग का आरम्भ और किसी भी स्वर पर उसकी समाप्ति प्राचीन सङ्गीत में अशास्त्रीय मानी जाती थी।

आरम्भ और अन्त के अतिरिक्त प्रत्येक राग के मध्यवर्ती विराम-स्वर भी सुनिश्चित हुआ करते थे, जिन्हें 'अपन्यास' स्वर कहा गया है। गीत के उद्ग्राह, मेलापक आदि खण्डों की समाप्ति के लिए 'अपन्यास' नामक स्वर निश्चित होते थे। 'संन्यास' और 'विन्यास' विशिष्ट खण्डों के समाप्तिसूचक 'अपन्यास' ही हैं।

प्रत्येक राग के मन्द्रस्थान तथा तारस्थान में चलन की अवधि भी विशिष्ट स्वरों तक होती थी। 'मन्द्र' स्वर और 'तार' स्वर राग की मन्द्रावधि तथा तारावधि को व्यक्त करते हैं। प्राचीनकाल में मन्द्र और तारस्थानों में विस्तार वर्तमान संगीत की भाँति गायक की आवाज के गुण-धर्म, अभ्यास और इच्छा के अनुसार किया जा सकना सम्भव नहीं था।

राग के स्वरूप के अनुसार उसके स्वरों का सापेक्ष परिमाण का ध्यान रखना आवश्यक होता है। उसमें कुछ स्वर बहुप्रयुक्त होते हैं तथा कुछ अल्प-प्रयुक्त। 'अंश' राग का सर्वाधिक प्रयुक्त केन्द्रस्थानीय स्वर है। वस्तुतः अन्य स्वरों के परिमाण 'अंश' के आधार पर ही निश्चित हो पाते हैं। राग का सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्वर होने के कारण ही उसे राग का प्राण या जीवस्वर भी कहा जाता है। कालान्तर में 'वादी' 'अंश' का पर्याय बन चला।

किसी भी स्वर को बहुत्व प्रदान करने के लिए या तो उसे लगातार या बारंबार गाया जा सकता है, अथवा उसे लेते हुए ही अन्य स्वरों का विस्तार किया जा सकता है। प्रथम क्रिया को 'अभ्यास' तथा द्वितीय को 'अलङ्घन' कहा गया है। स्वर के अनभ्यास तथा अलङ्घन से उसका परिणाम स्वयमेव अल्प हो जाता है।

परवर्ती युगों में राग-गायन में इन दश-लक्षणों का महत्व घटता गया, तथा गायक अपनी कल्पना के अनुसार राग-व्यवहार करने लगे। फलस्वरूप, राग-नियमों की संख्या कम होते-होते वर्तमान राग-गायन में वादी-सवादी नियम तथा अन्य कुछ नियम ही शेष रह गये हैं।

वादी-संवादी स्वर प्रकरण

रत्नाकरे—

चतुर्विधाः स्वरा वादी संवादी च विवाद्यपि ।

अनुवादी च वादी तु प्रयोगे बहुलस्वरः ॥५१४॥

श्रुतयो द्वादशाष्टी वा ययोरन्तरगोचराः ।

मिथः संवादिनौ तौ स्तो निगावन्यविवादिनौ ॥५१५॥

रिधयोरेव वा स्यातां तौ तयोर्वा रिधावपि ।

शेषाणामनुवादित्वं वादी राजाऽत्र गीयते ॥५१६॥

संवादी त्वनुसारित्वावस्यामात्योऽभिधीयते ।

विवादी विपरीतत्वाद्धीरंशक्तो रिपूपमः ॥५१७॥

नृपामात्यानुसारित्वावनुवादी तु धृत्ययत् ॥५१८॥

सङ्गीतरत्नाकर के अनुसार :—स्वर चार प्रकार के होते हैं : वादी, संवादी, विवादी और अनुवादी । जिस स्वर का बहुल प्रयोग होता है, वह वादी स्वर होता है । जिन दो स्वरों के बीच आठ या बारह श्रुतियों का अन्तर दिखायी देता है वे परस्पर संवादी होते हैं । नि और ग परस्परसंवादी हैं, किन्तु रे और ध के लिए वे विवादी हैं । इसी प्रकार रे और ध परस्पर संवादी हैं, किन्तु ग और नि के लिए विवादी । इनके अतिरिक्त शेष स्वर अनुवादी कहे जाते हैं । वादी स्वर को राजा माना जाता है । वादी स्वर का अनुसरण करने वाला होने के कारण संवादी उसका मन्त्री कहा जाता है । विपरीत होने के कारण विवादी को विद्वानों ने शत्रुतुल्य कहा है । राजा और मन्त्री—अर्थात्, वादी और संवादी के अनुसरण के कारण अनुवादी स्वरों को सेवकों के समान माना गया है ।

टीका—वादी, संवादी, विवादी तथा अनुवादी स्वरों की व्याख्या दो प्रकार से की जाती है—(१) स्वरों के पारस्परिक ध्वनि-सम्बन्धों के अनुसार; तथा (२) राग में स्वरों के स्थान और उनके सापेक्ष महत्व के अनुसार । सङ्गीतरत्नाकर के इस अंश में इन दोनों व्याख्याओं को प्रस्तुत किया गया है । वादी स्वर को सदा ही जाति तथा राग का सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं सर्वाधिक बहुत्वयुक्त स्वर माना जाता रहा है । वादी को अंश स्वर तथा जीव स्वर भी कहा गया है । वह राग-राज्य का अधिपति माना गया है, क्योंकि वह राग का केन्द्र होता है तथा राग का स्वरूप उस पर ही अवलम्बित होता है ।

१७८ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

ध्वनिशास्त्र की दृष्टि से संवादी उन दो स्वरों को कहते हैं, जिनको साथ-साथ सुनने पर मधुरता का अनुभव हो। इसके विपरीत, जिन दो स्वरों का सम्मिलित प्रभाव सुखद न हो, उन्हें विसंवादी अथवा विवादी माना गया है। संवाद (Concord or Harmony) तथा विवाद या विसंवाद (Discord) का यह वैज्ञानिक सिद्धान्त भारतीय संगीत शास्त्र में भी अङ्गीकृत किया गया है। हमारे यहाँ संवाद और विवाद का निर्णय दो स्वरों की श्रुत्यन्तरता के आधार पर किया गया है। आचार्य भरत ने कहा है कि जिन दो स्वरों में नौ या तेरह श्रुतियों का अन्तर होता है, वे परस्पर संवादी होते हैं—“यथोच्च नवकत्रयोदशश्रुत्यन्तरे तावन्योन्यं संवादिनौ” (नाट्यशास्त्र, अध्याय २८)। आचार्य शाङ्गदेव ने भी यही बात कही, किन्तु उन्होंने दो स्वरों के बीच की श्रुतियों की संख्या बतायी है। अतः भरताचार्य द्वारा व्यक्त ‘नवकत्रयोदशश्रुत्यन्तर’ और शाङ्ग-देवोक्त ‘श्रुतयो द्वादशाष्टौ वा’ में अन्तर मात्र शब्दों का है। पड़ज ग्राम में सा-प, सा-म, रे-घ और ग-नि तथा मध्यम ग्राम में सा-म, रे-प, रे-घ और ग-नि परस्पर संवादी बताये गये हैं। विकृत स्वरों में भी साधारण ग-कैशिक नि, तथा अन्तर-काकली नि संवादी माने गये हैं। राग की दृष्टि से, वादी के बाद सबसे महत्वपूर्ण स्वर को संवादी माना जाता है। वह वादी से चार या पाँच स्वर दूर होता है। प्रायः संवादी स्वर ध्वनिदृष्टि से भी वादी के साथ संवाद रखता है, किन्तु अनेक राग ऐसे हैं, जिनमें संवादी वादी से इस दृष्टि से संवाद नहीं रखता। वादी सप्तक के पूर्वाङ्ग का हो, तो संवादी उत्तराङ्ग का होता है; या उत्तराङ्गगत वादी का संवादी पूर्वाङ्गगत होता है। संवादी राग-स्वरूप की स्थापना में वादी का सहायक होता है, तथा वादी का अनुसरण करता है, इसलिए उसे राग-साम्राज्य में वादी का मन्त्री माना गया है।

आचार्य भरत ने बीस श्रुतियों के अन्तर पर स्थित स्वरों को परस्पर विवादी कहा है, तथा उनके अनुसार रे-न और घ-नि में विवाद है। दत्तिल ने इसी को आरोह क्रम में व्यक्त करते हुए कहा कि दो श्रुतियों का अन्तराल स्वरों के विवादित्व का लक्षण है। शतुर्दण्डप्रकाशिका के अनुसार जिन दो स्वरों के बीच एक श्रुति हो वे विवादी होते हैं। राग की दृष्टि से विवादी ऐसा राग-बाह्य स्वर है, जो यद्यपि रागनाशक होता है, तथापि समुचित प्रमाण में कुशलतापूर्वक प्रयुक्त किये जाने पर वही राग की सुन्दरता में वृद्धि करता है। राग में किसी स्वर को विवादी तब माना जाता है, जब या तो

वह उस राग के मेल में आने वाले शुद्ध-विकृत स्वरों में से न हो, या फिर राग के नियमित स्वरों में से न हो। विवादी राग-सौन्दर्य का आवश्यक नहीं, अपितु अतिरिक्त उपकरण माना गया है। इस स्वर को राग-साम्राज्य का शत्रु माना गया है। विवादी को नियन्त्रित रखकर राग-सौन्दर्यवर्धक बनाना अत्यन्त कौशल की अपेक्षा रखता है।

ग्राम या सप्तक के, तथा राग के भी, उपर्युक्त वादी, संवादी और विवादी के अतिरिक्त अन्य स्वरों को अनुवादी कहा जाता है। इनका प्रयोग वादी, संवादी और विवादी के सहायकों के रूप में होता है। इसी लिए उनकी तुलना सेवकों से की गयी है।

सङ्गीतपारिजाते—

सङ्गीतशास्त्रवेत्तारः प्रवदन्ति मुनीश्वराः ।

प्रयोगो बहुधा यस्य वादिनं तं स्वरं जगुः ॥५१९॥

मिथः संवादिनी तौ स्तः सप्तौ स्यातां पप्तौ तथा ।

न वादी न च संवादी न विवाद्यपि यः स्वरः ॥५२०॥

सोऽनुवादीति विज्ञेयः सूक्ष्मदृष्ट्या विचक्षणैः ।

रक्तिविच्छेदहेतुत्वं यस्मिन् रागे तु यस्य तत् ॥

तद्वागस्थस्वरैस्तस्य विवादित्वं भवेद् ध्रुवम् ॥५२१॥

जिस स्वर का बहुविध प्रयोग राग में किया जाता है, उसे संगीत-शास्त्रज्ञ वादी स्वर कहते हैं। सा और प, तथा इसी प्रकार प और सा परस्पर संवादी होते हैं। जो स्वर न वादी हों, न संवादी और न विवादी उसे विद्वानों को सूक्ष्म निरीक्षण द्वारा अनुवादी स्वर जानना चाहिए। जो स्वर राग की रञ्जकता को नष्ट करने का कारण बनें उस स्वर का विवादित्व उस राग के स्वरों से निश्चय ही होता है।

सङ्गीतसमयसारे—

सप्तस्वराणां मध्येऽपि स्वरे यस्मिन्सुरागता ।

स जीवस्वर इत्युक्तो ह्यंशो वादीति कथ्यते ॥५२२॥

सप्त स्वरों के बीच भी जिस स्वर में सर्वाधिक रागत्व होता है, उसे जीव स्वर कहते हैं। जीव स्वर ही अंश स्वर और वादी स्वर भी कहलाता है।

१८० : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

टीका—‘सुरागता’ का सामान्य अर्थ तो मधुरता होता है, किन्तु हमारा मत है, कि यहाँ राग के जीवस्वर के सन्दर्भ में उसका अर्थ रागत्व, अर्थात् राग का विशिष्ट लक्षणों सहित व्यक्त होने वाला गुण, अधिक उचित प्रतीत होता है ।

जीवस्वरस्य सदृशः संवादिस्वर उच्यते ।

जो स्वर जीव स्वर के ही समान होता है, उसे संवादी स्वर कहा जाता है ।

विवादी स्याद्विसदृशः सोऽनुवादी त्रयात्मकः ॥५२३॥

विवादी स्वर वादी के विसदृश, यानी विपरीत, विरुद्ध होता है । अनुवादी स्वर वादी, संवादी और विवादी तीनों के अनुसार होता है ।

अनुवादिनि संवादिनि जीवस्वरके कलाविद्धिः ।

बहुतमबहुतरबहुतः कार्यं रागा विलोमेन ॥५२४॥

सङ्गीतकलाविदों को रागों का व्यवहार या विस्तार अनुवादी, संवादी और जीव स्वर पर क्रमशः अधिक, अधिकतर तथा अधिकतम करना चाहिए ।

टीका—श्लोक में अनुवादी, संवादी तथा जीव स्वर पर राग का विस्तार ‘विलोमेन’ अर्थात् विपरीत क्रम में बहुतम, बहुततर और बहु बताया गया है ।

सुप्रयोगे विवादी सः स्वल्पः कार्योऽथवा पुनः ।

प्रच्छादनीयो लोप्यो या मनाक्स्पर्शः स्वरस्य यः ॥

प्रच्छादनं तदेवाहुर्लोपः स्वरस्य विकृतिः ॥५२५॥

अत्यन्त ही कौशलपूर्ण प्रयोग के द्वारा विवादी स्वर को अत्यल्प, या फिर, प्रच्छादनीय अथवा लोप्य बना कर राग में प्रयुक्त किया जाता है । मनाक् स्पर्श के द्वारा जब स्वर को लिया जाता है, तब उसे प्रच्छादन कहते हैं । स्वर की विकृति को लोप कहते हैं ।

टीका—मनाक् स्पर्श से अभिप्राय है—स्वर का अत्यन्त ही कम मात्रा में स्पर्श के द्वारा प्रयोग । विवादी स्वर को मुक्त, स्पष्ट, दीर्घ रूप में नहीं लिया जाता । राग के नियमित स्वरों पर विस्तार करते हुए कभी-कभी विवादी को बहुत कम प्रमाण में ले लिया जाता है । विवादी राग के नियमित स्वरों के बीच प्रच्छादित अथवा ढँके हुए रूप में ही लिया जाना चाहिए, न कि मुक्त रूप में, इसी लिए उसे प्रच्छादनीय माना गया है । ‘लोप्य’ का अर्थ

है—छिपा कर रखने योग्य । सङ्गीतसमयसार में स्वर की विकृति को लोप कहा गया है । परन्तु, विवादी के सन्दर्भ में 'विकृति' का अर्थ, विकृत (अर्थात् जो शुद्ध स्वर न हो) स्वर के स्थान पर वक्र स्वर, अधिक उचित प्रतीत होता है । विवादी को प्रायः सीधे न लगाकर वक्र रूप में लिया जाता है ।

चतुर्दण्डप्रकाशिकायाम्—

वादी संवाद्यपि तथा विवादी चानुवाद्यथ ।

अब वादी, संवादी, विवादी और अनुवादी का वर्णन करते हैं ।

प्रयोगे बहुधावृत्तः स्वरो वादीति कथ्यते ॥५२६॥

प्रयोग में बारंबार लिये जाने वाले स्वर को वादी कहते हैं ।

श्रुतयो द्वादशाष्टौ वा ययोरन्तरगोचराः ।

मिथः संवादिनौ तौ चेत्येवं संवादिलक्षणम् ॥५२७॥

समौ तपो रिधौ चैव निगौ संवादिनौ मिथः ।

एवं शुद्धस्वरेषूक्तः संवादिस्वरनिर्णयः ॥५२८॥

साधारणाख्यगान्धारकैशिक्याख्यनिषादयोः ।

तथैवान्तरकाकल्योः संवादो विकृतेष्वपि ॥५२९॥

जिन दो स्वरों में वारह अथवा आठ श्रुतियों का अन्तर दृष्टिगोचर होता है, वे परस्पर संवादी होते हैं, यह संवादी का लक्षण है । शुद्ध स्वरों में सा-म, सा-प, रे-घ और ग-नि संवादी हैं । विकृत स्वरों में भी साधारण ग-कैशिक नि, और अन्तर ग-काकली नि संवादी हैं ।

शुद्धर्षभेण संवादी वराळीमध्यमस्तथा ।

शुद्धश्च मध्यमः शुद्धनिषादश्चेत्युभौ स्वरी ॥५३०॥

श्रुत्यष्टकेनान्तरिततावपि संवादिनौ न हि ।

एवं संवादिलक्ष्मोक्तं विवादी लक्ष्यतेऽधुना ॥५३१॥

शुद्ध रे-वराळी म संवादी होते हैं । शुद्ध म और शुद्ध नि आठ श्रुतियों के अन्तर पर स्थित होते हुए भी संवादी नहीं हैं । इस प्रकार संवादी स्वरों का निरूपण किया गया । अब विवादी के विषय में बताते हैं ।

एकश्रुत्यन्तरितता ययोस्तु स्वरयोर्द्वयोः ।

तयोर्मिथो विवादिस्त्वमेवं सर्वत्र कल्पयेत् ॥५३२॥

१८२ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

रिगो धनी च शुद्धेषु स्वरो स्यातां विवादिनी ।
साधारणान्तरो चैव कैशिकीकाकली स्वरो ॥५३३॥
मिथो विवादिनी ज्ञेया विकृतेषु स्वरेष्वपि ।

जिन दो स्वरोँ में एक श्रुति का अन्तर होता है, उन्हें सर्वत्र परस्पर-विवादी माना जाता है। शुद्ध स्वरोँ में रे-ग, और घ-नि तथा विकृत स्वरोँ में साधारण ग-अन्तर ग, तथा कैशिकी नि-काकली नि को परस्पर-विवादी जानना चाहिए।

विवादिवादिसंवादिभिन्नाः स्युरनुवादिनः ॥५३४॥

विवादी, वादी और संवादी के अतिरिक्त अन्य स्वर अनुवादी होते हैं।

चतुर्विधष्वरेस्वेषु वादी राजा प्रकीर्त्यते ।

संवादी त्वनुसारित्वादस्यामात्यो विधीयते ॥५३५॥

विवादी विपरीतत्वाद्धीरैरुक्तो रिपूपमः ।

इन चतुर्विध स्वरोँ में से वादी स्वर को राजा कहा जाता है। वादी का अनुसरण करने के कारण संवादी स्वर को उसका मन्त्री माना जाता है। विवादी स्वर वादी के विपरीत होने के कारण विद्वानों द्वारा शत्रुतुल्य कहा गया है।

स्वरूपमर्दनं तेन प्रयोगे स्याद्विवादिना ॥५३६॥

स्वरूपमर्दनाभावे गीते रक्तिनं लभ्यते ।

विवादी स्वर के प्रयोग से राग-स्वरूप नष्ट हो जाता है। राग-स्वरूप पूर्णरूपेण नष्ट हो जाने पर, अथवा राग-स्वरूप का मर्दन न होने पर गीत से रञ्जकता की प्राप्ति नहीं होती।

टीका—‘स्वरूपमर्दनाभावे’ का विग्रह स्वरूपमर्दन+अभावे, तथा स्वरूपमर्दन+आभावे दोनों तरह से हो सकता है। ‘अभाव’ में ‘अ’ उपसर्ग अनुपस्थिति का द्योतक है। अतः पहली दृष्टि से श्लोक की द्वितीय पंक्ति का अर्थ होगा—रागस्वरूप के नष्ट न होने पर गीत में रञ्जकता नहीं आती। ‘आभाव’ में ‘आ’ उपसर्ग ‘आसमन्तात्’—पूर्ण रूप से—का सूचक है। अतः उक्त श्लोकार्थ का यह अर्थ भी सम्भव है—रागस्वरूप के पूरी तरह से नष्ट हो जाने पर गीत में रञ्जकता नहीं रहती। यहाँ उद्धृत श्लोक चतुर्दण्डप्रकाशिका के मद्रास संस्करण में भी ठीक इसी प्रकार है, इसलिए यह कहा जा सकता है, कि ‘स्वरूपमर्दनाभावे’ में कोई मुद्रण-श्रुति नहीं है। इसी लिए ये

स्वराध्याय : १८३

दोनों अर्थ लिये जा सकते हैं। विद्वानों को सही अर्थ का निर्णय करना चाहिए। हमारे विनम्र मतानुसार, दूसरा अर्थ अधिक ठीक प्रतीत होता है।

मृपामात्यानुसारित्वावनुवादी तु श्रुत्यवत् ।

वादिविवादिसंवाद्यनुवादिस्वरमण्डलम् ॥५३८॥

राजा और मन्त्री का अनुसरणकर्ता होने के कारण अनुवादी स्वर सेवक के समान है। इस प्रकार, वादी, विवादी, संवादी और अनुवादी स्वरों का मण्डल है।

साम्प्रतं लक्ष्ये—

आधुनिक सङ्गीत में—

गीतं प्रारभ्यते येन स स्वरः ग्रह ईरितः ।

गीतं समाप्तिकृन्त्यासो वर्ण्यते चांशकोऽधुना ॥५३९॥

बहुशो गीयते येन स्वरेणांशः स कथ्यते ।

अंशस्वरस्त्वसावेव जीवस्वर इति स्मृतः ॥५४०॥

गीत का आरम्भ जिस स्वर से किया जाता है, उसे 'ग्रह स्वर' कहते हैं। गीत की समाप्ति का स्वर 'न्यास' कहा जाता है। जिस स्वर का राग में बहुल प्रयोग होता है, उसे 'अंश' स्वर कहते हैं। अंश स्वर को ही जीव स्वर कहा गया है।

लक्षणानां दशोक्तानां नूनं स्याद् गौरवं पुरा ।

देश्यामिह पुनस्तेषां दृश्यते परिलोपनम् ॥५४१॥

पूर्ववर्णित दश लक्षणों का प्राचीन काल में वास्तव में महत्व था, किन्तु वर्तमान देशी सङ्गीत में उनका लोप दिखायी देता है।

मध्यकालीनग्रन्थेषु ग्रहांशन्याससंयुतम् ।

यद्वागलक्षणं ख्यातं न तदद्यात्र लक्ष्यते ॥५४२॥

मध्यकालीन ग्रन्थों में ग्रह, अंश, न्यास से युक्त जो रागलक्षण बताये हैं, वे आज दिखायी नहीं देते।

अधुना लक्ष्यमार्गे तु मेलजात्यादिसाधनः ।

तथा वादिस्वरेणैव सर्वे रागाः सुवर्णिताः ॥५४३॥

प्रचलित सङ्गीत में रागों के वर्णन उनके मेल, सम्पूर्ण षाडवादि जातियों तथा वादी स्वर आदि के द्वारा किये गये हैं।

१८४ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

प्रत्येकस्मिन्स्तु रागेऽत्र वादी ह्यतिमहत्त्ववान् ।

निर्णयिको रागनाम्नः समयस्य प्रसूचकः ॥५४४॥

प्रत्येक राग में वादी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्वर होता है, जो राग के नाम का निर्णय कराता है, तथा उसके गान-समय को सूचित करता है ।

विदग्धा गायका गीते प्रायो विवादिनं स्वरम् ।

ईषत्स्पर्शप्रयोगेण दर्शयन्ति सपादवम् ॥५४५॥

कुशल गायक गीत में विवादी स्वर को अत्यन्त चतुरतापूर्वक किञ्चित्स्पर्श प्रयोग के द्वारा प्रायः प्रदर्शित करते हैं ।

विवादिनं स्वरं प्रायो योजयन्त्यवरोहणे ।

न तच्छास्त्रेऽतिदोषार्हमित्यूचुर्लक्ष्यवेदिनः ॥५४६॥

वे विवादी स्वर का प्रयोग प्रायः अवरोह में करते हैं । लक्ष्य सङ्गीत के विद्वानों का कहना है कि ऐसा प्रयोग शास्त्र की दृष्टि से अत्यन्त दोषपूर्ण नहीं है ।

सुप्रमाणयुतो मन्ये विवाद्यपि सुरक्तिवः ।

यथेषत्कृष्णवर्णेन शुभ्रस्याति विचित्रता ॥५४७॥

मेरी मान्यता है कि समुचित प्रमाण में विवादी भी अत्यन्त रक्तिदायक होता है; जिसप्रकार कि किञ्चित् काले रंग के कारण शुभ्रता में अत्यन्त वैचित्र्य आ जाता है ।

टीका—ग्रन्थकार ने यहाँ राग में विवादी स्वर के प्रमाण तथा परिणाम को अत्यन्त मार्मिक ढंग से स्पष्ट किया है । वैसे तो विवादी राग-स्वरूप को नष्ट ही करता है, किन्तु यदि अत्यल्प प्रमाण में उसका सुस्थान तथा कुशलतापूर्ण प्रयोग किया जाय तो वह राग के माधुर्य में उसी प्रकार सहायक होता है जिस प्रकार गोरे मुख पर काला तिल !

—०❀०—

प्रचलित उत्तर भारतीय सङ्गीतपद्धति में राग-समय सिद्धान्त

प्रातःकाले तथा सायंकाले गेयास्तु ये मताः ।

सन्धिप्रकाशनामानो रागा अस्माभिरीरिताः ॥५४८॥

स्वराध्याय : १८५

जो राग प्रातःकाल तथा सायङ्काल के समय गाने योग्य माने जाते हैं, उन्हें हम 'सन्धिप्रकाश राग' कहते हैं।

एतद्वागेषु निर्दिष्टं वैचित्र्यं लक्ष्यवेदिभिः ।

मृदुत्वं रिषयोश्चाथ तीव्रत्वं गनिषादयोः ॥५४९॥

लक्ष्यज्ञ विद्वानों के मतानुसार ऋषभ-धैवत का कोमलत्व तथा गान्धार-निषाद का तीव्रत्व (शुद्धत्व) इन सन्धिप्रकाश रागों का विशिष्ट लक्षण है।

सायङ्काल प्रगेयत्वं तीव्रमेण भवेत्स्फुटम् ।

शुद्धमेण भवेत्तद्वत् प्रातःकालप्रसूचनम् ॥५५०॥

तीव्र मध्यम से सायङ्गेयत्व तथा शुद्ध मध्यम से प्रातर्गेयत्व प्रकट होता है।

हिन्दुस्थानीयरागाणां त्रयो वर्गाः सुनिश्चिताः ।

स्वरविकृत्यधीनास्ते लक्ष्यलक्षणकोविदैः ॥५५१॥

रिषयतीव्रका रागा वर्गोऽग्निमे व्यवस्थिताः ।

द्वितीये कीर्तिताः सर्वे रिषकोमलसंयुताः ॥५५२॥

तृतीये तु नियुक्ताः स्युर्गनिकोमलमण्डिताः ।

लक्ष्य-पद्धति के सिद्धान्तों के मर्मज्ञ विद्वानों ने उत्तरभारतीय सङ्गीत में प्रचलित रागों के तीन वर्ग निश्चित किये हैं। प्रथम वर्ग में वे राग रखे गये हैं, जिनमें ऋषभ, गान्धार तथा धैवत तीव्र (शुद्ध) हैं। द्वितीय वर्ग में कोमल ऋषभ-धैवत वाले राग आते हैं। तृतीय वर्ग में कोमल गान्धार-निषाद युक्त राग रखे गये हैं।

समयादिव्यवस्थाऽत्र भवेन्मेनाध्वदर्शिता ॥५५३॥

यह राग-समय व्यवस्था 'अध्वदर्शक' स्वर मध्यम पर आश्रित है।

त्रिष्वेतेषु सुवर्गेषु सङ्गीतं लक्ष्यपूर्वकम् ।

समावेशयितुं शक्यमिति मर्मज्ञसम्मतम् ॥५५४॥

सङ्गीतज्ञों की मान्यता है कि उपर्युक्त तीन वर्गों में अधुना प्रचलित सङ्गीत का समावेश अच्छी तरह हो सकता है।

टीका—उत्तर भारतीय सङ्गीत में प्रचलित प्रत्येक राग का गान-समय शास्त्रों में निर्दिष्ट है। तदनुसार, किसी भी राग को उसके नियत समय पर

१८६ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

ही गाना चाहिए, ऐसी मान्यता कलाकारों और श्रोताओं में प्रचलित है। नियत समय पर प्रस्तुत राग ही रञ्जक होता है, ऐसा माना गया है—

यथाकाले समारब्धं गीतं भवति रञ्जकम् ।

अतः स्वरस्य नियमात् रागेऽपि नियमः कृतः ॥

निश्चित समय पर राग-गायन का विधान उत्तर पद्धति का ही वैशिष्ट्य है। दाक्षिणात्य सङ्गीत में राग-समय-बन्धन नहीं है।

उत्तर पद्धति के रागों का सूक्ष्म विश्लेषण कर विद्वानों ने समय-दृष्टि से रागों के तीन वर्ग किये हैं। प्रथम वर्ग में वे राग आते हैं, जिनमें ऋषभ-धैवत कोमल हों तथा गान्धार-निषाद शुद्ध। द्वितीय वर्ग में शुद्ध ऋषभ-गान्धार-धैवत युक्त राग माने गये हैं। तृतीय राग-वर्ग कोमल गान्धार-निषाद वाले रागों का है।

प्रातःकाल से सायङ्काल तथा पुनः सायङ्काल से प्रातःकाल तक यह राग-त्रिवर्ग पुनरावृत्त होता है। प्रातःकाल तथा सायङ्काल में प्रथम वर्ग के राग गाये जाते हैं। इन्हें 'सन्धिप्रकाश' राग कहते हैं, क्योंकि दिवस तथा रात्रि की सन्धि-वेला में उनका गान होता है। सन्धिप्रकाश रागों के पश्चात् दिन और रात्रि में उपरिनिर्दिष्ट द्वितीय वर्ग के तथा उनके उपरान्त तृतीय वर्ग के राग आते हैं। प्रथम वर्ग के राग ठीक सूर्योदय तथा सूर्यास्त के समय गेय हैं। द्वितीय वर्ग के राग प्रायः प्रथम और द्वितीय प्रहरों के बीच—अर्थात् लगभग १२ बजे तक के समय में—गाये जाते हैं। तृतीय वर्ग के राग तृतीय और चतुर्थ प्रहरों के बीच प्रायः गाये जाते हैं।

एक वर्ग की समाप्ति और आगामी वर्ग के आरम्भ के मध्यवर्ती काल में प्रायः ऐसे राग होते हैं, जिनमें दोनों वर्गों के मिश्रित लक्षण होते हैं। ऐसे रागों में से अनेक को 'परमेळप्रवेशक राग' माना गया है, क्योंकि वे अपने वर्ग के स्वरों के साथ ही आगामी वर्ग के स्वरों से भी युक्त होते हैं, जिसके कारण उनके गायन के पश्चात् अगले वर्ग के रागों में 'प्रवेश' करना सरल हो जाता है।

समय-दृष्टि से मध्यम अत्यन्त ही विलक्षण स्वर प्रतीत होता है। समय-क्रम के अवलोकन से ज्ञात होता है कि प्रातःकालीन रागों में शुद्ध मध्यम तथा सायङ्कालीन रागों में तीव्र मध्यम का वर्चस्व होता है। प्रातःकाल से सायङ्काल तक के समय के रागों में शुद्ध मध्यम का प्राधान्य क्रमशः घटते-घटते तीव्र मध्यम का महत्त्व बढ़ने लगता है, एवं अन्ततः सायङ्कालीन रागों में तीव्रमध्यम प्रधान

हो जाता है और शुद्धमध्यम गोण ! इसके विपरीत, रात्रि में पहले तीव्रमध्यम की प्रधानता होती है, जो आगे क्रमशः कम होती जाती है तथा शुद्धमध्यम का महत्त्व बढ़ता जाता है और अन्ततोगत्वा प्रातःकाल तक शुद्ध मध्यम का प्राधान्य स्थापित हो जाता है। उत्तर रात्रि के पश्चात् जहाँ तीव्रमध्यम भी ह्यो, वहाँ वह गोण ही रहता है। मध्य रात्रि के अनन्तर शुद्ध मध्यम का महत्त्व क्रमशः बढ़ता जाता है तथा प्रातःकालोपरान्त मध्याह्न के लगभग उसका स्थान बना रहता है। मध्याह्न के आगे तीव्रमध्यम का आगमन होने लगता है तथा उसका महत्त्व क्रमशः बढ़ते हुए सायंकालीन रागों में वह प्रधान हो जाता है। आगे भी मध्य रात्रि तक उसका प्राधान्य स्थिर रहता है। यही कारण है कि मध्यम की किसी राग में स्थिति को देख कर राग गान-समय की काफी हद तक सही कल्पना हो जाती है। एक पूर्ण अहोरात्र क्रम (यानी, सूर्योदय से से सूर्योदय तक) में राग के 'अध्व' अर्थात् मार्ग या स्थिति का ज्ञान मध्यम ही कराता है; इसी लिए उसे 'अध्वदर्शक स्वर' कहा गया है।

पूर्वोक्त राग-त्रिवर्ग एवं उनमें मध्यम के शुद्धत्व-विकृतत्व के अनुसार रागों और उनके जनक मेलों को देखने पर हमें निम्नलिखित प्रमुख बातों का ज्ञान होता है :—

(१) रे-ध्रु के साथ शुद्ध म होने के कारण भैरव मेल प्रधानतः प्रातःकालीन सन्धिप्रकाश रागों का जनक है। इस प्रकार, रे-ध्रु के साथ तीव्र म होने के कारण पूर्वमेल सायंकालीन सन्धिप्रकाश वर्ग के लिए पूर्णतः उपयुक्त है। इसी लिए, भैरव मेल के अधिकांश राग प्रातर्ग्य हैं तथा पूर्वमेल के अधिकांश राग सायङ्ग्येय। पूर्वमेल के जो राग प्रातर्ग्य होंगे; उनमें शुद्ध मध्यम की उपस्थिति अवश्यम्भावी है तथा वह तीव्र मध्यम पर हावी हो जायगा। दूसरी, भैरवमेलजन्य सायङ्ग्येय राग में (हालांकि, प्रचलित प्रसिद्ध सायंकालीन रागों में भैरवमेल का कोई भी राग सम्भवतः नहीं दिखायी देता) शुद्ध मध्यम की जगह तीव्र मध्यम प्रधान होगा।

(२) मारवा मेल में रे के साथ घ शुद्ध है, जो द्वितीय राग-वर्ग का चिह्न है। अतः यह मेल प्रथम वर्ग के समय के अन्त्यभाग के लिए उपयुक्त है। इसमें म तीव्र है। इस लिए यह मुख्यतः सन्ध्याकालोपरान्त काल के लिए उचित है। इस मेल के जो राग प्रातःकालीन होंगे, उनमें शुद्ध म होना ही चाहिए और वह भी प्रधान रूप में।

१८८ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

- (३) शुद्ध रे-ग-ध युक्त मेल कल्याण, विलावल और खमाज से उत्पन्न राग द्वितीय वर्ग में आते हैं। शुद्ध म के कारण विलावल दिन के योग्य तथा तीव्र म के कारण कल्याण रात्रि के योग्य है। किन्तु, कल्याण के दिवसगेय और विलावल के रात्रिगेय रागों में दोनों मध्यम होना स्वाभाविक है।
- (४) खमाज मेल में तृतीय वर्ग का एक लक्षण नि है। अतः इस मेल के रागों का समय कल्याण-विलावल मेल के रागों के बाद ही, तृतीय वर्ग के आरम्भ के निकट, रहता है।
- (५) काफी मेल तृतीय वर्ग का प्रतिनिधि है। शुद्ध मध्यमयुक्त इस मेल के अधिकांश रागों का मध्यरात्रिगेय होना स्वाभाविक है। मध्याह्नोत्तर काल में भी इस मेल के राग हैं।
- (६) आसावरी में ध्र और मैवरी में रे-ध्र भी ग-नि के साथ हैं। ये दोनों मेल तृतीय वर्ग के योग्य होते हुए भी प्रथम वर्ग के लक्षणों से युक्त हैं। अतएव इनसे उत्पन्न राग काफीजन्य रागों के पश्चात् ही आते हैं—प्रथम वर्ग के आरम्भ के निकटवर्ती काल में।
- (७) तोड़ी में रे-ध्र सन्धिप्रकाश वर्ग का, ग तृतीय वर्ग का, नि द्वितीय वर्ग का और म रात्रिगेयत्व का सूचक है। इस प्रकार तीनों वर्गों के लक्षण उसमें दिखते हैं। तथापि, ग और रे-ध्र का विशेष महत्त्व इस मेल के रागों में होने के कारण इसे तृतीय वर्ग के अन्तिमांश के लिए उपयुक्त मानना चाहिए। तीव्र म-नि के कारण इसे सायंकाल के लगभग माना जाना चाहिए। किन्तु प्रचलित सुपरिचित रागों में से मुलतानी के अतिरिक्त इस मेल के सभी राग प्रातःकालीन हैं ! इसी लिए, इस संकर-लक्षण युक्त मेल को पूर्ववर्णित राग-समय-व्यवस्था का अपवाद माना जाता है।

दिवस और रात्रि के रागों के उपर्युक्त तीन वर्गों में वर्गीकरण के अतिरिक्त 'पूर्व राग' तथा 'उत्तर राग' नाम से दो अधिक विस्तृत वर्गों में रागों को व्यवस्थित किया गया है। मध्याह्न से मध्यरात्रि के बीच जो राग आते हैं, उन्हें 'पूर्व राग' कहते हैं। पुनः, मध्यरात्रि से लेकर मध्याह्न के बीच गाये जाने वाले राग 'उत्तर राग' कहलाते हैं। 'पूर्व' और 'उत्तर' रागों के कुछ विशेष लक्षण हैं। पूर्व रागों में पूर्वाङ्ग अर्थात् सप्तक का सा से प तक का पूर्वभाग, प्रबल होता है; तथा उत्तर रागों में उत्तराङ्ग यानी प से सा तक का

द्वितीयार्ध ! पूर्वरागों में वादी पूर्वाङ्ग के स्वरों में से होता है, तथा उत्तररागों में उत्तराङ्ग स्वर वादी होता है। तदनुसार, पूर्वराग का संवादी उत्तराङ्ग का, और उत्तर राग का पूर्वाङ्ग का होता है। वादी स्वर ज्ञात हो जाने पर राग के गान-समय तथा अंग-प्रावत्य का स्वयमेव बोध हो जाता है। गिने-चुने कुछ अपवादों को छोड़ कर यह नियम प्रायः सभी रागों में दिखायी देता है। पूर्व-रागों का वैशिष्ट्य आरोह-क्रम में स्पष्ट होता है, तथा उत्तर रागों का अवरोह क्रम में। बहुत से ऐसे राग हैं, जो स्वरों की दृष्टि से समान होते हुए भी केवल वादी-भिन्नता के कारण पूर्व या उत्तर राग बने हैं। ये राग परस्पर 'प्रतिमूर्ति राग' कहलाते हैं। ऐसे भी राग हैं, जिनमें स्वरों में थोड़ा-बहुत परिवर्तन हो जाने से अन्य काल-खण्ड (पूर्व या उत्तर राग-काल) के राग बन सकते हैं। ऐसे दो राग, जिनमें से एक पूर्व राग हो, और दूसरा उत्तर राग, परस्पर 'जवाबी राग' कहे जाते हैं। प्रायः 'प्रतिमूर्ति' और 'जवाबी' विशेषण एक ही अर्थ में गायकों द्वारा व्यवहृत किये जाते हैं।

पूर्वोल्लिखित त्रिवर्ग एवं पूर्व राग-उत्तर राग के नाम से जानी जाने वाली यह व्यवस्था दिन के २४ घण्टों में (Round the Clock) रागों के समय को व्यक्त करती है।

कुछ ऐसे भी राग हैं, जिनका गायन किसी भी समय हो सकता है। ऐसे रागों को 'सार्वकालिक राग' कहते हैं। इस प्रकार के रागों में वादी प्रायः सा, म या प होता है। ये तीनों स्वर सप्तक के पूर्वार्ध और उत्तरार्ध दोनों में आते हैं, इसलिए इनके वादित्व से युक्त राग पूर्वराग भी हो सकते हैं, और उत्तर राग भी। सम्भवतः इसी कारण से उन्हें सार्वकालिक मानना विद्वानों को अधिक श्रेयस्कर प्रतीत हुआ होगा। रुढ़ि अथवा प्रथा के कारण भी कुछ राग सार्वकालिक मान लिये गये हैं। किसी भी कार्यक्रम के अन्त में मैरवी प्रस्तुत करना इसका सुपरिचित उदाहरण है।

कुछ रागों का गायन विशिष्ट ऋतुओं के लिए बताया गया है। ऐसे रागों को 'मौसमी राग' कहा जाता है। वर्षाऋतु मल्लार राग के लिए उपयुक्त समय है। बहार तथा अन्य कुछ राग भी मौसमी माने जाते हैं।

राग-समय का नियम यद्यपि सामान्यतः सर्वत्र ही हमारी पद्धति में स्वीकृत किया जाता रहा है, तथापि विशिष्ट परिस्थितियों में इसमें छूट भी शास्त्र-ग्रन्थों ने दी है। सङ्गीतदर्पणकार पण्डित दामोदर के अनुसार, राजाज्ञा से कोई भी राग काल-विचार न करते हुए गाया जा सकता है :—

१९० : श्रीमल्लक्ष्मसङ्गीतम्

यथोक्तकाल एवमेतं गेया पूर्वविधानतः ।
राजाज्ञया सदा गेया न तु कालं विचारयेत् ॥”

पण्डित लोचन का मत है कि रात्रि में दस दण्ड (अर्थात् लगभग १० बजे, क्योंकि १ घण्टा लगभग २॥ दण्ड का माना गया है) के पश्चात्, तथा रङ्गभूमि (स्टेज, नाट्यमन्च) और नृपाज्ञा से, कोई भी राग किसी भी समय गाने से काल-दोष नहीं होता ;—

दशदण्डात्परं रात्रौ सर्वेषां गानभीरितम् ।
रङ्गभूमौ नृपाज्ञायां कालदोषो न विद्यते ॥

(रागतरङ्गिणी)

सङ्गीत-गोष्ठियों में भी प्रायः कलाकार समयानुकूल कुछ राग प्रस्तुत करने के पश्चात् श्रोताओं के आग्रह पर और अपनी इच्छा से भी, असमय-राग भी प्रस्तुत करते हैं । इसे दोष नहीं माना जाता ।

अब राग-समय के नियम के औचित्य का भी विचार करें । क्या ये नियम किसी वैज्ञानिक अथवा मानसशास्त्रीय तथ्यों पर आधारित हैं, अथवा मात्र मनगढ़न्त हैं और रुढ़ि या परम्परा के कारण ही हैं ?—यह प्रश्न वास्तव में विचारणीय है । यह भी सोचना होगा कि इस प्रतिबन्ध के शिथिल किये जाने, अथवा तोड़ दिये जाने का क्या परिणाम होगा ।

पूर्वल्लिखित श्लोक “यथाकाले...” की द्वितीय पंक्ति में कहा गया है कि स्वर के नियम के कारण राग के लिए भी समय-नियम स्थापित किया गया है । इससे ऐसा अनुमान करना सहज ही है कि स्वरों का समय-विशेष के साथ सम्बन्ध होना चाहिए । दूसरे शब्दों में, स्वर समय की अभिव्यक्ति करते हैं, ऐसा संकेत वहाँ है । किन्तु, कोई विशिष्ट स्वर किसी विशिष्ट काल-खण्ड को व्यक्त करता है, इसका कोई प्रत्यक्ष प्रमाण उपलब्ध नहीं होता । हाँ, स्वरों के विशेष समूहों से विशिष्ट भावों की अभिव्यञ्जना अवश्य सम्भव है; तथा भावों का सम्बन्ध दिन के किसी विशेष समय की शारीरिक-मानसिक अवस्था से भी जोड़ा जा सकता है । किन्तु ऐसा करना सहज, स्वाभाविक, सर्वमान्य ढंग से तो सम्भव नहीं लगता—खींच-तान कर भले ही आप यह सामञ्जस्य ढूँढ निकालें ! कारण यह कि सर्वसामान्य की, तथा सर्वत्रव्याप्त शारीरिक-मानसिक दशाएँ किसी समय-विशेष के साथ सम्बन्धित नहीं की जा सकतीं । प्रातःकाल या सायंकाल ही कोमल रे-ष मन को सुखद होंगे, या तीव्र मध्यम सायंकाल और पूर्वरात्रि में ही अच्छा लगेगा, यह कहने के लिए हमारे पास

वैज्ञानिक या मनोवैज्ञानिक आधार क्या है ? इसी तरह, यह कहना भी वैज्ञानिक दृष्टि से सही नहीं लगता कि कोई राग किसी विशिष्ट समय पर ही अच्छा लगेगा । जहाँ तक शास्त्रीय संगीत का, और उसमें भी विशेषतः महफिलों का, प्रश्न है, समय-प्रतिबन्ध मान्य किया जाता है; किन्तु सुगम संगीत अथवा शास्त्रीय सङ्गीत के ही रेकर्ड्स को हम किसी भी समय सुनें, राग के आनन्द में असमयता व्यवधान बनती हो, ऐसा अनुभव नहीं होता । इस आधार पर कहा जा सकता है कि राग-समय-प्रतिबन्ध वैज्ञानिक नहीं है । अन्य भी अनेक तथ्य हैं, जिनकी कसौटी पर यह मान्यता सत्य सिद्ध नहीं होती ।

अतएव, इस मान्यता का एकमात्र आधार हमारा परम्परागत साङ्गीतिक संस्कार ही प्रमाणित होता है । जिस श्रोता को राग का ज्ञान है तथा जिसे यह भी ज्ञात है कि अमुक राग को अमुक समय पर गाने का विधान है, उसे ही असमयता के कारण रागानन्द की मात्रा न्यून प्रतीत होती है । जिसे राग के समय-नियम का ज्ञान नहीं, उसे असमय भी राग उतना ही आनन्द प्रदान करता है । इन पंक्तियों के लेखक ने श्रोताओं की साङ्गीतिक प्रतिक्रियाओं का अनुसन्धानात्मक शैली में सर्वेक्षणों के द्वारा जो अध्ययन किया है, उससे यही तथ्य प्रमाणित हुआ है । इस अध्ययन के लिए कई अवसरों पर महफिलों में जान-बूझकर समय-व्यवस्था के विपरीत राग स्वयं हमने, तथा हमारे निवेदन पर अन्य कलाकारों ने भी, प्रस्तुत किये । श्रोताओं को कार्यक्रम के समय प्रश्नावली वितरित कर तत्काल अपनी प्रतिक्रिया उस पर लिखने की प्रार्थना की गयी । राग की असमयता पर केवल उन्हीं श्रोताओं ने आपत्ति व्यक्त की, जिन्हें यह ज्ञात था कि यह राग इस समय का नहीं है । उन्हीं श्रोताओं से जब प्रतिप्रश्न किया गया कि क्या इस एक बात को अलग रख कर वे कह सकते हैं कि राग के वास्तविक आनन्द से सचमुच ही वे वंचित रहे ? तो, एक-दो अपवादों को छोड़ नकारात्मक उत्तर ही प्राप्त हुए ! अन्य श्रोताओं को समय-सिद्धान्त-वैपरीत्य राग-रस-ग्रहण में किसी भी मात्रा में बाधक नहीं हुआ । इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि राग-समय-प्रतिबन्ध बाह्य रूप से आरोपित है, तथा उसकी महत्ता केवल परम्परा के कारण है ।

इस व्यवस्था को विद्वानों ने मध्ययुग की देन माना है । भरत, मतङ्ग, शाङ्गदेव आदि प्राचीन आचार्यों के साहित्य में सङ्गीत काल-बन्धन से मुक्त ही दिखायी देता है । विद्वानों के मतानुसार राग-समय की मान्यता देवालयीन एवं राज-दरबारों की साङ्गीतिक परम्पराओं से प्रभावित है ।

१९२ : श्रीमल्लक्ष्म्यसङ्गीतम्

राग-समय के प्रतिबन्ध को शिथिल कर देने, अथवा तोड़ देने से हमारी रुढ़िगत मान्यताओं पर आघात होगा, यह ठीक है, किन्तु उससे भारतीय सङ्गीत का किसी भी प्रकार से अहित हो सकता है, ऐसा विश्वासपूर्वक नहीं कहा जा सकता। हमारी तो विनम्र, साथ ही बड़, मान्यता है कि ऐसा हो सका, तो एक बहुत बड़ा लाभ होगा। आज कई सुन्दर राग केवल इसलिए क्रमशः अप्रचलित होते जा रहे हैं कि समय-प्रतिबन्ध के कारण उन्हें सुनाने का अवसर कलाकार को महफिलों में नहीं मिलता। यह प्रतिबन्ध न रहा तो ऐसे मृतप्राय रागों को पुनर्जीवन प्राप्त होगा, इसमें सन्देह नहीं।

अध्याय—२

रागाध्याय



अथ श्रीलक्ष्म्यसङ्गीतद्वितीयाध्याय ईर्यन्ते ।

चतुराख्येन भरतपूर्वखण्डनिवासिना ॥१॥

अब भारतवर्ष का निवासी 'चतुर पण्डित' श्रीमल्लक्ष्म्यसङ्गीतम् का द्वितीय अध्याय लिखता है ।

राग-जनक दस मेलों का निरूपण

द्विसप्ततिमेलकेषु त्यक्त्वा ताननवश्यकान् ।

स्वीकुर्मो दशसङ्ख्यान्स्तान् लक्ष्यदत्तमिति विश्रुतान् ॥२॥

शास्त्र ग्रन्थों में निर्दिष्ट ७२ मेलों में जो मेल अनावश्यक हैं, उन्हें छोड़ कर हम प्रचलित सङ्गीत में सुप्रसिद्ध दस मेलों को स्वीकार करते हैं ।

प्रचरद्रूपसङ्गीतमशेषं स्यात् परिस्फुटम् ।

तन्मेलेषु समाविष्टमिति मर्मविदां मतम् ॥३॥

मर्मज्ञ विद्वानों का मत है कि उन दस मेलों में प्रचलित राग-सङ्गीत अशेष रूप से स्पष्टतः समाविष्ट हो जाता है ।

टीका—आधुनिक उत्तर भारतीय सङ्गीत में स्वीकृत दस मेलों के भीतर प्रचलित समस्त रागों का समावेश अच्छी तरह से हो जाता है, यह अभिप्राय है । 'रूप-सङ्गीत' से आशय यहाँ शास्त्रीय रागदारी सङ्गीत से है, क्योंकि उसका अपना एक विशिष्ट स्वरूप है । साथ ही, मेलों के सन्दर्भ में रूप-सङ्गीत का यही अर्थ हो सकता है, क्योंकि प्रचलित सङ्गीत में राग-स्वरूपों का ही प्रस्तुतीकरण विभिन्न शैलियों में किया जाता है ।

जन्यजनकमेलाख्यकल्पनं नैव गृहीतम् ।

प्राक्प्रसिद्धं हि तत्त्वं तदिति सर्वत्र सम्मतम् ॥ ४ ॥

१९४ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

जन्य-जनक मेल, अर्थात् राग तथा जनक मेल की कल्पना गृहीत अथवा निन्द्य नहीं है, क्योंकि यह सिद्धान्त प्राचीन काल में भी प्रसिद्ध (प्रचलित) था, यह सर्वविदित ही है ।

पर्यायो मेलशब्दस्य भाषायां थाट ईरितः ।

केषुचिच्छास्त्रग्रंथेषु संस्थितिः परिकीर्तिता ॥५॥

भाषा (हिन्दी, तथा अन्य भी प्रचलित भाषाओं) में 'मेल' का समानार्थी शब्द 'थाट' कहा जाता है । कुछ शास्त्रग्रंथों में, मेल को 'संस्थिति' कहा गया है ।

ग्रंथेऽत्र मेलकानां यद्दशानामेव योजनम् ।

केवलं तदकार्यत्र लक्ष्यसौकर्यहेतवे ॥६॥

इस ग्रन्थ में केवल दस ही मेलों का उपयोग मात्र प्रचलित सङ्गीत की सुविधा हेतु किया गया है ।

अभिप्राय यह है, प्रचलित सङ्गीत के रागों का दस मेलों में काफी अच्छी तरह वर्गीकरण सम्भव है, इसीलिए 'श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्' में दस ही मेलों को अपनाया गया है ।

शक्या नेतुं मेलसंख्या तत्रेषन्न्यूनतामसौ ।

तदूनत्वं त्वयदयं स्यात्काठिन्याधिक्यकारणम् ॥७॥

मेलों की संख्या को इससे भी कम करना (यद्यपि) सम्भव है, किन्तु यह न्यूनता निश्चय ही कठिनाइयों या क्लिष्टता को बढ़ा देगी ।

ग्रन्थकार का आशय यह है, कि दस से भी कम मेल रखने का प्रयास यदि किया जाय, तो उससे सुविधा के स्थान पर राग-वर्गीकरण में उलझनें और कठिनाइयाँ ही बढ़ेंगीं, इसीलिए सुविधा और सरलता के नाम पर मेलों की संख्या को दस से कम करना अव्यावहारिक और दूरदर्शितारहित लगता है ।

सरिगमपध्वाख्येषु शुद्धस्वरेषु केवलम् ।

प्रत्येकं षड्जभावेन कल्पितेषु यथाक्रमम् ॥ ८ ॥

बिलावली तथा काफी भैरवी चेमनाह्वयः ।

खमाजासावरीत्येते षण्मेलाः सिद्धिमाप्नुयुः ॥ ९ ॥

शुद्ध स्वरों में से केवल सा, रे, ग, म, प और ध इन स्वरों में से प्रत्येक को षड्ज मान लेने पर शुद्ध स्वरों से ही बिलावली (बिलावल) काफी, भैरवी, यमन (कल्याण), खमाज तथा आसावरी—ये छह मेल सिद्ध हो जाते हैं ।

रागाध्याय : १९५

टीका—ग्राम-मूर्च्छना की भाँति यहाँ सप्त शुद्ध स्वरों से षड्मेलों की निष्पत्ति बतायी गयी है। सा, रे, ग, म, प और ध इन शुद्ध स्वरों को क्रमशः षड्ज मान कर अगले शुद्ध स्वरों को क्रमशः रे, ग, म, आदि नामों से लेने पर जो छह मूर्च्छनाएँ प्राप्त होती हैं, वे ही हमारे सुपरिचित बिलावल इत्यादि छह मेल हैं।

	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	इत्यादि
शुद्धस्वरस्थान-	सा	रे	ग	म	प	ध	नि	सा	रे	ग	म	प	ध	नि	सा	रे	ग	म	प	ध	नि	सा	इत्यादि
विकृतस्वरस्थान-	रे	ग	म	प	ध	नि	सा	रे	ग	म	प	ध	नि	सा	रे	ग	म	प	ध	नि	सा	इत्यादि	
प्रथम मेल	सा	रे	ग	म	प	ध	नि	सा															बिलावल
द्वितीय मेल		सा	रे	ग	म	प	ध	नि	सा														काफी
तृतीय मेल			सा	रे	ग	म	प	ध	नि	सा													मैसवी
चतुर्थ मेल				सा	रे	ग	म	प	ध	नि	सा												यमन
पंचम मेल					सा	रे	ग	म	प	ध	नि	सा											रवमाज
षष्ठ मेल						सा	रे	ग	म	प	ध	नि	सा										आसावरी

शुद्ध निषाद को षड्ज मान कर शुद्ध स्वरों को लेने पर कोई मेल सिद्ध नहीं होता, क्योंकि उस क्रिया से सा, रे, ग, म, म, ध, नि ये स्वर ही प्राप्त होते हैं, जो मेलनियमतः अनुपयुक्त हैं।

शुद्धविकृतभिद्वारा चंतेषु सपाटवम् ।

समावेशयितुं शक्यमस्मत्सङ्गीतमुत्तमम् ॥ १० ॥

शुद्ध-विकृत स्वरभेद से, हमारा वर्तमान संगीत, उपर्युक्त मेलों में कौशल-पूर्वक समाविष्ट किया जा सकता है।

टीका—अभिप्राय यह है, कि उपर्युक्त छह मेलों में शुद्ध-विकृत स्वरों में कुछ थोड़ी सी भिन्नता कर देने से कुछ दूसरे मेल भी बन सकते हैं, और इस प्रकार उन मेलों के अन्तर्गत प्रचलित सभी रागों का समावेश किया जा सकता है।

कदाचिदेवमेवास्मच्छास्त्रकारैः पुरातनैः ।

पुरागा. षट् समुज्जीता येन केनापि वत्सना ॥ ११ ॥

सादृश्यमप्यसादृश्यमन्यरागतं ततः ।

सुविमृश्य कृता तैश्च भार्यापुत्रादियोजना ॥ १२ ॥

१९६ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

हमारे प्राचीन शास्त्रकारों ने भी शायद ऐसी ही किसी विधि से छह पुरुष राग प्रस्तुत किये; तत्पश्चात् अन्य रागगत समानता-असमानता का विचार कर षड् रागों में उन्होंने पत्नी रागिनियाँ, पुत्र राग आदि की योजना की।

टीका—शुद्धस्वरों की मूर्च्छनाओं से प्राप्त ६ मेलों तथा उनसे ही निर्मित अन्य मेलों में रागवर्गीकरण की पद्धति के पहले राग-रागिनी वर्गीकरण व्यवस्था प्रचलित थी, जिसमें ६ प्रधान पुरुष राग माने गये थे एवं उनसे साम्य रखने वाले अन्य रागों को रागिनियों और पुत्ररागों के रूप में उन-उन रागों के अन्तर्गत रखा गया था। मेलराग वर्गीकरण तथा षड् राग-परिवार की कल्पना में ६ संख्या की उपस्थिति से ऐसा लगता है कि उन ६ रागों का चयन भी किसी विशेष सिद्धान्त के आधार पर किया गया होगा।

व्यवस्थेयं समीचीना किन्त्वादावेकवाक्यता।

रागरूपगताभीष्टा यतः प्रीतिः सतां भवेत् ॥ १३ ॥

षड् रागपरिवारों की यह व्यवस्था ठीक ही है, किन्तु इसके लिए रागरूपों के विषय में मतैक्य मूलतः अपेक्षित है; ताकि सङ्गीतज्ञों में स्नेह रह सके !

टीका—‘चतुर पण्डित’ ने यहाँ अत्यन्त विनम्र, मृदु भाषा में राग-रागिनी-व्यवस्था के प्रति अपनी असहमति व्यक्त की है। किसी राग को राग या रागिनी या पुत्र राग या पुत्रवधू राग किस कारण से माना गया—यह स्पष्ट नहीं हो पाता। यदि राग के स्वरूप या प्रकृति के आधार पर उसको स्त्री या पुत्र आदि माना गया है तो भी रागपरिवार विषयक प्राचीन मतों में, एक मत में जिसे राग कहा है, उसे ही दूसरे मत में रागिनी कहा गया है। साथ ही, ६ रागों के नाम शिवमत, भरतमत आदि में अलग-अलग हैं और उन रागों से सम्बन्धित रागिनियाँ आदि भी अलग-अलग हैं। ऐसी अवस्था में, विभिन्न मतानुयायियों के बीच तीव्र और कटु मतभिन्नता आ जाय, तो आश्चर्य नहीं ! इसी लिए ‘चतुर पण्डित’ का संकेत यह है कि या तो रागरूपों पर मतैक्य हो, या फिर इस व्यवस्था की जगह मेलरागव्यवस्था अपनायी जाय ताकि सङ्गीतज्ञों में पारस्परिक कटुता न आये। पहली बात सम्भव नहीं लगती इसी लिए यह व्यवस्था चतुर पण्डित के मतानुसार स्वीकार्य प्रतीत नहीं होती।

रागाध्याय : १९७

प्राचीनग्रन्थकारैस्तैर्मुख्यरागाः षड्विंशतिः ।

दशमेलान्वयं ब्रूमो नात्र दोषोऽस्ति कश्चन ॥ १४ ॥

प्राचीन ग्रन्थकारों ने मुख्य राग छह बताये हैं तथा हम दस मेल बताते हैं । इसमें कोई दोष नहीं है ।

टीका—ग्रन्थकार का आशय यह है, कि आज रागों का वर्गीकरण दस मेलों में करने की पद्धति को अनुचित नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्राचीन ग्रन्थकारों ने भी इसी प्रकार स्वरूप-साम्य के आधार पर छह प्रमुख रागों के अन्तर्गत अन्य रागों को वर्गीकृत किया है ।

मेलसङ्ख्याः प्रभिन्नाः स्युस्तत्तद्ग्रन्थैः प्रकल्पिताः ।

सारासारविचारजरेतज्ज्ञेयं यथोचितम् ॥ १५ ॥

अलग-अलग ग्रन्थों में मेलों की संख्याएँ अलग-अलग मानी गयी हैं । अतः विवेकी जनों को उनका यथोचित ज्ञान प्राप्त करना चाहिए ।

रागजनक दस मेलों के नाम

कल्याणीमेलकस्त्वाद्यो वेलावली द्वितीयकः ।

खमाजाख्यस्तृतीयः स्याद् भैरवाख्यश्चतुर्थकः ॥ १६ ॥

पञ्चमः पूर्विकासंज्ञः षष्ठः स्यान्मारवाभिधः ।

सप्तमः काफिसंज्ञः स्यादासावरी तथाष्टमः ॥ १७ ॥

नवमो भैरवीमेलो दशमस्तोडिकाह्वयः ।

इत्येते दशमेलस्ते रागोत्पादनहेतवः ॥ १८ ॥

रागोत्पत्ति के लिए हेतुभूत दस मेलों के नाम इस प्रकार हैं—(१) कल्याणी (कल्याण), (२) वेलावली (विलावल), (३) खमाज, (४) भैरव, (५) पूर्विका (पूर्वी), (६) मारवा, (७) काफ़ी, (८) आसावरी, (९) भैरवी एवं (१०) तोडिका (तोड़ी) ।

उपर्युक्त दस मेलों के लक्षण

अतो वक्ष्ये क्रमान्मेलान् दशसङ्ख्यान् सलक्षणम् ।

लक्ष्यसङ्गीतपद्धत्या जीवभूतांश्च तत्त्वतः ॥ १९ ॥

प्रचलित संगीत के प्राणभूत इन दस मेलों को मैं तात्त्विक रूप से लक्षणों सहित क्रमानुसार वर्णित करता हूँ ।

१९८ : श्रोमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

शुद्धस्वरसमुद्भूतो वेलावलीतिनामकः ।
दाक्षिणात्यमते चासौ शङ्कराभरणाभिधः ॥२०॥

वेलावली (विलावल) नामक मेल शुद्ध स्वरों से उत्पन्न है । इस मेल को दाक्षिणात्य पद्धति में शंकराभरण (अथवा, धीरशंकराभरण) मेल कहते हैं ।

तस्मिन्स्तीत्राभिधो मश्चेत्प्रविष्टो लक्ष्यवर्त्मनि ।
शेषशुद्धस्वरैस्तत्र कल्याणीमेल उद्भवेत् ॥२१॥

इस मेल में ही यदि मध्यम तीव्र कर दिया जाय तो अन्य शुद्ध स्वरों से युक्त वह मेल प्रचलित सङ्गीत का कल्याणी (कल्याण) मेल बन जाता है ।

खमाजमेलने प्रोक्ताः शुद्धाः सरिगमाः पधौ ।
शुद्धौ निः कोमलाख्यः स्यादिति लक्ष्यज्ञसम्मत्तम् ॥२२॥

लक्ष्य सङ्गीत के विद्वानों के मतानुसार, खमाज मेल में सा, रे, ग, म, प और घ शुद्ध तथा नि कोमल हैं ।

भैरवस्य सुमेले स्युः शुद्धाः सगमपास्तथा ।
निषादोऽपि भवेच्छुद्धो रिषौ कोमलसंज्ञितौ ॥२३॥

भैरव मेल में सा, ग, म, प तथा नि शुद्ध, एवं रे और घ कोमल हैं ।

रिषौ तु कोमलौ यत्र गनी तीव्री च तीव्रमः ।
स्यात्पूर्वनामको मेलो ॥२४॥

जिस मेल में रे और घ कोमल, ग और नि तीव्र (अर्थात् शुद्ध), तथा म तीव्र है, वह पूर्वी मेल है ।

.... मारवा कथ्यतेऽधुना ॥२४॥

उपर्युक्ते तु मेले चैवतः शुद्धसंज्ञितः ।

मारवामेलकः सिद्धः परमेलप्रवेशकः ॥२५॥

अब मारवा मेल बताया जा रहा है । उपर्युक्त पूर्वी मेल में चैवत शुद्ध हो जाने पर मारवा मेल बन जाता है जो परमेलप्रवेशक है ।

टीका—कोमल ऋषभ के साथ चैवत शुद्ध होने के कारण मारवा मेल-जन्य राग सन्धिप्रकाश वर्ग-काल की समाप्ति तथा तीव्र रे, घ, ग वाले वर्ग के काल के आरम्भ के बीच के समय में प्रायः गाये जाते हैं । उसमें कोमल ऋषभ सन्धिप्रकाश वर्ग का, तथा शुद्ध चैवत, द्वितीय वर्ग का लक्षण है । ऐसे सम्मिश्रण लक्षणों वाले मेलों और रागों को 'परमेलप्रवेशक' कहा जाता है; क्योंकि उनके

रागाध्याय : १९९

गायन के पश्चात् आगामी राग-वर्ग के लिए स्वरों का उपयुक्त वातावरण बन जाता है तथा आगामी वर्ग के रागों का गायन सरल हो जाता है ।

निगौ तु कोमलौ यत्र परे शुद्धामिधाः स्वराः ।

लक्ष्ये काफीतिसंज्ञः स्यान्मेलको लोकविश्रुतः ॥२६॥

जिस मेल में गान्धार और निषाद कोमल हैं तथा अन्य स्वर शुद्ध हैं, वह सुप्रसिद्ध मेल आधुनिक सङ्गीत में 'काफी' नामक मेल है ।

कोमला निधगा यत्र शेषास्ते शुद्धसंज्ञिताः ।

यस्मिन्नासावरीमेलः कीर्तितो गायनोत्तमैः ॥२७॥

जिस मेल में ग, घ और नि कोमल तथा शेष स्वर शुद्ध हैं, उसे श्रेष्ठ गायकों ने आसावरी मेल कहा है ।

भैरवीनामके मेले मृदुरिगधनिस्वराः ।

भैरवी नामक मेल में रे, ग, घ और नि कोमल हैं ।

मन्योस्तत्रैव तीव्रत्वे तोड़ीमेलः समुद्भवेत् ॥२८॥

भैरवी मेल में ही म और नि तीव्र होने पर तोड़ी मेल बन जाता है । अभिप्राय यह है कि तोड़ी मेल में रे, ग और घ कोमल तथा म और नि तीव्र हैं ।

इत्येते दश सप्रोक्ता लक्ष्यलक्षणसंज्ञिताः ।

सविस्तरं मया मेला रागोत्पादनहेतवः ॥२९॥

इस प्रकार, राग-निर्माण के लिए हेतुभूत दस मेलों का उनके प्रचलित लक्षणों के सहित विस्तारपूर्वक वर्णन मैंने यहाँ किया ।

दस मेलों के दाक्षिणात्य नाम

मेलसंज्ञा अघो वक्ष्ये दक्षिणोत्तरभेदतः ।

जिज्ञासूनां भवेद्येन सौकर्यमविशङ्कितम् ॥३०॥

अब मैं इन मेलों के हिन्दुस्थानी तथा दाक्षिणात्य नाम-भेदों को बताता हूँ जिससे जिज्ञासुओं को उनका संशयरहित तथा सुबोध ज्ञान हो सके ।

कल्याणीमेलकोऽस्माकं तत्रापि स्यात्तथैव च ।

हमारा कल्याणी (कल्याण) मेल दाक्षिणात्य पद्धति में भी कल्याणी मेल (अथवा, मेच कल्याणी) कहलाता है ।

२०० : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

वेलावल्या भवेतत्र शङ्कराभरणाभिधा ॥३१॥

वेलावली (विलावल) की दाक्षिणात्य संज्ञा शंकराभरण (अथवा धीरशंकराभरण) है ।

खमाजमेलकोऽस्माकं तत्र काम्भोजिनामकः ।

हमारा खमाज मेल वहाँ काम्भोजी (अथवा, हरिकाम्भोजी) मेल कहलाता है ।

लक्ष्येऽत्र भैरवाख्यातस्तत्र मालवगौडकः ॥३२॥

आधुनिक भैरव मेल दक्षिण का मालवगौड (अथवा, मायामालवगौड) मेल है ।

मेलः पूर्वीतिसंज्ञोऽत्र तत्र स्यात्कामवर्धनी ।

पूर्वी मेल को वहाँ कामवर्धनी मेल कहते हैं ।

मारवामेलकोऽस्माकं तत्र स्याद् गमनश्रमः ॥३३॥

हमारा मारवा मेल दक्षिण का गमनश्रम मेल होता है ।

लक्ष्ये काफीतिसंज्ञोऽसौ तत्र खरहरप्रिया ।

प्रचलित काफी मेल ही दाक्षिणात्य खरहरप्रिया है ।

आसावर्याह्वयोऽस्माकं तत्र स्यान्नटभैरवी ॥३४॥

आसावरी नामक हमारा मेल वहाँ का नटभैरवी मेल है ।

प्रसिद्धो भैरवीमेलस्तत्र तोडीतिसंज्ञितः ।

प्रसिद्ध भैरवी मेल की दाक्षिणात्य संज्ञा तोडी (अथवा हनुमतोडी) है ।

अस्माकं तोडिमेलस्तु तत्र पन्तुवराळिका ॥३५॥

हमारा तोडी मेल वहाँ पन्तुवराळी (अथवा शुभ पन्तुवराळी) मेल कहलाता है ।



दशमेलजन्य रागों के नाम

कल्याणमेलजन्य राग

इमनः शुद्धकल्याण भूपाली चन्द्रकान्तकः ।

जयत्कल्याणरागश्च कल्याणः पूरियाद्यकः ॥३६॥

रागाध्याय : २०१

हिन्दोलश्चैव मालश्रीः केदारो हम्मीराह्वयः ।

कामोदश्छायानाटश्च श्यामकल्याणनामकः ॥

गौडसारङ्ग इत्येते रागाः कल्याणमेलजाः ॥३७॥

ईमन (अथवा यमन), शुद्ध कल्याण, भूपाली, चन्द्रकान्त, जयत्कल्याण (जैतकल्याण), पूरियाकल्याण, हिन्दोल, मालश्री, केदार, हम्मीर (हमीर), कामोद, छायानाट (छायानट), श्यामकल्याण तथा गौडसारङ्ग—इतने राग कल्याणमेलोत्पन्न हैं ।

वेलावलीमेलजन्य राग

वेलावली तथाहैया शुक्लवेलावली ततः ।

देवगिरीमनी दुर्गा सर्पर्दा ककुभा तथा ॥३८॥

नटवेलावलीत्युक्ता लच्छाशाखोऽथ शङ्करः ।

देशिकारो विहागश्च हेमकल्याणनामकः ॥३९॥

मलुहा नटमाण्डौ च गुणकली पहाडिका ।

रागा एते मतास्तज्जैवैलावलीसुमेलजाः ॥४०॥

विद्वानों के अनुसार, निम्नलिखित राग विलावल मेल से उत्पन्न होते हैं :—विलावल, अल्हैया (—विलावल), शुक्ल विलावल, देवगिरी (—विलावल), यमनी (—विलावल), दुर्गा, सर्पर्दा, ककुभ (—विलावल), नट विलावल, लच्छासाख, शङ्करा, देशकार, विहाग, हेमकल्याण, मलूहा (—केदार), नट, माण्ड, गुणकली (गुणक्री), एवं पहाड़ी ।

खमाजमेलजन्य राग

खम्माजश्चाथ झिञ्झूटी सोरटी देसनानकः ।

खम्बावती तिलङ्गाख्या दुर्गा रागेश्वरी ततः ॥ ४१ ॥

जयावन्ती तथा गारा कामोदस्तिलकाद्यकः ।

इत्येते कीर्तिता लक्ष्ये रागाः खम्माजमेलजाः ॥ ४२ ॥

खम्माज (खमाज), झिञ्झूटी, सोरटी (सोरठ), देस, खम्बावती, तिलङ्ग, दुर्गा, रागेश्वरी, जयावन्ती (जयजयवन्ती), गारा और तिलककामोद—ये प्रचलित राग खमाजमेलजन्य कहे जाते हैं ।

भैरवमेलजन्य राग

भैरवश्च कलिङ्गश्च रञ्जनी मेघपूर्विका ।

सौराष्ट्रो जोगिया गौरी रामकली प्रभातकः ॥ ४३ ॥

२०२ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

विभासश्चाथ वङ्गालो भैरवः शिवपूर्वकः ।
 आनन्दभैरवोऽप्यत्र भैरवोऽहीरसंज्ञकः ॥ ४४ ॥
 ललितपञ्चमाख्यश्च गुणक्रीलक्ष्यविश्रुता ।
 इत्येते भैरवान्मेलान्जाता रागा विदां मते ॥ ४५ ॥

विद्वानों के मतानुसार भैरवमेलजन्य राग ये हैं :—भैरव, कलिङ्ग
 (कालिङ्गडा, मेघरञ्जनी, सौराष्ट्र (—भैरव), जोगिया, रामकली, प्रभात,
 विभास, बंगाल (—भैरव), शिवभैरव (शिवमत भैरव), आनन्दभैरव, अहीर
 भैरव ललितपञ्चम, तथा गुणक्री (गुणकली) ।

पूर्वमेलजन्य राग

पूर्वी गौरी तथा रेवा श्रीरागो दीपकस्तथा ।
 त्रिवेणी मालवी टङ्क्री जेताश्रीश्च वसन्तकः ॥ ४६ ॥
 घनाश्रीः पूरियाद्यासौ परजा विबुधप्रिया ।
 एते रागा मतास्तज्ज्ञैः पूर्वमेलसमुत्पिताः ॥ ४७ ॥

पूर्वी, गौरी, रेवा, श्री, दीपक, त्रिवेणी, मालवी, टङ्क्री, जेताश्री
 (जैतश्री), वसन्त, पूरियाघनाश्री तथा परज—इन रागों को सङ्गीतज्ञ पूर्वी-
 मेलोत्पन्न मानते हैं ।

मारवामेलजन्य राग

मारवा पूरिया चैव ललिता सोहनी तथा ।
 वरारीजैत्र भङ्गारा विभासो भट्टियारकः ॥ ४८ ॥
 साजगिरी तथा मालीगौरा पञ्चमसंज्ञितः ।
 ललितागौरिकाऽप्येते मारवमेलजा मताः ॥ ४९ ॥

मारवा, पूरिया, ललिता (ललित), सोहनी, वरारी (वराटी) । जैत्र
 (जैत), भङ्गार, विभास, भट्टियार (भटियार), साजगिरी, मालीगौरा, पञ्चम
 तथा ललितागौरी—ये राग मारवामेलजन्य माने गये हैं ।

काफीमेलजन्य राग

घनाश्रीः सन्धवी काफी धानी भीमपलाशिका ।
 प्रदीपकी तथा पीलू रागिणी हंसकङ्कणी ॥ ५० ॥
 बागीश्वरी बहारश्च सुहा सुध्राइका ततः ।
 देशाख्यः कौशिकश्चाथ सहाना नायकी तथा ॥ ५१ ॥

रागाध्याय : २०३

सारङ्गो मध्यमाद्याख्यः शुद्धसारङ्ग इत्यपि ।

वृन्दावन्यथ सामन्ती मीयांसारङ्गनामकः ॥ ५२ ॥

बडहंसस्तथा शुद्धमल्लारः पटमञ्जरी ।

गौडमल्लारनामासी सूरमल्लार इत्यपि ॥ ५३ ॥

रामदासाख्यमल्लारो मीयांमल्लार एव च ।

ततः स्यान्मेघमल्लार इत्येते काफिमेलजाः ॥ ५४ ॥

घनाश्री, सैन्धवी (सिन्दूरा), काफी, घानी, भीमपलासी, प्रदीपकी (पटवीप), पीलू हंसकङ्कणी, वागीश्वरी (वागेश्री), बहार, सूहा, सुघराई, देशाख्य (देवशाख), कौशिक (कौंसी), गहाना, नायकी (—कानड़ा), मध्य-मादिसारङ्ग शुद्धसारङ्ग, वृन्दावनी, (—सारङ्ग) सामन्त (—सारङ्ग), मीयां सारङ्ग, बडहंस (—सारङ्ग), शुद्धमल्लार, पटमञ्जरी, गौडमल्लार, सूरमल्लार, रामदासी मल्लार, मीयां मल्लार तथा मेघमल्लार—ये काफीमेलोत्पन्न राग हैं ।

आसावरीमेलजन्य राग

आसावरी तथा जौनपुरी गान्धारिदेशिके ।

खटरागस्तथा सिन्धुभैरवी कौशिकाद्वयः ॥ ५५ ॥

दर्वारिकानडाड्डाणो झीलफो यवनप्रियः ।

रागा एते मतास्तज्जैरासावरीसुमेलने ॥ ५६ ॥

आसावरी, जौनपुरी गान्धारी, देशी, खट, सिन्धुभैरवी, कौशिक (कौंसी कानड़ा), दरबारी कानड़ा, अड्डाण (अड़ाना), तथा यवन राग झीलफ—ये राग विद्वज्जनों द्वारा आसावरी मेल के माने गये हैं ।

भैरवीमेलजन्य राग

भैरवी मालकोशश्च तोड़ीबिलासखानिका ।

रागा एते मतास्तज्जैर्भैरवीमेलनोत्थिताः ॥ ५७ ॥

भैरवी, मालकोश (मालकौंस) तथा बिलासखानी तोड़ी को सङ्गीतज्ञ भैरवीमेलोद्भूत राग मानते हैं ।

तोड़ी मेल जन्य राग

तोड़ी गुर्जरिका मूलतानी लक्ष्ये सुविश्रुता ।

रागा एते प्रसिद्धाः स्युस्तोड़ीमेलसमाश्रयाः ॥ ५८ ॥

तोड़ी, गुर्जरी (—तोड़ी) तथा मूलतानी—ये सुप्रसिद्ध राग तोड़ीमेल के हैं ।

२०४ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

कल्याणमेलजन्य राग

(१) यमन राग

कल्याणमेलसञ्जात इमनो - लोकविश्रुतः ।
गनिसंवादसम्पन्न व्याख्यामोचितो निशि ॥१॥

सुप्रसिद्ध राग इमन (यमन) कल्याण मेल से उत्पन्न है। यह राग गान्धार-निषाद-संवाद से युक्त है—अर्थात् इसमें गान्धार वादी तथा निषाद संवादी है। रात्रि का प्रारम्भिक समय इसके गान के लिए उचित है।

केचित्सन्निदिशन्त्येनं पारसीकप्रदेशजम् ।
अन्येऽस्मद्देशजं प्राहुर्बुधः कार्योऽत्र निर्णयः ॥२॥

कुछ विद्वान् इसे फ़ारस देश का राग मानते हैं, तो अन्य इसे भारतीय राग ही कहते हैं। इस विषय में एक सर्वमान्य निर्णय किया जाना चाहिए।

पद्धत्यां दाक्षिणात्यानां नूनं स्यात् परिकीर्तितः ।
कल्याणो यमुनासंज्ञो रात्रिगेयो निर्वर्जितः ॥३॥

दाक्षिणात्य संगीत पद्धति में यमुनाकल्याण नामक निषादविहीन रात्रिगेय राग है।

टीका—अभिप्राय यह है कि यमन और यमुनाकल्याण में समानता नहीं है।

भाति मे त्विमनाख्योऽयं रागो यावन्निर्बुधः ।
प्राविष्टो यवनैः प्रायः स्वकीये शासने पुरा ॥४॥

मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि यमन नामक इस 'यवन' (विदेशी) कहे जाने वाले राग को यवन (इस्लामधर्मावलम्बी) लोगों ने अपने राज्यकाल में हमारे संगीत में प्रचलित किया।

रागतरङ्गिणीग्रन्थे तथैव हृत्प्रकाशके ।
रागोऽयं वर्णितः स्पष्टं कल्याणस्य स्वरैर्ध्रुवम् ॥५॥

रागतरङ्गिणी तथा हृत्प्रकाश (हृदयप्रकाश) में यह राग स्पष्टतः कल्याण मेल के स्वरों से युक्त बताया गया है।

ईषत्स्पर्शेन शुद्धाख्यमध्यमस्य विलोमके ।
कल्याणो यमनाख्योऽसौ जायते तद्विदां मते ॥६॥

विद्वानों का मत है कि यमन में अवरोह में शुद्ध मध्यम का स्वल्प स्पर्श-प्रयोग किये जाने पर यमनकल्याण नामक राग बनता है ।

आलापयोग्यता लक्ष्ये रागस्यास्य सुसम्भता ।

पूर्णत्वरलत्वाभ्यां गानं नित्यं निरगलम् ॥७॥

लक्ष्यसङ्गीत में इस राग की आलाप-विस्तार-योग्यता सर्वमान्य है । सम्पूर्ण स्वरीयता तथा सरल स्वरूप के कारण इस राग का मुक्तरूपेण गान होता है ।

टीका—यमन प्रचलित रागों में से एक सर्वाधिक लोकप्रिय राग है । विस्तार के लिए असीम अवकाश है । साथ ही, सप्त स्वरों से युक्त इस राग का स्वरूप अत्यन्त सरल है । अतः गायक-वादक इस राग में मुक्त, यथेच्छ रूप से विस्तार करते हैं ।

द्रुतमध्यविलम्बितलयैस्त्रिभिः परिष्कृतम् ।

नियतं गायनं चास्य सर्वेषां सुखमावहेत् ॥८॥

विलम्बित, मध्य तथा द्रुत—तीनों ही लयों में इसका गान किया जाता है जो सर्वजनरञ्जक होता है ।

प्रकारा बहवो लक्ष्ये कल्याणस्य समीरिताः ।

व्यवहारप्रसिद्धा ये सङ्गृहीता मयात्र ते ॥९॥

लक्ष्यपद्धति में कल्याण के बहुत से प्रकार बताये जाते हैं । उनमें से, जो प्रकार व्यवहार में प्रचलित हैं, उन्हें मैंने यहाँ संगृहीत किया है ।

तथा हि । अनूपसङ्गीतरत्नाकरे :—

शुद्धकल्याणरागश्च ततः कल्याणनाटकः ।

हमीरपूर्वकः पूर्व्या भूपालीपूर्वकस्ततः ॥१०॥

जयश्रीपूर्वकल्याण क्षेमकल्याणकः स्मृतः ।

कामोदादिककल्याणो हेमकल्याणकस्ततः ॥

ऐमनादिककल्याणश्चाहेरीदिस्ततः परम् ।

ततस्तिलककामोदः कल्याणास्ते त्रयोदश ॥११॥

अनूपसङ्गीतरत्नाकर में कहा गया है—शुद्धकल्याण, कल्याणनाटक, हमीरकल्याण, पूर्व्या (—कल्याण), भूपालीकल्याण, जयश्रीकल्याण, क्षेमकल्याण, कामोदकल्याण, हेमकल्याण, ऐमनकल्याण, आहेरीकल्याण, तथा तिलककामोद—ये तेरह (?) प्रकार के कल्याण हैं ।

२०६ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

(टिप्पणी—यहाँ बारह कल्याण-भेदों के नाम हैं, परन्तु ग्रन्थकार ने उनकी संख्या १३ बतायी है ।)

हृदयकौतुके :—

“इमनस्वरसंस्थाने शुद्धकल्याण ईरितः ।
पूरिया विदिता लोके जयत्कल्याण एव च ॥१२॥”

हृदयकौतुक के अनुसार—ईमन स्वरसंस्थान, अर्थात् कल्याण मेल में शुद्धकल्याण, पूरिया तथा जयत्कल्याण ये राग माने गये हैं ।

टिप्पणी

कल्याणमेलजा रागा विभज्यन्ते त्रिधा पुनः ।
अमैकमद्विमेत्येवं सौकर्यायं विचक्षणैः ॥१३॥
वर्गेऽग्रिमे समादिष्टा रागा मध्यमवर्जिताः ।
द्वितीये कीर्तिता ये चैकमध्यमसुमण्डिताः ॥१४॥
तृतीये निहिताः सर्वे द्विमध्यमसमन्विताः ।
व्यवस्थेयं समीचीना लक्ष्यमार्गानुसारतः ॥१५॥

विद्वज्जन, सुविधा की दृष्टि से, कल्याणमेलजन्य रागों का विभाजन तीन वर्गों में करते हैं । प्रथम वर्ग में वे राग आते हैं, जिनमें मध्यम स्वर वर्ज्य है । दूसरे वर्ग के अन्तर्गत एक मध्यम, अर्थात् केवल तीव्र मध्यम वाले राग रखे गये हैं । तीसरे वर्ग में दोनों मध्यमयुक्त राग आते हैं । प्रचलित सङ्गीत-पद्धति के अनुसार यह विभाजन-व्यवस्था समीचीन है ।

द्विमध्यमेषु रागेषु प्रतिलोभगतः क्वचित् ।
कोमलस्य निषादस्यापीषत्स्पर्शः समीक्षितः ॥१६॥
न तद्दोषास्पदं लक्ष्ये मन्यते गानकोविदैः ।
सुप्रमाणयुतो गीते विवादी रक्षितवर्धकः ॥१७॥

दोनों मध्यम वाले रागों में अवरोह में कभी-कभी कोमल निषाद का मनाक् अथवा स्वल्प स्पर्श दिखायी देता है । आधुनिक सङ्गीतज्ञों ने ऐसे प्रयोग को दोषयुक्त नहीं माना है, क्योंकि समुचित प्रमाण में प्रयुक्त विवादी स्वर राग की रञ्जकता में वृद्धि ही करता है ।

टीका—कल्याणमेलजन्य द्विमध्यमयुक्त रागों में शुद्ध मध्यम का प्रयोग मुख्यतः अवरोह में किया जाता है । ऐसे रागों में, अवरोह में ही, विवादी के रूप से कोमल निषाद का स्वल्प स्पर्श प्रयोग भी मान्य है ।

सन्धिप्रकाशरागाणां रिधयोमृदुता ततः ।

कल्याणमेलमारभ्य तीव्रत्वे परिवर्तिता ॥१८॥

परिवर्तनमप्येतद्भवेद्वक्तिप्रवायकम् ।

भिन्नरससास्वादान्मनो हर्षं प्रपद्यते ॥१९॥

सन्धिप्रकाशरागगत ऋषभ-धैवत का मृदुत्व कल्याणमेल आरम्भ करने पर तीव्रत्व में परिवर्तित हो जाता है। यह परिवर्तन भी अत्यन्त रक्तिदायक लगता है। रस-परिवर्तन का आस्वाद मन को हर्षित ही करता है।

टीका—इस ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में राग-समय व्यवस्था के विवेचन में बताया जा चुका है कि सन्धिप्रकाशसमयगेय राग-वर्ग का प्रमुख लक्षण रे-घ का मृदुत्व है। इस वर्ग के उपरान्त तीव्र रे-ग-घ वाले रागों का समय आता है। कल्याणमेलजन्य राग इसी समय में गेय हैं। सन्धिप्रकाश राग प्रायः शान्त, गम्भीर, कर्षण प्रकृति के होते हैं, जबकि द्वितीय वर्ग के राग अपेक्षाकृत कम गम्भीर तथा शान्त, एवं उत्फुल्ल, चञ्चल प्रकृति को व्यक्त करते हैं।

पूर्वरागास्तथोत्तररागा लक्ष्ये समन्ततः ।

प्रत्येकस्माच्च मेलोच्च सम्भवेयुरिति स्फुटम् ॥२०॥

रागा उत्तरपूर्वास्ते भवेयुः प्रतिमूर्तयः ।

स्वस्वपूर्वाद्यरागाणामिति मर्मज्ञसम्मत्तम् ॥२१॥

यह स्पष्ट है कि प्रत्येक मेल से, वर्तमान सङ्गीत में, 'पूर्व राग' तथा 'उत्तर राग' दोनों ही उत्पन्न होते हैं। सङ्गीतमर्मज्ञों के मतानुसार उत्तर राग अपने-अपने पूर्व रागों की प्रतिमूर्ति हुआ करते हैं।

टीका—शास्त्रकारों ने पूर्वोत्तर रागों में परस्पर प्रतिमूर्तित्वभाव का समीचीन निरूपण किया है। जिस प्रकार दर्पण में पदार्थ का प्रतिबिम्ब दिखायी देता है उसी प्रकार पूर्वराग उत्तरराग में प्रतिबिम्बित प्रतीत होता है। प्रतिबिम्ब में पदार्थ का दक्षिण भाग वाम और वाम भाग दक्षिण प्रतीत होता है। ठीक इसी प्रकार, पूर्व राग के तत्त्व उत्तर राग में वैपरीत्य को प्राप्त होते हैं; यथा पूर्वाङ्ग के स्थान पर उत्तराङ्ग का प्राबल्य; पूर्वाङ्गवादित्व के स्थान पर उत्तराङ्गवादित्व, तथा तदनुसार पूर्वाङ्गसम्वादित्व; गान-समय-भिन्नत्व; आदि। दूसरी तरह से कहा जाय, तो इनमें फोटोग्राफ चित्र और उसके 'निगेटिव' जैसा सम्बन्ध परिलक्षित होता है।

मध्याह्नतः समारभ्यामध्यरात्रं पुनस्तु ये ।

रागा गीताः मताः सर्वे पूर्वरागा विचक्षणैः ॥२२॥

२०८ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

मध्याह्न से लेकर मध्यरात्रि तक जो राग गाये जाते हैं, उन्हें विद्वान् 'पूर्व राग' मानते हैं।

एतत्क्रमविपर्ययसि ये स्युर्गीताः समन्ततः ।

त उत्तराख्यरागाः स्युरिति लक्ष्यविदां मतम् ॥२३॥

उपरिनिर्दिष्ट समय-क्रम के विपरीत क्रम में—अर्थात्, मध्यरात्रि से लेकर मध्याह्न के बीच—गाए जाने वाले रागों को लक्ष्यज्ञों ने 'उत्तर राग' माना है।

प्राधान्यं तत्र पूर्वाङ्गे पूर्वरात्रे समीरितम् ।

ततः परं तु तद्भाति चलतीव क्रमात् पुरः ॥२४॥

मध्यरात्रे निगौ स्यातां कोमलौ भूरिरक्षितवौ ।

अवगतं रहस्यं तत् सर्वैर्गानविशारदः ॥२५॥

पूर्वरात्रिगेय रागों में पूर्वाङ्ग की प्रधानता बतायी गयी है। इसके पश्चात्, रात्रि में क्रमशः बढ़ते जाने पर मध्यरात्रि के समय कोमल गान्धार-निषाद अत्यन्त रञ्जक प्रतीत होते हैं। समस्त सङ्गीतज्ञों को यह तथ्य सुविदित है।

टीका—सायङ्काल से प्रारम्भ हुई सङ्गीत-यात्रा में सर्वप्रथम कोमल रे-व वाले सन्धिप्रकाश राग दृष्टिगोचर होते हैं। तदुपरान्त, तीव्र रे-व वाले राग मिलते हैं। पूर्वरात्रि के इन रागों में पूर्वाङ्गप्राधान्य स्पष्ट है। इसी प्रकार आगे मध्यरात्रि के समय कोमल ग-नि युक्त तृतीय वर्ग के राग मिलते हैं।

मृदुत्वं रिधयोश्चाथ तीव्रत्वं निगयोरपि ।

सन्धिप्रकाशकोक्तस्य चोषःकालस्य सूचकम् ॥२६॥

'सन्धिप्रकाश' कहे जाने वाले रागों में रे-व का कोमलत्व और ग-नि का तीव्रत्व प्रमातृगेयता का परिचायक है।

तीव्रमस्य स्थितिस्तत्र रात्रिशेषप्रसूचिका ।

अपनयस्तु तस्यैव दिनोदयमुदीरयेत् ॥२७॥

उन प्रातःकालीन सन्धिप्रकाश रागों में तीव्र मध्यम की उपस्थिति यह सूचित करती है कि अभी रात्रि शेष है—अर्थात् दिवस का उदय पूरी तरह से नहीं हुआ है। तीव्रमध्यम का लोप दिवस के उदय को व्यक्त करता है।

टीका—तीव्रमध्यम रात्रिगेय रागों का सूचक है। रात्रि के अन्तिम प्रहर के सन्धिप्रकाश रागों में तीव्रमध्यम विद्यमान रहता है, यथा—ललित।

किन्तु सूर्योदयसमयगेण भैरवादि रागों में तीव्रमध्यम हट जाता है, और दिवस-काल में शुद्ध मध्यम का प्राधान्य हो जाता है ।

प्रतिमेलमथो रागाः केचित्तद्वयव्यवस्थिताः ।

द्विरूपिस्वरसंयुक्ताः परमेलप्रवेशकाः ॥२८॥

विद्वानों ने प्रत्येक मेल के अन्तर्गत ऐसे परमेलप्रवेशक रागों की व्यवस्था की है, जो दो मेलों के स्वरों से युक्त हों ।

समीक्षितं तु नो लक्ष्ये तत्रांशत्वं निषादके ।

संवादित्वं भवेत्तस्य नियतं दृष्टिगोचरम् ॥२९॥

वर्तमान सङ्गीत में निषाद का वादित्व नहीं दिखायी देता किन्तु उसका संवादित्व अवश्य दृष्टिगोचर होता है ।

(२) शुद्धकल्याण राग

कल्याणमेलोत्पन्नः शुद्धकल्याण ईरितः ।

प्रारोहे मनिहीनोऽसौ गान्धारांशेन शोभितः ॥३०॥

शुद्ध कल्याण राग को कल्याण मेलजन्य कहा गया है । इसके आरोह में मध्यम और निषाद वर्ज्य हैं । इसका वादी स्वर गान्धार है ।

भते केषाञ्चिदप्यत्र वादित्वमृषभे भवेत् ।

मन्द्रमध्यस्वरैर्गौतो रात्र्यां प्रथमयामके ॥३१॥

कुछ विद्वानों के मतानुसार, शुद्धकल्याण में ऋषभ वादी है । मन्द्र-मध्यस्वरोचित यह राग रात्रि के प्रथम प्रहर में गाया जाता है ।

गवादित्वे त्ववश्यं स्याद्वैवतो भन्निःश्लिषः ।

सत्यंशे ऋषभे नूनं संवादी पञ्चमो भवेत् ॥३२॥

गान्धार के वादित्व की स्थिति में, इस राग में, वैवत संवादी होता है । ऋषभ वादी हो तो संवादित्व पञ्चम को प्राप्त होता है ।

त्र्यंशो गेयः सदा पूर्वं यमनादिति सम्प्रसृतम् ।

गान्धारांशस्तत्परं स्थालियमो हि मनीषिणाम् ॥३३॥

ऋषभवादी शुद्ध कल्याण सदा यमन पहले, तथा गान्धारवादी शुद्ध कल्याण यमन के उपरान्त गाया जाता है । यह नियम सङ्गीतज्ञों ने मान्य किया है ।

२१० : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

भेदोऽस्य सम्मतो लक्ष्ये भूपाल्याः परिकीर्तितः ।

गांशिका मनिहीनासावेतस्मिन्स्तद्विरुध्यते ॥३४॥

लक्ष्यसङ्गीत में शुद्ध कल्याण राग को भूपाली से भिन्न बताया गया है; क्योंकि भूपाली में गान्धार वादी, तथा मध्यम-निषाद वर्ज्य होने के कारण वह इस राग से सर्वथा पृथक् लगता है ।

यद्यप्यत्र निमौ तज्ज्ञैरनुज्ञातौ विलोमके ।

घर्षणेनैव सुभाव्यं तत्प्रदर्शनमीरितम् ॥३५॥

यद्यपि सङ्गीतज्ञों ने शुद्ध कल्याण में अवरोह में निषाद और मध्यम को स्वीकृत किया है तथापि इन स्वरों का घर्षण (मींड) के द्वारा ही प्रदर्शन सुमधुर होता है, ऐसा कहते हैं ।

टीका—अभिप्राय यह है कि म-नि का प्रयोग अवरोह में मींड के अन्तर्गत ही होता है तथा प्रायः वे बहुत कम प्रमाण में लगाये जाते हैं ।

मनिहीनः शुद्धपूर्वकल्याणः समुदीरितः ।

हृत्प्रकाशाह्वये ग्रन्थे हृदयेशेन धीमता ॥३६॥

हृत्प्रकाश नामक ग्रन्थ में पण्डित हृदयनारायणदेव ने शुद्ध कल्याण को मध्यम-निषाद-रहित बताया है ।

आरोहे मनिहीनोऽसौ गान्धारोद्ग्राहसंयुतः ।

अहोबलेन सन्दिष्टः पारिजाते परिस्फुटम् ॥३७॥

सङ्गीत पारिजात में अहोबल ने इसे स्पष्टतः मध्यम-निषाद-वर्जित आरोही, तथा गान्धार उद्ग्राह स्वरयुक्त प्रतिपादित किया है ।

(३) भूपाली राग

कल्याणमेलसञ्जाता भूपाली सम्मता जने ।

आरोहे चावरोहेऽपि मनित्यक्ता समीरिता ॥३८॥

भूपाली राग कल्याण मेल से उत्पन्न है । इसके आरोह और अवरोह दोनों में मध्यम और निषाद वर्ज्य हैं ।

गान्धारोऽत्र मतो वादी धैवतोऽमात्यसंज्ञितः ।

गानं सुसम्मतं तस्याः प्रथमप्रहरे निशि ॥३९॥

भूपाली का वादी स्वर गान्धार माना गया है, तथा संवादी निषाद । इसका गान-समय रात्रि का प्रथम प्रहर माना जाता है ।

रागाध्याय : २११

शुद्धकल्याणसादृश्यं नूतनमस्यां सुलक्षितम् ।

तद्भागे न मनित्यागोऽवरोहे गीतविन्मते ॥४०॥

शुद्धकल्याण से वास्तव में इस राग की समानता दिखती है; किन्तु शुद्धकल्याण में अवरोह में मध्यम-निषाद वर्ज्य नहीं है ।

प्राधान्यावन्न पूर्वाङ्गे सायङ्गेयत्वमीक्षितम् ।

सत्युत्तराङ्गप्राधान्ये देशिकारो भवेत् स्वयम् ॥४१॥

पूर्वाङ्ग के प्राधान्य के कारण भूपाली का सायङ्गेयत्व दिखायी देता है । इसमें ही उत्तराङ्ग की प्रधानता हो जाने पर देशिकार राग हो जाता है ।

टीका - अमिप्राय यह है कि भूपाली-देशिकार 'प्रतिमूर्ति' राग हैं ।

देशिकारे धवादित्वं लोके सर्वत्र सम्मतम् ।

अतस्तद्रागतश्चास्या वैलक्षण्यं भवेत्स्फुटम् ॥४२॥

देशिकार में वादी स्वर धैवत माना जाता है । अतएव उससे भूपाली की भिन्नता स्पष्ट हो जाती है ।

भूपाली कुत्रचित्प्रोक्ता प्रातर्गैयाऽथ गांशिका ।

रिगधकोमलाप्यन्या लक्ष्ये तन्नोपलभ्यते ॥४३॥

कहीं-कहीं गान्धारांशस्वरयुक्त प्रातर्गैय भूपाली का भी उल्लेख मिलता है । रे-ग-ध कोमल युक्त एक अन्य भूपाली भेद भी बताया जाता है, किन्तु वह आज उपलब्ध नहीं है ।

टीका—यहाँ भूपाली के दो अप्रचलित भेदों की चर्चा की गयी है । ये भूपाली-प्रकार यद्यपि अप्रचलित हैं तथापि महाराष्ट्रीय लोकसङ्गीत में 'भूपाली' नामक प्रातर्गैय गीत, तथा प्रचलित भूपाल तोड़ी राग से इनकी कल्पना शायद मिलती-जुलती हो सकती है ।

भूपालीसदृशो रागो दाक्षिणात्यमते भवेत् ।

मोहनपूर्वकल्याण इत्याहुर्गान्कोविदाः ॥४४॥

सङ्गीतज्ञों के मतानुसार दाक्षिणात्य राग मोहनकल्याण भूपाली के सदृश है ।

गान्धारोद्ग्राहसम्पन्नो रागालापोज्ञ सम्मतः ।

स्वस्थानेस्तु चतुर्भिः स्यान्नित्यमानन्ददायकः ॥४५॥

इस राग का रागालाप गान्धार उद्ग्राह स्वरयुक्त होता है, तथा वह स्वस्थानचतुष्टय के अनुसार किया जाने पर अत्यन्त आनन्ददायक होता है ।

२१२ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

टीका—उद्ग्राह की 'उद्ग्रह्यते प्रारम्भ्यते येन गीतं स उद्ग्राहः'.....
ऐसी व्याख्या टीकाकार कल्लिनाथ ने की है। 'उद्ग्राह' वस्तुतः गीत या प्रबन्ध का प्रारम्भ का अवयव है, किन्तु यहाँ 'उद्ग्राह स्वर' राग के 'ग्रह स्वर' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। भूपाली का ग्रहस्वर गान्धार माना गया है, अतएव उसका आलाप-विस्तार उसी स्वर से प्रारम्भ किये जाने का विधान है। राग-विस्तार की क्रिया प्राचीन पद्धति के अनुसार चार स्वस्थानों में सम्पन्न होती है। स्वस्थानचतुष्टय का निरूपण आगामी पृष्ठों में किया जा रहा है।



सङ्गीतरत्नाकर के अनुसार आलाप के लक्षण

ग्रहांशमन्त्रताराणां न्यासापन्यासयोस्तथा ।

अल्पत्वस्य बहुत्वस्य षाड्बौद्धयोरपि ॥

अभिव्यक्षितर्यत्र दृष्टा स रागालाप उच्यते ॥४६॥^१

राग के ग्रह स्वर, अंश स्वर, न्यास स्वर, अपन्यास स्वर, मन्त्र स्वर, तार स्वर, अल्पत्व, बहुत्व, षाड्बत्व तथा औडुबत्व—इन लक्षणों की अभिव्यक्ति जिस आलाप में हो, उसे रागालाप कहा जाता है।

सङ्गीतरत्नाकर की कल्लिनाथकृत टीका के अनुसार^२ :—

यत्र यस्मिन्स्वरसंक्षिपेति विशेषेण ग्रहांशादीनामुक्तलक्षणानाम् स्वराणा-
मल्पत्वादीनां तद्धर्माणां च अत्रैतेषामेवेत्यवधारणं कर्तव्यम् । तेनास्य धात्वङ्ग-
वद्वेभ्यः प्रबन्धेभ्यो वैलक्षण्यं विवक्षितं भवति ।

रागालाप वह विशेष स्वरसमूह है जिसमें उपर्युक्त ग्रहांशन्यासादि राग-लक्षणों, एवं रागगत स्वरों के अल्पत्व आदि धर्मों की अवधारणा कर्तव्य है। उसके द्वारा, उद्ग्राहमेलापक आदि वातुओं और अङ्गों से युक्त प्रबन्धों (अर्थात् प्रबन्ध नामक विशिष्ट निबद्ध गीत-प्रकारों) से रागालाप की भिन्नता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है।

तेषां ग्रहांशादीनामेवाभिव्यक्तिः स्वरूपप्रकाशननाविर्भाव इत्यर्थः । न तु स्वरूपप्रकटीकरणमात्रम् ।

१. सङ्गीतरत्नाकर, २।२।२३-२४।

२. द्रष्टव्य, अड्यार संस्करण, भाग २, पृ० २०-२१।

यहाँ अभिप्राय यह है कि रागालापों में ग्रहांशादि लक्षणों की ही अभिव्यक्ति के साथ राग-स्वरूप का प्रकाशन या आविर्भाव किया जाता है, न कि केवल राग के स्वरूप का प्रकटीकरण ।

(तात्पर्य यह कि रागालाप में, राग के केवल स्थूल-स्वरूप अथवा 'चलन' का नहीं, अपितु राग के सभी नियमों का अत्यन्त सूक्ष्मतापूर्वक उद्घाटन करते हुए राग का समग्र, सम्पूर्ण स्वरूप अभिव्यक्त किया जाता है ।)

अनेन वक्ष्यमाणलक्षणानामालप्तेरस्य भेदो दर्शितः । साऽभिव्यक्तिर्दृष्टा ज्ञाता भवति । तज्ज्ञैरिति शेषः ।

राग-लक्षणों को प्रकट किये जाने के कारण रागालाप की आलप्ति से भिन्नता दिखायी देती है तथा रागालाप का यह वैशिष्ट्य, तथा आलप्ति से उसका पार्थक्य, रागलक्षणमर्मज्ञ ही ज्ञात कर सकते हैं । ऊपर के श्लोक में 'अभिव्यक्तिर्यत्र दृष्टा स रागालाप उच्यते' पंक्ति में 'तज्ज्ञैः' अर्थात्, राग-लक्षणज्ञों के द्वारा—यह शब्द शेष है, अर्थात्, अर्थ को स्पष्ट समझने के लिए जोड़ा जाना चाहिए; यथा—'अभिव्यक्तिर्यत्र (तज्ज्ञैः) दृष्टा स रागालाप उच्यते ।

स स्वरसन्निवेशविशेषो रागालाप इत्युच्यते ।

ऐसा स्वरसमूह विशेष, जिसकी व्याख्या ऊपर की गयी है, रागालाप कहलाता है ।

रूपकालाप

रूपकं तद्वदेव स्यात्पृथग्भूतविदारिकम् ।^१

रूपक भी रागालाप के समान ही है, जो विदारियों, अर्थात् गीत-खण्डों से पृथक्-पृथक् किया हुआ होता है ।

इस श्लोक की कल्लिनाथकृत टीका^२ में कहा गया है—

रूपकं तद्वदेवालापवदेव स्यात् ।

रूपक भी उसके ही जैसा, अर्थात् आलाप (यानी रागालाप) जैसा ही होता है;

१. सङ्गीतरत्नाकर, २।२।२५ ।

२. द्रष्टव्य, अङ्गार संस्करण, भाग २; पृ० २१ ।

२१४ : श्रीमल्लक्ष्मसङ्गीतम्

विशेषस्तु

किन्तु, विशेष प्रकार का होता है (तात्पर्य यह कि रागालाप से वह भिन्न होता है।)

पृथग्भूता विच्छिद्य विच्छिद्य प्रयुक्ता विदार्यो गीतखण्डानि यस्मिन्निति तथोक्तम्।

क्योंकि उसमें विदारी अर्थात्, गीत खण्डों को पृथक्-पृथक् करके, यानी तोड़-तोड़कर, प्रयुक्त किया जाता है।

अयमर्थः—अपन्यासेष्वविरम्यैकाकारेण प्रवृत्त आलापः। स एवापन्यासेषु विरम्य विरम्य प्रवृत्तं रूपकम्।

इसका अर्थ यह है कि अपन्यास स्वरों पर बिना रुके, लगातार अथवा अविच्छिन्न रूप से गाये जाने पर उसे आलाप कहते हैं। आलाप को ही अपन्यास स्वरों पर रुक-रुककर गाने से रूपकालाप हो जाता है।

टीका—रूपकालाप स्वरूप और नियमों की दृष्टि से रागालाप जैसा ही है किन्तु उसमें आलाप को अपन्यास स्वरों पर रुकते हुए, गीत के उद्ग्राह आदि खण्डों को समान बनाते हुए, प्रस्तुत किया जाता है।

आक्षिप्तिका

चञ्चत्पुटादितालेन मार्गत्रयविभूषिता।

आक्षिप्तिका स्वरपदप्रथिता कथिता दुर्धः ॥४७॥^१

विद्वज्जनो ने, स्वरों तथा सार्थक शब्दों से रचित उस प्रबन्ध को 'आक्षिप्तिका' कहा है, जो चञ्चत्पुट आदि तालों से निबद्ध तथा त्रिविध मार्ग से सुशोभित हो।

कलिलनाथकृत टीका^२ में कहा गया है :—

आक्षिप्तिका निबद्धगीतभेदः। सा च चञ्चत्पुटादितालेन। आदिशब्देन चाचपुटादयो मार्गताला गृह्यन्ते। तेष्वन्यतमेन।

आक्षिप्तिका निबद्ध गीतों का एक भेद है। वह चञ्चत्पुट आदि तालों से निबद्ध होती है। यहाँ 'चञ्चत्पुट आदि' का अभिप्राय चाचपुट आदि समस्त मार्ग ताल—इस प्रकार लिया जाता है।

१. सङ्गीतरत्नाकर, २।२।२५-२६।

२. द्रष्टव्य, भाग २, पृ० २१।

रागाध्याय : २१५

मार्गत्रयविभूषिताः मार्गत्रये पूर्वोक्ते चित्रादौ विभूषिताऽलङ्कृता ।
जात्युक्तनियमेनेति द्रष्टव्यम् ।

‘मार्गत्रयविभूषिता’ का अर्थ है—पूर्वोक्त चित्रा आदि त्रिविध मार्ग^१ में अलङ्कृत, अथवा उनसे युक्त । यहाँ द्रष्टव्य है कि आक्षिप्तिका ग्रन्थोक्त जाति-नियमों के अनुसार रचित गीत प्रकार है तथा उसमें ‘मार्ग’ का प्रयोग नियमानुसार ही होता है ।

स्वरपदग्रथिता; षड्जादिस्वरभूषितैः पदैः पदार्थवाचकैः शब्दग्रंथिता रचिता ।

श्लोक में ‘स्वरपदग्रथिता’ का अर्थ है—षड्जादि साङ्गीतिक स्वरों से युक्त पदों, अर्थात् पदार्थवाचक शब्दों से रचित ।

पदतालद्व्याक्षिप्तत्वादाक्षिप्तिकेत्यन्वर्था ।

अन्वर्थ के अनुसार, पद एवं ताल के द्वारा आक्षिप्त—अर्थात्, ग्रथित, रचित—होने के कारण इसे ‘आक्षिप्तिका’ कहा जाता है ।

बुधैर्मतङ्गादिभिः कथिता ।

श्लोक में ‘बुधैः कथिता’ का अर्थ है—मतङ्ग आदि पूर्वाचार्यों द्वारा कथित ।

आलप्ति

रागालपनमालप्तिः प्रकटीकरणं मतम् ।

सा द्विधा गदिता रागरूपकाभ्यां विशेषणात् ॥४८॥^२

१. प्राचीन संगीत शास्त्र में ‘चित्रा’, ‘वार्तिक’ एवं ‘दक्षिण’ नामक तीन ‘मार्ग’ वर्णित हैं । ‘मार्ग’ ताल से सम्बन्धित संज्ञा है । तालगत ‘कला’ (अर्थात्, मात्राओं का योग) ताल की मात्राओं की अवधि तथा लय का आधार मानी गयी है । ‘कला’ के प्रमाण के विषय में विभिन्न शैलियों और परम्पराओं में मतभिन्नता रही है । ‘मार्ग’ ऐसी ही तीन परम्पराओं को कहा जाता है । एक गुरु अक्षर (जो २ मात्राओं के तुल्य है) ‘कला’ का नियत परिमाण माना जाता था । ‘चित्रा मार्ग’ इसी प्रमाण को स्वीकृत करता था, जबकि ‘वार्तिक मार्ग’ में वह दो गुरु तथा ‘दक्षिण मार्ग’ में ४ गुरु माना जाता था । ‘आक्षिप्तिका’ नामक गीत-प्रबन्धों में प्रयुक्त तालों में ‘कला’ के ये तीनों प्रकार के परिमाण व्यवहृत होते थे ।
२. सङ्गीतरत्नाकर, ३।१८९-१९०

२१६ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

‘आलसि’ ऐसा रागालपन है, जिसके द्वारा राग प्रकट होता है। ‘राग’ और ‘रूपक’ इन दो विशेषणों से आलसि के दो भेद—‘रागलसि और ‘रूप-कालसि’ बताये गये हैं।

कल्लीनाथकृत टीका^१ में कहा गया है :—

रागालपनमालप्तिरिति । अत्र यदालपनं साऽऽलप्तिरित्यनेनाऽऽलप्ति-
शब्दोऽप्यालपनशब्दवद्भाषसाधनत्वेन व्युत्पन्न इति दर्शितं भवति ।

‘रागालपनमालप्तिरिति’ में कहा गया है कि राग का ‘आलपन’ ही ‘आलसि’ है; इससे यहाँ ऐसा प्रतीत होता है, कि ‘आलपन’ शब्द की ही भाँति ‘आलसि’ शब्द भी भावसाधन के अर्थ में व्युत्पन्न हुआ है। अर्थात्, आलपन के समान ही आलसि भी राग के भाव या स्वरूप की अभिव्यक्ति का साधन है।

नन्वालापशब्दस्यापि भावसाधनत्वाविशेषात्^२ ‘स्याद्रागालाप आलप्तिः’ इति व्युत्पादनं कस्मान्न क्रियत इति चेत् । उच्यते—

(यदि ऐसा पूछा जाय कि) ‘आलाप’ शब्द की व्युत्पत्ति भी ‘रागालाप आलसि’ है—इस प्रकार क्यों नहीं की जाती ? (तो उसके उत्तर में) कहा जाता है :—

घञ्कितन्प्रत्यययोर्विलक्षणार्थत्वादिति ।

‘घञ्’ तथा ‘कितन्’ ये दो प्रत्यय भिन्न-भिन्न अर्थ रखते हैं।

तथाहि धञस्तावदाविर्भावोऽर्थः । कितनस्तु तिरोभावोऽर्थः । आविर्भाव-
तिरोभावयोरत्यन्तवैलक्षण्यमेव स्फुटम् ।

जैसे ‘घञ्’ आविर्भाव के अर्थ में होता है, तो ‘कितन्’ का अर्थ है तिरो-
भाव। आविर्भाव और तिरोभाव के मध्य विलक्षणता अथवा भिन्नता अत्यन्त स्पष्ट ही है।

ल्युटस्य^३ तदुभयमध्यस्थस्थित्यर्थत्वात्तदन्तेघञ्कितन्प्रत्यययोर्व्युत्पादनमवि-
शुद्धम् ।

१. द्रष्टव्य, भाग २, पृ. १७२

२. श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम् में यहाँ ‘साधनत्वाविशेषात्’ दिया गया है। हमने अङ्गार पाठ ग्रहण किया है।

३. अनुवाच पाठ में यह शब्द नहीं है किन्तु अङ्गार पाठ में है। अर्थ की स्पष्टता के लिए यहाँ वह अत्यन्त आवश्यक है।

‘ल्युट्’ प्रत्यय के द्वारा आविर्भाव और तिरोभाव के मध्यगत अर्थ की अभिव्यक्ति होने के कारण ‘घञ्’ और ‘क्वित्’ प्रत्ययों में अन्त होने वाले पदों अथवा शब्दों की व्युत्पत्ति अविरोध अथवा उचित ही कही जायगी ।

... अत एव भावावस्थाभेदाद्व्यञ्जनात्तानां लिङ्गभेदोऽप्युपपन्न एव । इत्यादि ।

इसलिए, भावावस्था के भेद से ‘घञ्’ इत्यादि प्रत्ययों में अन्त होने वाले पदों के लिंग-विषयक विभेदों का औचित्य सिद्ध है ।

रागविशेषणाद्रागालप्तिः । रूपकविशेषणान्नूपकालप्तिरित्यर्थः ।^१

राग की विशेषताओं से युक्त होने पर आलप्ति को रागालप्ति कहा जाता है । तथा रूपक के वैशिष्ट्य से युक्त होने पर रूपकालप्ति कहते हैं । यह अभिप्राय यहाँ है ।

रागालप्तिस्तु सा या स्यादनपेक्षयैव रूपकम् ।

स्वस्थानैः सा चतुर्भिः स्यादिति गीतचिदो विदुः ॥४९॥^२

रागालप्ति उसे कहते हैं, जो रूपक के बिना भी सम्पन्न हो सकती है । सङ्गीतज्ञों को ज्ञात ही है कि रागालप्ति स्वस्थानचतुष्टय के द्वारा निर्मित होती है—अर्थात् चारों ‘स्वस्थानों’ से युक्त होती है ।

टीका—आशय यह है कि स्वस्थानचतुष्टय के द्वारा निर्मित रागालप्ति राग-विस्तार का ही एक प्रकार है, रूपक यानी प्रबन्ध के विस्तार का नहीं । यद्यपि उसका स्वरूप रूपक-सदृश लग सकता है, तथापि वह ताल-बद्ध नहीं होती ।

सामान्यलक्षणमाह ।

वर्णालङ्कारसम्पन्ना

गमस्वस्थायचित्रिता ।

आलप्तिरुच्यते

तज्ज्ञैर्भूरिभङ्गिमनोहरा ॥५०॥^३

आलप्ति के सामान्य लक्षण इस प्रकार बताये गये हैं—वर्णों तथा अलङ्कारों में सम्पन्न, गमक युक्त स्थायों से शोभित, तथा विविध भङ्गियों के कारण जो सुन्दर प्रतीत होती है, उसे सङ्गीतवेत्ताओं द्वारा ‘आलप्ति’ कहा गया है ।

१. इसके पूर्व अङ्गार पाठ में ‘ताभ्यां तु परस्परव्युत्पादनं विरुद्धमेव’ भी है ।

२. द्र. कल्लिनाथ टीका, भाग २, पृ. १७६.

३. सङ्गीतरत्नाकर ३।१९०-१९१

४. सङ्गीतरत्नाकर, ३।२०२ ।

२१८ : श्रीमल्लक्ष्मसङ्गीतम्

कल्लिनाथकृत टीका^१ में कहा गया है :—

अत्र विशेषणसाम्यात्स्त्रीसमाधिर्व्यन्यते ।

यहाँ अर्थात्, आलसि के उपर्युक्त लक्षणों में विशेषणों की समानता के कारण स्त्री की उपमा या सादृश्य का आभास होता है ।

टीका—आशय यह है कि आलसि-लक्षणों में 'वर्णालङ्कारसम्पन्ना' 'भूरिभङ्गिमनोहरा' ये विशेषण प्रयुक्त हैं, जो स्त्रियों के वर्णनों में भी आ सकते हैं । अतः ऐसी प्रतीति होना स्वाभाविक है कि यहाँ आलसि की तुलना विविध वस्त्रालङ्कारों से सजी हुई, मोहक हाव-भाव दिखाती, कामिनी से की गयी है ।

यथा वर्णालङ्कारादिसम्पन्ना कामिनी कामुकदर्शने कदाचिदाविर्भूतं कुच-केशादिकं स्वाङ्गं किञ्चिद्दर्शयति;.....

वर्णों और अलङ्कारों आदि से सम्पन्न कामिनी, किसी कामुक पुरुष द्वारा देखी जाने पर, जिस प्रकार अपने कुच, केश आदि अंगों की थोड़ी सी झलक-सी दिखा देती है

....एवं सखिलासं तत्तिरोभावयति;.....

और फिर इसी तरह विशेष हाव-भावों से उन अङ्गों को छिपा लेती है....

कदाचित्तिरोभूतं तमेव सव्याजं प्रकटीकरोति;...

और कभी तो छिपाये गये उन अंगों को किसी बहाने से, अप्रत्यक्ष रूप से प्रकट करती है....

तथोक्तलक्षणाऽऽलप्तिरपि स्वस्थानचतुष्टयैश्च तत्र-तत्र रागं किञ्चिद्दर्शयन्ती तं तिरोभावयति;...

ठीक वैसे ही, पूर्वोक्त लक्षणों से युक्त आलसि भी जगह-जगह पर राग को प्रकट करते हुए उसे तिरोभूत भी करती है (अर्थात्, छिपा भी लेती है) ..

कदाचित्तिरोभूतं तमेव प्रतिग्रहभञ्जनीभ्यां तत्र-तत्र रागं प्रकटीकरोति ।

और कभी तो उसी तिरोभूत राग को प्रतिग्रहणिका और भञ्जनी के द्वारा स्थान-स्थान पर प्रकट भी करती है ।^२

(‘प्रतिग्रहणिका’ और ‘भञ्जनी’ रूपकालसि के विभागों की संज्ञाएँ हैं ।)

१. द्र. कल्लिनाथ टीका, भाग २, पृ० १८० ।

२. गेय प्रबन्ध में स्थित राग और ताल से उपलब्धित जो आलसि की जाती है, उसे ही रूपकालसि कहते हैं । रूपकालसि के दो विभाग अथवा प्रकार हैं—

इति सहृदयप्रतिभाविषय एषोऽर्थः ।

यह (आविर्भाव-तिरोभाव प्रयोग) सहृदय अथवा सुज्ञ जनों के ही ज्ञान का विषय है ।

आलापस्तु पुमाञ्चमश्र्वादिकमित्र सदा रागमाविर्भावयति ।

जैसे पुरुष श्मश्रु (दाढ़ी-मूँछ) आदि का, वैसे ही आलाप भी राग का सदा आविर्भाव करता है ।

नपुंसकमिवाऽऽलापनं तदुभयसाधारणस्थितिं दर्शयतीति सूक्ष्मेक्षिकाऽवगन्तव्यम् ।

आलपन नपुंसक की भाँति आविर्भाव और तिरोभाव दोनों की मध्यगत साधारण अथवा अविशेष स्थिति को व्यक्त करता है, यह सूक्ष्म अवलोकन द्वारा ही ज्ञात हो सकता है ।

रागालाप, रूपकालाप, रागालप्ति तथा रूपकालप्ति पर टीका

प्राचीन राग-गायन में राग-प्रस्तुतीकरण की क्रिया अत्यन्त ही सुन्दर ढंग से की जाती थी । आलाप, आलप्ति आदि इस क्रिया के विभिन्न प्रकारों या सोपनों की संज्ञाएँ हैं ।

शास्त्रकारों ने ये संज्ञाएँ भी बड़े दुद्धिमत्तापूर्ण ढंग से कल्पित की हैं, जिससे वे उन-उन विशिष्ट राग-विस्तार-विधियों की सुन्दर अभिव्यक्ति करती हैं । 'घञ्' पुल्लिङ्ग-वाचक प्रत्यय है । 'आलाप' शब्द इसी प्रत्यय से युक्त है (उपसर्ग आ + घातु लप् + घञ्) । अतएव 'आलाप' पुल्लिङ्ग शब्द हैं । उसका स्वरूप और स्वभाव धीर, गम्भीर नायक-सा है ! राग के ग्रहांशादि दस लक्षणों

प्रतिग्रहणिका तथा भञ्जनी । राग का तिरोभाव-आविर्भाव करते हुए, स्वस्थानों से युक्त आलप्ति करते हुए जब प्रबन्ध या वन्दिश की पंक्तियों को लिया जाता है तब वह 'प्रतिग्रहणिका आलप्ति' कहलाती है । भञ्जनी के दो प्रकार हैं—स्थाय भञ्जनी और रूपक भञ्जनी । प्रबन्ध के किसी एक अवयव को ले कर उसके पद या शब्दों और ताल के अनुसार ही उस प्रबन्धावयव को अलग-अलग स्वरसमूहों के द्वारा प्रस्तुत करना 'स्थाय भञ्जनी' है; एवं किसी एक अवयव नहीं, अपितु सम्पूर्ण प्रबन्ध को इसी प्रकार प्रस्तुत करना 'रूपक भञ्जनी' । (द्र. सुधाकर टीका, सङ्गीतरत्नाकर भाग २, पृ. १८० अङ्गार संस्करण) ।

२२० : श्रीमल्लदथसङ्गीतम्

से युक्त एकाकार रूप में, अर्थात् अपन्यास स्वरों पर बिना रुके, राग-स्वरूप का पूर्णशेष आविर्भाव 'आलाप' में होता है। 'आलाप' स्वस्थाननियमरहित होता है। राग-स्वरूप का सम्पूर्ण तथा सीधा-सीधा आविर्भाव करने के पश्चात् ही अन्य समप्राप्तिक रागों से उसका सादृश्यासादृश्य चमत्कारपूर्ण ढंग से व्यक्त किया जाता है। एक राग को गाते हुए किसी अन्य निकटवर्ती राग की छाया प्रस्तुत करने की क्रिया में उस राग के मूल तथा स्पष्ट स्वरूप का 'तिरोभाव' हो जाता है, किन्तु यह क्रिया इतनी दक्षतापूर्ण होती है कि तिरोभाव की स्थिति में भी राग का अस्तित्व बना रहता है। तिरोभाव करने के पश्चात् राग-वाचक विशिष्ट स्वर-समूहों को लेते हुए जीव स्वर पर न्यास करने पर पुनः राग का आविर्भाव हो जाता है। राग को तिरोभूत-आविर्भूत करने की यह क्रिया उस चतुरा, प्रगल्भा नायिका की चेष्टाओं के समान है जो अपने सौन्दर्य को इस चतुरता से छिपाने का वहाना करती है कि छिप-छिप कर अधिक उभरा हुआ, अधिक आकर्षक, अधिक उत्तेजक हो जाता है। 'क्तिन्' प्रत्यययुक्त 'आलसि' इसी विस्तार-क्रिया का नाम है। 'रूपक' का अर्थ है—प्रबन्ध या वन्दिश। रूपक-सदृश स्वरूप वाला आलाप 'रूपकालाप' कहा जाता है। रागालाप को ही अपन्यास स्वरों पर रुक-रुक कर गाने से रूपकालाप हो जाता है। अपन्यास स्वर प्रबन्ध के विभिन्न अवयवों और पंक्तियों की समाप्ति के स्वर होते हैं। आलाप को अपन्यास स्वरों पर रुकते हुए और तोड़ते हुए 'विदारी' के द्वारा आलाप का स्वरूप ऐसा बन जाता है, मानों वह बिना शब्दों की वन्दिश हो। रूपक-सदृश आलसि को 'रूपकालसि' कहा गया है। सम्भवतः यह प्रबन्ध-गान के अन्तर्गत की जाती थी। जिस राग और ताल में प्रबन्ध को गाया गया हो, उसी राग और ताल से युक्त आलसि करते हुए प्रबन्ध का अवयव या 'मुखड़ा' पकड़ने पर 'प्रतिग्रहणिका' आलसि हो जाती है। वन्दिश की किसी पंक्ति अथवा खण्ड में शब्दों और मात्राओं को यथावत् रखते हुए स्वर-भिन्नता से प्रस्तुत करना 'स्थाय भञ्जनी' आलसि कहलाता है। यदि किसी एक पंक्ति या अवयव के स्थान पर समूची वन्दिश को इसी प्रकार गाया जाय, तो वह 'रूपक भञ्जनी' हो जाती है। नपुंसक लिंगी ल्युट् प्रत्यययुक्त 'आलपन' उस अवस्था का द्योतक है, जहाँ न तो यह राग रहता है, न वह राग। आविर्भाव-तिरोभाव प्रयोग में प्रथम राग के तिरोभाव की स्थिति में भी कोई दूसरा राग स्पष्टतः नहीं आ जाता। 'आलपन' इसी सम्मिश्र स्थिति की संज्ञा है, ऐसा कहा जा सकता है।

वर्तमान सङ्गीत में भी राग-विस्तार की ये समस्त क्रियाएँ देखी जा सकती हैं। अन्तर केवल यह है कि प्राचीन सङ्गीत में वे नियमपूर्वक तथा आवश्यक रूप से की जाती थीं किन्तु आज वे कलाकार की रूचि पर निर्भर हैं।

स्वस्थान चतुष्टय^१

प्राचीन राग-विस्तार अत्यन्त सुबद्ध रीति से चार सोपानों में सम्पन्न किया जाता था। आलप्ति के इन्हीं चार क्रमिक सोपानों को 'स्वस्थान' कहा गया है।

यत्रोपवेक्ष्यते रागः स्वरे स्थायी स दृश्यते ।

ततश्चतुर्थो द्व्यर्धः स्यात्स्वरे तस्मादधस्तने ॥५१॥

चालनं मुखचालः स्यात् स्वस्थानं प्रथमं च तत् ।

जिस स्वर में राग को स्थापित किया जाता है, उसे 'स्थायी स्वर' कहते हैं। स्थायी से चौथा स्वर 'द्व्यर्ध स्वर' कहलाता है। द्व्यर्ध के पूर्व के स्वरों में 'चालन' या 'मुखचाल' करने पर प्रथम स्वस्थान होता है।

टीका—सङ्गीतरत्नाकर की कल्लिनाथ-टीका के अनुसार, राग का अंश स्वर ही 'स्थायी स्वर' है, क्योंकि राग की स्थापना उसी स्वर में होती है तथा वह राग की स्थिति अथवा स्थापना के लिए हेतुभूत होता है—“यस्मिन्स्तत्तद्रागांशभूते पङ्खादिष्वन्यतमे स्वरे राग उपवेक्ष्यते स्थाप्यते स स्वरो रागस्थितिहेतुत्वात्स्थायीति कथ्यते”^१। स्थायी से चौथा स्वर 'द्व्यर्ध' है तथा इस चौथे स्वर की गणना स्थायी से आरोहक्रम से लोप्य, अर्थात् राग में वर्ज्य स्वरों सहित की जाती है। यह 'द्विगुण' नामक स्वर की अपेक्षा आधी दूरी पर होता है, इसलिए उसे 'द्व्यर्ध' कहते हैं^२। इस द्व्यर्ध स्वर के नीचे के—अर्थात् स्थायी से तीसरे स्वर से लेकर स्थायी सहित सभी स्वरों में चालन कर स्थायी स्वर पर न्यास करने पर प्रथम स्वस्थान होता है^३। यहाँ चालन अथवा मुखचाल का अर्थ है—रागोचित स्फुरित कम्पित आदि गमकों से युक्त राग-वाचक स्थायों या स्वर-समूहों का उच्चारण अथवा वादन—“.....चालनं

१. सङ्गीतरत्नाकर, ३।१९१-१९५ ।

२. कल्लिनाथ टीका, पृ० १७६, (अङ्गार संस्करण, द्वितीय भाग) ।

३. वही ।

४. वही ।

२२२ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

तत्तद्वागोचितस्फुरितकम्पितादिगमकयुक्तत्वेनोच्चारणं वादनं वा मुखचालः स्यात्" ।^१

आचार्य बृहस्पति के मतानुसार, 'प्रत्येक अंश स्वर अर्थात् प्रत्येक मूर्च्छना के मध्यस्थानीय आरम्भक स्वर की अपेक्षा आरोह की ओर तीसरे स्वर से अवरोह करने पर अंश स्वर के मन्द्र रूप तक तीन मध्य-स्थानीय और सात मन्द्र-स्थानीय स्वर होते हैं। इन दस स्वरों में राग-वाचक स्वर-गुच्छों या स्थायों का प्रयोग कर-करके मध्य-स्थान के आरम्भक अंश पर समाप्ति करते रहना प्रथम स्वस्थान या प्रथम मुखचालन है" ।^२

द्व्यर्धस्वरे चालयित्वा न्यसनं तद्वितीयकम् ॥५२॥

पूर्वोक्त स्वरों के (यानी, प्रथम स्वस्थान में प्रयुक्त स्वरों) साथ ही द्व्यर्ध स्वर को भी ले कर चालन करते हुए स्थायी पर न्यास करने पर द्वितीय स्वस्थान होता है ।

स्थायीस्वरादष्टमस्तु द्विगुणः परिकीर्तितः ।

द्व्यर्धद्विगुणयोर्मध्ये स्थिता अर्धस्थिताः स्वराः ॥५३॥

अर्धस्थिते चालयित्वा न्यसनं तु तृतीयकम् ।

स्थायी से आठवाँ स्वर 'द्विगुण स्वर' कहलाता है । द्व्यर्ध और द्विगुण के बीच में स्थित स्वरों को 'अर्धस्थित स्वर' कहते हैं । पूर्वोक्त दोनों स्वस्थानों के साथ ही अर्धस्थित स्वरों का भी चालन करके स्थायी पर न्यास करने पर तृतीय स्वस्थान होता है ।

द्विगुणे चालयित्वा तु स्थायिन्यासाच्चतुर्थकम् ॥

इन तीनों स्वस्थानों के साथ ही द्विगुण स्वर को भी चालित करके स्थायी स्वर पर न्यास करने से चतुर्थ स्वस्थान होता है ।

एभिश्चतुर्भिः स्वस्थानै रागालप्तिर्भता सताम् ॥५४॥

विद्वानों के मतानुसार, इन चार स्वस्थानों के द्वारा रागालप्ति की जाती है ।

टीकायाम् :—द्विगुणे चालयित्वेति । द्विगुण, इति तदुत्तरेषामप्युप-लक्षणम् । तेषु चालयित्वा स्थायिन्यासाच्चतुर्थकं स्वस्थानं भवति ।

१. वही ।

२. सङ्गीतचिन्तामणि, पृ० १३० ।

टीका में कहा गया है :—द्विगुण स्वर स्थायी के उत्तर (यानी, आगे की ओर) में दुगुना होता है, ऐसा उपलक्षण भी है (अर्थात्, स्थायी से आठवाँ स्वर, जिसे द्विगुण कहा जाता है, पुनः स्थायी स्वर ही है, जो तार-स्थान में है) । द्विगुण सहित समस्त पूर्वोक्त स्वरों में चालन करके स्थायी पर न्यास करने से चतुर्थ स्वस्थान होता है ।



रागस्थापना की विधि

यहाँ रागालति में राग-स्वरूप की स्थापना करने का ढङ्ग समझाया गया है ।

स्तोकस्तोकस्ततः स्थायैः प्रसन्नबहुभङ्गिभिः ।

जीवस्वरव्याप्तिमुख्यै रागस्य स्थापना भवेत् ॥५५॥^१

पूर्वोक्त लक्षणों वाली आलति के अनन्तर राग की स्थापना या स्वरूपाभिव्यक्ति छोटे-छोटे, बहुविध चातुर्ययुक्त, राग के करणभूत (साधनभूत) स्थायों के द्वारा की जाती है, जिनमें जीव स्वर की व्याप्ति, अर्थात् बहुधाः उच्चारण, हुई हो ।^२

टीका^३ में कहा गया है :—

जीवस्वरोंऽशस्वरः ।

यहाँ जीव स्वर से अमिप्राय है—अंश स्वर ।

उक्तस्वस्थानचतुष्टयप्रयुक्तायामालप्तावुक्तलक्षणैः स्वरूपे रागावयवैर्विस्तार्यमाणायामापाततोऽभिव्यक्तस्य रागस्य रागान्तरसाधारणस्थाव्यादि-प्रयोगात् स्वरूपतिरोभावे सति किञ्चित् प्रतीयमानता भवेत् ।

पूर्वोक्त चार स्वस्थानों द्वारा प्रयुक्त आलति में, जिसे निर्दिष्ट लक्षणों वाले छोटे-छोटे रागावयवों या स्थायों के द्वारा विस्तारित किया जा रहा हो, प्रत्यक्षतः अभिव्यक्त किये गये राग के स्वरूप के, अन्य राग के साधारण अवयवों (स्वर-समूहों) के प्रयोग के कारण, तिरोभाव के बावजूद उसकी कुछ-कुछ प्रतीयमानता (यानी आभास) विद्यमान रहती है ।

१. सङ्गीतरत्नाकर, ३।१९६ ।

२. द्र० इस श्लोक पर सिंह भूपाल की टीका पृ० १७८ (अङ्गार संस्करण, द्वितीय भाग) ।

३. कल्लिनाथ टीका, पृ० १७७ (अङ्गार संस्करण, द्वितीय भाग) ।

२२४ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

टीका—रागालप्ति में जब स्वस्थानों सहित छोटे-छोटे स्वर-गुच्छों के द्वारा विस्तार किया जाता है, तब अत्यन्त कुशलतापूर्वक आविर्भाव-तिरोभाव प्रयोग भी किये जाते हैं। तिरोभाव प्रयोग के समय भी, यद्यपि राग का स्वरूप कुछ समय के लिए छिप जाता है, तथापि दूसरा राग हो गया हो ऐसा भी नहीं लगता। दूसरे शब्दों में, रागालप्ति में राग के तिरोभाव की स्थिति में भी राग-स्वरूप कुछ धूमिल-मात्र होता है, तथा प्रतिक्षण उसकी विद्यमानता का अनुभव होता रहता है; राग-परिवर्तन नहीं हो जाता। आगामी पंक्तियों में टीकाकार ने अत्यन्त सुन्दर तुलना प्रतिपादित करते हुए इसे स्पष्ट किया है।

यथा लोके सभां प्रत्यागच्छतो देवदत्तस्य स्वरूपेणाभिव्यक्तस्य ततः सभां प्रविश्योपविष्टस्य तस्य स्वसदृशरूपदेखभाषादिसाङ्ग्यत् स्वरूपतिरोभावे सति यथा तस्य किञ्चित्प्रतीयमानत्वम् ।

(तिरोभाव की स्थिति में भी राग की प्रतीयमानता उसी प्रकार बनी रहती है) जिस प्रकार लोक में अपने विशिष्ट रूप के कारण व्यक्तिविशेष दिखने वाले, सभा में आते हुए देवदत्त का (विशिष्ट) स्वरूप, सभा में उसके द्वारा स्थान-ग्रहण कर लेने पर अपने ही समान रूप, वेप, भाषा आदि वाले अन्य सभासदों के साथ मिल जाने के कारण, तिरोभूत हो जाने पर भी उसकी प्रतीयमानता कुछ न कुछ बनी ही रहती है !

टीका—यहाँ 'लोके' का अर्थ है—साधारण जागतिक व्यापार में। देवदत्त यहाँ एक नाम मात्र हैं। संस्कृत के उदाहरणों में ऐसे नामों का प्रयोग प्रायः दिखायी देता है। राजदरबारों के सभासदों को विशिष्ट परिधान धारण करने पड़ते हैं। एक व्यक्ति जब तक सभा में प्रविष्ट नहीं हुआ रहता तब तक तो उसका स्वतन्त्र व्यक्तित्व स्पष्ट दिखायी पड़ता है परन्तु सभा में बैठ जाने के बाद अन्य वैसे ही परिधान आदि वाले व्यक्तियों के बीच वह छिप सा जाता है, फिर भी उसका अपना स्वरूप तो बना ही रहता है, तथा अन्य लोगों के बीच वह पहचाना भी जा सकता है। यही स्थिति आलप्ति में तिरोभूत राग की होती है।

यथा वा पृथगानीय भिन्नवर्णेषु सणिषु प्रोक्तस्य मुक्तामर्णमन्यन्तरच्छायो-
पराभात् स्वरूपतिरोभावे सति यथा तस्य किञ्चित्प्रतीयमानत्वं तद्वत् ।
इत्यभिप्रायः ।

(तिरोभाव के बावजूद राग का आभास उसी प्रकार होता रहता है)
जिस प्रकार, अलग-अलग रङ्गों वाली मणियों के बीच अलग से ला कर गुंथी

हुई मणि की आभा अन्य मणियों की विविधवर्णी आभाओं में प्रभावित तो हो जाती है तथापि उसकी अपनी आभा की प्रतीति तो होती ही रहती है। यह अभिप्राय है।

(४) जयत्कल्याण (जैतकल्याण) राग

कल्याणमेलसञ्जातो जयत्कल्याण ईरितः ।

आरोहे चावरोहेऽपि मनिहीनोऽथ पांशकः ॥५६॥

जयत्कल्याण राग कल्याण मेल से उत्पन्न है। इसके आरोहावरोह में मध्यम और निषाद वर्ज्य हैं। इसका वादी स्वर पञ्चम है।

सङ्गतिर्गण्योश्चात्र भवेद्रक्तिप्रदायिनी ।

अवरोहे तथैवासौ धगयोर्वहुरक्तिदा ॥५७॥

‘ग-प’ की सङ्गति इस राग में मधुर लगती है। इसी प्रकार, अवरोह में ‘घ-ग’ की सङ्गति अत्यन्त रक्तिदायक होती है।

ऋषभः कीर्तितस्तज्जै रागेऽत्र दुर्बलः सदा ।

गानं सुनिश्चितं तस्य रात्र्यां प्रथम्यासके ॥५८॥

विद्वानों ने इस राग में ऋषभ की दुर्बलता बतायी है। इसका गायन-समय रात्रि का प्रथम प्रहर है।

यतोऽयं पांशकः प्रोक्तो भूपालीभित् परिस्फुटा ।

वादिभेदे रागभेदो नियमोऽयं सुसम्मतः ॥५९॥

पञ्चम के वादित्व के कारण भूपाली से इसकी भिन्नता स्पष्ट हो जाती है; क्योंकि यह नियम सर्वमान्य है कि वादी की भिन्नता के कारण राग-भिन्नता होती है।

(५) पूरियाकल्याण राग

कल्याणः पूरियाख्यातः कल्याणीमेलसम्भवः ।

गान्धारांशो मतो लक्ष्ये सम्पूर्णस्वरसंयुतः ॥६०॥

पूरियाकल्याण कल्याणी मेल से उत्पन्न होता है। यह सम्पूर्ण राग माना जाता है, तथा इसका वादी स्वर गान्धार माना गया है।

ऋषभौ द्वौ प्रयुक्तावत्र रागे गानकोविदः ।

आरोहे तीव्रसंज्ञः स्यात्कोमलः प्रतिलोमके ॥६१॥

२२६ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

विद्वानों ने इस राग में दोनों ऋषभों का प्रयोग बतलाया है । तीव्र ऋषभ आरोह में तथा कोमल ऋषभ अवरोह में लगता है ।

सङ्गतिगंपयोश्चाथ भवेद्वैचित्र्यकारिणी ।

गानं सुसम्मतं प्रोक्तं प्रथमप्रहरे निशि ॥६२॥

‘ग-प’ की सङ्गति इस राग में अत्यन्त वैचित्र्योत्पादक होती है इसका गायन-समय रात्रि का प्रथम प्रहर है ।

पद्धत्यां दाक्षिणात्यानां पूर्वकल्याणनामकः ।

अधुनाऽपि श्रुतो रागः गमनश्रममेलने ॥६३॥

यतस्तस्मिन्निर्दिष्टो रिषभस्तीव्रसंज्ञकः ।

स्यात्पूरियाद्यकल्याणस्तद्धिन्न इत्यसंशयम् ॥६४॥

दाक्षिणात्य सङ्गीत-पद्धति में पूर्वकल्याण नामक गमनश्रम (मारवा) मेल से उत्पन्न राग प्रचलित है । दाक्षिणात्य पूर्वकल्याण में ऋषभ तीव्र नहीं बताया गया है । अतः पूरियाकल्याण उससे भिन्न है, इसमें सन्देह नहीं । -

(६) चन्द्रकान्त राग

कल्याणमेलसञ्जातश्चन्द्रकान्तः श्रुतो जने ।

प्रारोहे मध्यमसत्यक्तः प्रतिलोमे सप्तप्रकः ॥६५॥

कल्याणमेलजन्य चन्द्रकान्त राग का आरोह मध्यम रहित है, तथा अवरोह सम्पूर्ण है ।

गान्धारः सम्मतो वादी संवादी निस्वरो भवेत् ।

गानमस्य सजीचीनं रात्र्यां प्रथमयामके ॥६६॥

इस राग का वादी स्वर गान्धार और संवादी निषाद है । इसका गायन-समय रात्रि का प्रथम प्रहर है ।

प्राधान्यं निश्चितं चात्र पूर्वाङ्गे गायनोत्तमैः ।

शुद्धकल्याणसादृश्यं रागोऽयं सम्प्रदर्शयेत् ॥६७॥

सङ्गीतज्ञों ने इस राग में पूर्वाङ्ग की प्रधानता निश्चित की है । यह राग शुद्धकल्याण से साम्य प्रदर्शित करता है ।

कल्याणे शुद्धपूर्वाख्ये नारोहे तिष्ठतो मनी ।

मनिरिक्तस्तथा पांशो जयत्कल्याण ईरितः ॥६८॥

रागाध्याय : २२७

भूपाल्यां तु मनी नस्त आरोहे चावरोहणे ।

स्वातन्त्र्यं चन्द्रकान्तस्य तस्मात्लक्ष्ये सुनिश्चितम् ॥६९॥

शुद्धकल्याण के आरोह में मध्यम और निषाद नहीं लगते । जैतकल्याण में 'म-नि' वर्जित हैं, तथा उसका वादी स्वर पञ्चम है । भूपाली के भी आरोह और अवरोह दोनों में म और नि नहीं लगते । इस प्रकार, वर्तमान सङ्गीत में चन्द्रकान्त राग का अपना स्वतन्त्र स्वरूप है ।

(७) हिन्दोल राग

कल्याणमेलसञ्जातो हिन्दोलो लोकविश्रुतः ।

प्रातःकालप्रगेयोऽसौ धांशको बहुसम्मतः ॥७०॥

कल्याण मेल से उत्पन्न हिन्दोल सुप्रसिद्ध राग है । यह प्रातर्गेय है । इसका वादी स्वर प्रायः धैवत माना जाता है ।

गांशत्वं रात्रिगेयत्वं रागस्यास्य समर्थितम् ।

गायकैस्तु क्वचित्लक्ष्ये बुधः कुर्याद्यथोचितम् ॥७१॥

वर्तमान सङ्गीत में कुछ गायक इस राग को गान्धारवादी तथा रात्रिगेय मानते हैं । तद्विषयक यथोचित निर्णय बुद्धिमानों को करना चाहिए ।

टीका—कुछ लोग हिन्दोल राग को गान्धारवादी युक्त रात्रिकालीन राग मानते हैं । अतएव, इस मत-वैमिन्य पर उचित रूप से विचार किया जाना चाहिए तथा तदनुसार इस राग का व्यवहार किया जाना चाहिए यह अभिप्राय है ।

वादित्वं नैव गान्धारे भवेत्प्रातः सुसङ्गतम् ।

अतस्तद्वैवतस्यैव निश्चितं गानकोविदैः ॥७२॥

प्रातर्गेय रागों में गान्धार का वादित्व कदापि उचित नहीं है, इसी लिए सङ्गीतज्ञों ने हिन्दोल में धैवत का वादित्व निश्चित किया है ।

रिपयोरत्रलुप्तत्वादमात्यत्वं तु गस्वरे ।

प्रारोहे स्यान्निवक्तृत्वं धमसङ्गत्यभीष्टदा ॥७३॥

ऋषभ-पञ्चम के वर्ज्यत्व के कारण इसमें संवादित्व गान्धार को प्राप्त होता है । आरोह में निषाद वक्र होता है । इसमें मध्यम-धैवत की सङ्गति रञ्जक लगती है ।

२२८ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गातम्

लक्ष्ये क्रमात्सगासक्ता रिमच्छायावरोहणे ।

न तद्दोषास्पदं मन्ये यतस्तच्छास्त्रसम्मतम् ॥७४॥

अवरोह क्रम में 'सा ग सा' सङ्गति लेते समय इस राग में ऋषभ और मध्यम की छाया (अर्थात् कण-प्रयोग) परिलक्षित होती है । ऐसा प्रयोग शास्त्रानुमोदित होने के कारण, मुझे अनुचित प्रतीत नहीं होता ।

म—रे—

टीका—'सा ग', ग सा' इस सङ्गति में रे-म का स्पर्श स्पष्ट है ।

मालश्रीः पूरिया चैव वसन्तोऽपि यथाययम् ।

सम्मिलन्ति स्वरूपेऽत्रेत्याहुः केचिद्विचक्षणाः ॥७५॥

कतिपय विद्वानों का कहना है, कि हिन्दोल में मालश्री, पूरिया तथा वसन्त का समुचित प्रमाण में मिश्रण होता है ।

वर्णयन्ति पुनः केचिदेनं मौरवमेलने ।

आसावरीमेलनेऽन्ये लक्ष्यमार्गविरोधि तत् ॥७६॥

कुछ लोग इसे मौरवमेलजन्य बताते हैं, तो अन्य कुछ लोग आसावरी-मेलजन्य । किन्तु ये मत लक्ष्य-प्रचार के विपरीत हैं ।

(८) मालश्री राग

कल्याणमेलसञ्जाता मालश्रीः कथ्यते बुधैः ।

मारोहे चावरोहेऽपि रिधहीना तथौडुवा ॥७७॥

ऋषभ-धैवत वर्जित औडुव-औडुव रागिणी मालश्री को विद्वानों ने कल्याणमेलोत्पन्न बताया है ।

पञ्चमोऽत्र भवेद्वादी संवादी षड्ज ईरितः ।

गानमस्थाः समीचीनं सायङ्काले मते सताम् ॥७८॥

मालश्री का वादी स्वर पञ्चम है, तथा संवादी स्वर षड्ज । सायङ्काल इसका गुणिजनसम्मत गान-समय है ।

त्रिस्वरा सगपा कैश्चिदुच्यते लक्ष्यवर्त्मनि ।

न तच्छास्त्रानुरूपं स्यात्स्वरूपं तद्विदां मते ॥७९॥

लक्ष्य-पद्धति में कुछ लोग मालश्री को केवल तीन स्वरों—सा, ग, प—से युक्त कहते हैं; किन्तु विद्वानों के मतानुसार यह स्वरूप शास्त्रानुकूल नहीं है ।

रागाध्याय : २२९

पञ्चोनेभ्यः स्वरेभ्यस्तु न स्याद्वागस्य सम्भवः ।

जानन्ति पण्डिताः सर्वे रहस्यमिदमद्भुतम् ॥८०॥

सभी बुद्धिमान इस अद्भुत नियम से परिचित हैं कि पाँच से कम स्वरों से राग सम्भव नहीं है ।

टीका—राग के लिए कम से कम पाँच स्वर होने चाहिए । इससे कम स्वरों से 'तान' बन सकती है, राग नहीं—ऐसा कहते हैं । परन्तु, जहाँ तक मालश्री का प्रश्न है, म-नि के बिना भी काम चल जाता है । तीन स्वरों से युक्त इस राग में विस्तार के लिए अत्यन्त सीमित अवकाश है ।

यद्यप्यत्र मनी देयो स्वरसङ्ख्याप्रपूरणे ।

दुर्बलौ तौ प्रयोगेषु ह्येतत्सर्वत्रसम्मतम् ॥८१॥

इस बात को सभी मानते हैं कि मालश्री में मध्यम-निषाद यद्यपि स्वर-सङ्ख्या पूर्ति की दृष्टि से रखे गये हैं, तथापि राग के स्वरूप-व्यवहार में वे अत्यन्त ही दुर्बल हैं ।

सङ्गत्या गपथोरेव भवेदेषा परिस्फुटा ।

तारषड्जान्मतो पातः पञ्चमे बहुरक्तदः ॥८२॥

'ग-प' की सङ्गति से ही मालश्री स्पष्ट हो जाती है । तार पङ्क से पञ्चम पर पात इसमें अत्यन्त रक्तिदायक माना जाता है ।

रागतरङ्गिणी ग्रन्थे मालश्रीः परिकीर्तिता ।

गौरीमेलसमुत्पन्ना रिधत्यक्ता तथोडुवा ॥८३॥

रागतरङ्गिणी में मालश्री को गौरीमेलोत्पन्न ऋषभ-धैवत विहीन ओडुव रागिणी कहा गया है ।

श्रीरागमेलसञ्जाता गनिकोमलमण्डिता ।

ग्रन्थे रागविबोधाख्ये सोमनाथेन भाषिता ॥८४॥

सोमनाथ ने रागविबोध में मालश्री को श्रीरागमेलजन्य कोमल-गान्धार-निषाद युक्त रागिणी बताया है ।

(९) हमीर राग

कल्याणमेलके जातो हमीरः प्रोच्यते बुधैः ।

गग्रहः पांशकः कंश्चिद्वैवतांशोऽपि कथ्यते ॥८५॥

२३० : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

विद्वानों ने हमीर राग को कल्याणमेलजन्य कहा है, तथा इसमें ग्रह स्वर गान्धार तथा अंश स्वर पञ्चम कहा गया है। कुछ लोग इसे धैवत अंश स्वरयुक्त भी कहते हैं।

यद्यप्यत्र प्रयोगे स्याद्धैवते ह्यवधारणम्।

न तत्स्यात्केवलं तस्य रागे वादित्वकारणम् ॥८६॥

यद्यपि व्यवहार में हमीर में धैवत का ही अवधारण (विशेष प्रयोग) होता है किन्तु केवल यही उस स्वर के वादित्व का कारण नहीं हो सकता।

तथापि देशिरूपेऽस्मिन् शास्त्रसम्मत्यभावतः।

लक्ष्यमार्गमनुलङ्घ्य बुधः कुर्यात्स्वनिर्णयम् ॥८७॥

फिर, इस विषय में शास्त्रग्रन्थों की सम्मति अप्राप्य होने के कारण विद्वानों को इसका निर्णय लक्ष्य-पद्धति की उपेक्षा न करते हुए करना चाहिए।

टीका—हमीर में धैवत इतना प्रबल है कि उसे वादी माना जाय तो आश्चर्य नहीं। वस्तुतः राग-स्वरूप की दृष्टि से यही स्वर वादी हो सकता है, तथा बहुत से लोग उसे ही वादी मानते हैं। परन्तु, शास्त्रदृष्ट्या पूर्वराग में उत्तराङ्ग-स्वर का वादित्व नहीं होना चाहिए। इसीलिए हमीर में वादित्व का प्रश्न विवादास्पद है। धैवत को वादी मानने वाले इसे नियम के अपवाद के रूप में स्वीकार करने का आग्रह करते हैं। 'चतुर पण्डित' भी लक्ष्य-प्रचार के अनुसार हमीर के वादित्व-निर्णय की अनुमति देते हैं।

मद्वन्द्वं सम्मतं चात्र रोहण एव तीव्रम्।

रात्रिगेयं तथा पूर्णं वक्रं रूपं मतं त्विदम् ॥८८॥

इस राग में दोनों मध्यमों का प्रयोग मान्य है। तीव्र मध्यम आरोह में ही लगता है। हमीर को रात्रिगेय वक्र-सम्पूर्ण राग माना गया है।

सङ्गताद् गमघानां स्यादेतद्रूपं परिस्फुटम्।

प्रायोनेनैव कुर्वन्ति श्रोतारो नामनिर्णयम् ॥८९॥

'ग-म-नि-व' इस स्वर-समूह से हमीर राग सुव्यक्त होता है, तथा श्रोता भी प्रायः इसी स्वर-समूह से राग को पहचानते हैं।

द्विमध्यमेषु रागेषु नियमो लक्ष्यविश्रुतः।

प्रारोहे स्यान्निर्दोर्बल्यमवरोहे गवक्रितम् ॥९०॥

दोनों मध्यमयुक्त रागों के विषय में यह नियम प्रसिद्ध ही है कि उनमें आरोह में निषाद दुर्बल होता है, तथा अवरोह में गान्धार वक्र लगता है।

रागाध्याय : २३१

शुद्धकल्याणकेदारविमनो मिश्रिता इह ।

इति सङ्कीर्त्यते कैश्चिद् गानशास्त्रविशारदः ॥९१॥

कुछ सङ्गीतज्ञों ने कहा है कि हमीर में शुद्धकल्याण, केदार तथा यमन का मिश्रण है ।

हृदयकौतुके ग्रन्थे हम्मीरः समुदीरितः ।

केदारमेलसञ्जातः शुद्धस्वरपरिष्कृतः ॥९२॥

हृदयकौतुक में हम्मीर राग को केदारमेलजन्य शुद्धस्वरीय राग वर्णित किया गया है ।

ग्रन्थे रागविबोधालये मञ्जर्यालये तथैव च ।

मृदुधैवतसंयुक्तो रागोऽयं समुदीरितः ॥९३॥

राग-विबोध तथा राग-मञ्जरी में यह राग कोमल धैवत युक्त बताया गया है ।

(१०) केदार राग

कल्याणमेल सञ्जातः केदारो बहुसम्मतः ।

शङ्कराभरणेऽप्येनं केचिदाहुर्विचक्षणाः ॥९४॥

केदार राग को अधिकांशतः कल्याणमेलजन्य माना जाता है । कुछ गुणिजन इसे विलावल मेल का राग भी कहते हैं ।

मद्वन्द्वमिह सन्दिष्टं गीणत्वं तीव्रमे मतम् ।

अंशत्वं शुद्धमेऽभीष्टं मुक्तत्वं चापि तत्स्वरे ॥९५॥

इस राग में दोनों मध्यम लगते हैं । तीव्रमध्यम गीण माना गया है । इसमें शुद्ध मध्यम का वादित्व एवं उसका मुक्त प्रयोग वाञ्छनीय है ।

प्रारोहे स्याद्विगोतत्वमवरोहे गवक्रितम् ।

गानं सुरक्षितं चास्य रात्र्यां प्रथमयामके ॥९६॥

केदार में आरोह में ऋषभ-गान्धार वर्ज्य हैं, तथा अवरोह में गान्धार वक्र है । रात्रि के प्रथम प्रहर में इसका गान रक्षितप्रद लगता है ।

पङ्गुत्वं यदि गान्धारे निषादेऽपि तथैव तत् ।

साधारणो दृश्यतेऽयं नियमो लक्ष्यवर्त्मनि ॥९७॥

प्रचलित सङ्गीत में साधारणः यह नियम परिलक्षित होता है कि जिन रागों में गान्धार 'पङ्गु' (दुर्बल) होता है, वहाँ निषाद भी पङ्गु ही होता है ।

२३२ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

टीका—ग्रन्थकार ने यहाँ 'पङ्गु' शब्द का अत्यन्त ही सार्थक प्रयोग किया है। 'पङ्गु' का सामान्य अर्थ है—लँगड़ा ! लँगड़ाना पैरों की शक्तिहीनता का परिणाम है, अतः 'पङ्गुत्व' दुर्बलता के अर्थ में भी प्रयुक्त हो सकता है। यहाँ यह शब्द इसी अर्थ में है। जिस प्रकार पङ्गु व्यक्ति कमजोर होता है तथा उसे चलने के लिए बैसाखियों का सहारा लेना पड़ता है उसी प्रकार की स्थिति राग में पङ्गुस्वर की होती है। उसे 'वक्र' बनाना मानों उसे चलने के लिए बैसाखी देना है। प्रायः जहाँ ग वक्र हो, वहाँ नि भी वक्र रहता है। केदार में भी ग-नि दुर्बल और वक्र हैं।

प्रयोगे मध्यमो द्वौ तौ सुयुक्तावतिरक्तिदौ।

नंतदन्येषु रागेषु बहुबालक्षितं शृशम् ॥९८॥

दोनों मध्यमों का कौशलपूर्ण प्रयोग इस राग में अत्यन्त रक्तिदायक लगता है। इस प्रकार का प्रयोग अन्य बहुत कम रागों में दिखायी देता है।

टीका—आशय यह है कि जिस ढंग से केदार में दोनों म लगते हैं, उस ढंग से बहुत कम रागों में लगते हैं। प्रायः केदारअङ्गयुक्त कुछ रागों में ही यह प्रयोग मिलता है।

धर्मादत्वं रिधाल्पत्वं सोमनाथादिका विदुः।

यतो लक्ष्यविरोधि स्यात्तत्त्वतः नात्र सत्कृतम् ॥९९॥

सोमनाथ आदि ने केदार को मृदु धैवत तथा अल्प ऋषभ-धैवत युक्त बताया है। केदार का यह स्वरूप आधुनिक पद्धति में प्रचलित स्वरूप से सर्वथा भिन्न होने के कारण आज मान्य नहीं है।

शुद्धस्वरसमुत्पन्नः केदारः समुदीरितः।

रागतरङ्गिणीग्रन्थे लोचनेन विपश्चिता ॥१००॥

पण्डित लोचन ने रागतरङ्गिणी में केदार को शुद्धमेलोत्पन्न राग बताया है।

पूर्वाङ्ग रिगदोर्बल्यं यथोपरि निरूपितम्।

तथैव चोत्तराङ्गे तन्निधयोः स्यात्सुनिश्चितम् ॥१०१॥

जैसा ऊपर बताया जा चुका है, इस राग में पूर्वाङ्ग में ऋषभ-गान्धार दुर्बल हैं। ठीक इसी प्रकार उत्तराङ्ग में धैवत-निषाद भी दुर्बल ही हैं।

(११) कामोद राग

कल्याणमेलसम्भूतः कामोदो विबुधप्रियः।

द्विमध्यमप्रयोगेण भवेत्लक्ष्ये द्विमेलजः ॥१०२॥

रागाध्याय : २३३

सङ्गीतज्ञों का प्रिय राग कामोद कल्याण मेल से उत्पन्न है। दोनों मध्यम प्रयुक्त होने के कारण इसे युगलमेलजन्य माना जाता है।

पञ्चमोऽत्र भवेद्वादी रिस्वरोऽमात्यतुल्यकः।

रात्र्यां प्रथमके यामे गानमस्य भवेत्प्रियम् ॥१०३॥

इसका वादी स्वर पञ्चम है तथा संवादी ऋषभ है। गान-समय रात्रि का प्रथम प्रहर है।

द्विमध्यमयुता रागा मता कैश्चिद्विमेलजाः।

यतः कल्याणभेदास्ते मेलोऽत्र समुदीरिताः ॥१०४॥

कुछ लोगों ने दोनों मध्यमयुक्त रागों को दो मेलों के मिश्रण से उत्पन्न माना है। किन्तु कल्याण के भेद होने के कारण ऐसे रागों को यहाँ कल्याणमेल में वर्णित किया गया है।

टीका—दोनों मध्यम वाले रागों के लिए तो, स्वरों की दृष्टि से, पण्डित वेंकटमखी के ७२ मेलों में से भी कोई मेल नहीं मिलता ! इसी लिए, ऐसे रागों का मेल-निर्णय कुछ कठिन होता है, तथा उस पर मत-वैमिश्र्य स्वाभाविक ही है। कुछ लोग कामोद, केदार जैसे रागों को कल्याण मेल में बताते हैं, तो कुछ विलावल मेल में, तो कुछ अन्य कहते हैं कि कल्याण और विलावल दोनों के मिश्रण से बने मेल में ये राग रखे जाने चाहिए। दशमेल-राग-व्यवस्था में राग-मेल का निर्णय कई दृष्टियों से किया जाता है। जो युगलमध्यमयुक्त राग कल्याण अङ्ग के हैं, या कल्याण मेल के रागों के निकट हैं, उन्हें कल्याण मेल में रखा गया है।

यहाँ एक बात विचारणीय है। न केवल दोनों मध्यम वाले राग ही; अपितु जिन भी रागों में एक स्वर के शुद्ध-विकृत दोनों स्वरों का प्रयोग है; उन्हें १० मेलों की सीमा में रख पाना समस्या ही है। इसी लिए, केवल स्वरों को न देख कर अन्य कई दृष्टियों से विचार करके ही राग के लिए उच्युक्त मेल का चयन अपेक्षित है।

प्रयोगस्तीव्रमस्येह भवेदल्पोऽनुलोमके।

रिपयोः सङ्गतिश्चित्रा गवक्रत्वं विलोमके ॥१०५॥

कामोद में आरोह में तीव्र मध्यम का अल्प प्रयाण किया जाता है। इस राग में 'रे-प' सङ्गति वैचित्र्यपूर्ण लगती है। अवरोह में गान्धार वक्र होता है।

२३४ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

प्रारोहे सम्मतावत्र निगौ स्वरो सुदुर्बलौ ।

असत्प्रायो निषादश्चेदारोहे चावरोहणे ॥१०६॥

इस राग में गान्धार-निषाद आरोह में अत्यन्त ही दुर्बल माने गये हैं । निषाद तो आरोहावरोह दोनों में असत्प्राय (नहीं के समान, अत्यल्प) लगता है ।

गोडहृस्मीरसंयोगाद्रूपमेतत्समुत्थितम् ।

लक्ष्यज्ञानां मतं त्वेतन्न मे भाति विसङ्गतम् ॥१०७॥

मुझे लक्ष्यज्ञ विद्वानों का यह मत अनुचित प्रतीत नहीं होता कि कामोद का स्वरूप गोड और हृमीर के मिश्रण से उत्पन्न हुआ है ।

ग्रन्थे रागविबोधाख्ये सोमनाथेन धीमता ।

काम्बोदी रागिणी प्रोक्ता शुद्धस्वरपरिष्कृता ॥१०८॥

रागविबोध नामक ग्रन्थ में पण्डित सोमनाथ ने काम्बोदी रागिणी को शुद्ध स्वरों से युक्त बताया है ।

रागतरङ्गिणी ग्रन्थे तथैव हृदयकौतुके ।

कामोदः कीर्तितो मेले कर्णाटस्य निकोमलः ॥१०९॥

रागतरङ्गिणी तथा हृदयकौतुक में कामोद को कर्णाटमेलान्तर्गत कोमल निषादयुक्त राग वर्णित किया गया है ।

(१२) छायाण्ट राग

कल्याणीमेलोत्पन्नश्छायाणाटः प्रकीर्तितः ।

रिपसंवादसम्पन्नो गेयो रात्र्याद्ययामके ॥११०॥

छायाण्ट राग को कल्याणमेलजन्य कहा गया है । ऋषभ-पञ्चम संवाद से युक्त, अर्थात् ऋषभ वादी और पञ्चम संवादी से युक्त यह राग रात्रि के प्रथम प्रहर में गेय है ।

अत्र सुसङ्गतिः प्रोक्ता पर्योः सर्वत्र सम्मता ।

पञ्चमादृषभे पातो न्यूनं स्याद्दृढयङ्गमः ॥१११॥

इस राग में 'प-रे' की सङ्गति सर्वमान्य है । पञ्चम से ऋषभ पर पात वास्तव में बड़ा ही मधुर लगता है ।

प्रारोहे तीव्रमस्यात्र प्रयोगो दृश्यते क्वचित् ।

अवरोहे गवक्रत्वं सनियमं भवेत्पुनः ॥११२॥

रागाध्याय : २३५

इस राग में आरोह में कभी-कभी तीव्र मध्यम का प्रयोग दिखायी देता है। साथ ही, द्विमध्यमयुक्त रात्रिगेय रागों के सामान्य नियमानुसार, इस राग के भी अवरोह में गान्धार वक्र है।

रागेऽस्मिन् गायकः कंश्चिद्वैवतो ग्रह ईर्यते ।

षड्जस्वरगतो न्यासो मते तेषां सुरक्तिदः ॥११३॥

कुछ गायक छायाण्ट में वैवत को ग्रह स्वर मानते हैं तथा उनके मतानुसार षड्ज स्वर पर न्यास इस राग में अत्यन्त मधुर लगता है।

अहोबलेन विदुषा छायाणाटः प्रकीर्तितः ।

शुद्धस्वरसमुत्पन्नो द्विमध्यमसमन्वितः ॥११४॥

पण्डित अहोबल ने छायाण्ट को शुद्ध स्वरमेलजन्य दो मध्यमों से युक्त राग बताया है।

कल्याणगौडहम्मीरनटाल्हैया यथायथम् ।

मिलन्ति छायाणाटेऽस्मिन्निति शंसन्ति केचन ॥११५॥

कुछ विद्वान् कहते हैं कि छायाण्ट में कल्याण, गौड़, हम्मीर, नट तथा अल्हैया रागाङ्ग यथाप्रमाण मिश्रित होते हैं।

द्विमध्यमेषु रागेषु द्वितीयेऽवयवे सदा ।

अन्तरानामके प्रायः किञ्चित्सादृश्यमीक्षितम् ॥११६॥

अतस्तद्धारणार्थं ते गानशास्त्रविशारदाः ।

रागगतविशिष्टाङ्गं दर्शयन्ति मुहुर्मुहुः ॥११७॥

दोनों मध्यम वाले रागों में अन्तरा नामक द्वितीय भागों में प्रायः कुछ समानता दिखायी देती है। अतः उसके निवारण के लिए सङ्गीतज्ञ राग के विशिष्ट अङ्ग को बारम्बार प्रदर्शित करते हैं।

टीका—उदाहरण से यह अंश स्पष्ट हो सकेगा। 'प प सां ऽ सां रें सां ऽ' इस प्रकार से अन्तरे का चलन केदार, कामोद, छायाण्ट और अन्य भी कुछ दोनों मध्यमयुक्त रागों में शुरू होता है। इस समानता को दूर करने के लिए राग के विशिष्ट अङ्गों को इस अंश के पश्चात् लेना आवश्यक हो जाता है, ताकि राग-स्वरूप स्पष्ट हो। केदार में 'प प सां ऽ सां रें सां ऽ' के बाद 'सां रें सां ऽ घ प मं प म ऽ' लेकर, कामोद में 'प प सां ऽ सां रें सां ऽ गं मं पं गं मं रें सां ऽ' लेकर, और छायाण्ट में 'प प सां ऽ सां रें सां ऽ रें गं मं पं गं मं रें सां' लेकर राग-स्वरूप को व्यक्त किया जाता है।

२३६ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

ध्यातव्य है कि द्विमध्यमयुक्त राग पूर्वरात्रिगेय होने के कारण पूर्वाङ्ग में सुव्यक्त होते हैं। उत्तराङ्ग में उनके अन्तरों में समानता होने का यह कारण भी सम्भव प्रतीत होता है कि वहाँ उत्तराङ्ग अपेक्षाकृत न्यून महत्व रखता है।

(१३) श्यामकल्याण राग

कल्याणीमेलसञ्जातः श्यामरागः समीरितः ।

कल्याणस्यैव भेदोऽयमिति सर्वत्र सम्मतम् ॥११८॥

श्याम राग (श्यामकल्याण) को कल्याण मेल से उत्पन्न बताया गया है। इसे सभी लोग कल्याण का ही भेद मानते हैं।

मद्वन्द्वं धैवतोन्तत्वं प्रारोहे च विदां मतम् ।

वावित्वं निश्चितं षड्जे संवावित्वं तु मे स्वरे ॥११९॥

विद्वानों के मतानुसार इसमें दोनों मध्यम लगते हैं, तथा अवरोह में वैवत वर्ज्य है। इसमें वादी स्वर षड्ज है, तथा सम्वादी मध्यम।

वर्णयन्ति पुनः केचिदेनं रिषभवादिनम् ।

न तद्विसङ्गतं मन्ये लक्ष्यमार्गानुसारतः ॥१२०॥

कुछ लोग इसे ऋषभवादी बताते हैं। लक्ष्य पद्धति के अनुसार यह मत मुझे अनुचित नहीं लगता।

मुखचालेऽस्य रागस्य कामोदाङ्गं भवेत्स्फुटम् ।

तद्रागस्थनिगाल्पत्वं नेहेति भित्तिरिस्फुटा ॥१२१॥

इस राग के चलन में कामोद अङ्ग दिखायी देता है किन्तु कामोद की भाँति णाघार-निषाद का अल्पत्व इसमें न होने के कारण भेद स्पष्ट हो जाता है।

सङ्गती रिमयो रम्या रागेऽत्र गुणिसम्मता ।

कामोदे जीवभूताऽसी सङ्गती रिपयोः पुनः ॥१२२॥

श्यामकल्याण में 'रे-म' सङ्गति को गुणिजनों ने अङ्गभूत माना है, जबकि कामोद में 'रे-प' सङ्गति रागवाचक होती है।

सङ्गत्या रिमयोर्नूनं छाया मल्लारिकोद्भवेत् ।

प्रस्फुटेन निषादेन गायकास्तां निवारयेत् ॥१२३॥

ऋषभ-मध्यम की सङ्गति से मल्लार की छाया उत्पन्न होती है। गायकों को उसका निवारण स्पष्ट रूप से निषाद लगाकर करना चाहिए।

रागाध्याय : २३७

हम्मीरगौडकेदारा मिलन्त्यस्मिन्स्वरूपके ।

सङ्गिरन्ति पुनः केचित् लक्ष्यलक्षणवेदिनः ॥१२४॥

पुनः, कुछ लक्ष्य-सङ्गीतवेत्ताओं का कथन है कि श्यामकल्याण में हम्मीर, गौड़ तथा केदार अङ्गों का मिश्रण है ।

रागतरङ्गिणीग्रन्थे श्यामः केदारमेलजः ।

शुद्धस्वरसमुद्भूतो लोचनेन प्रकीर्तितः ॥१२५॥

लोचन पण्डित ने रागतरङ्गिणी में श्याम राग को केदारमेलजन्य शुद्ध स्वरयुक्त राग वर्णित किया है ।

(१४) गौड़सारङ्ग राग

कल्याणीमेलके ज्ञेयो गौड़सारङ्गनामकः ।

अतिवक्रस्वरूपोऽथ द्वाभ्यां माभ्यां सुसूचितः ॥१२६॥

गौड़सारङ्ग राग कल्याणमेलजन्य है । अत्यन्त ही वक्र स्वरूप वाला यह राग दोनों मध्यमों से युक्त है ।

मध्याह्नाह्नौ मतो न्यल्पो गवक्रोऽप्यवरोहणे ।

गान्धारस्यैव वादित्वं लक्ष्ये स्यात्सम्मतं सताम् ॥१२७॥

यह राग मध्याह्नगेय माना जाता है । इसमें निषाद अल्प है । अवरोह में गान्धार वक्र है । लक्ष्य पद्धति में विद्वान् इसे गान्धारवादी राग मानते हैं ।

तीव्रस्य मध्यमस्यात्र गौणत्वं लक्ष्यते स्फुटम् ।

अतो विलावलीमेले रागोऽयं कीर्तितः क्वचित् ॥१२८॥

तीव्र मध्यम इसमें स्पष्टतः गौण दिखता है । इसी लिए, कहीं-कहीं इसे विलावलमेल में भी माना जाता है ।

नटकेदारपूर्वीणां योगावयं समुद्भवेत् ।

इति सुनिश्चितं कैश्चिद् गानशास्त्रविशारदैः ॥१२९॥

कतिपय सङ्गीतज्ञों ने निर्णय किया है कि गौड़सारङ्ग राग नट, केदार तथा पूर्वी के योग से उत्पन्न होता है ।

ग्रन्थेषु केषुचित्तत्र वीरशान्तिरसाश्रितः ।

सम्पूर्णो वर्ण्यते गांशो गेयो मध्याह्नतः परम् ॥१३०॥

कुछ सङ्गीत ग्रन्थों में गौड़सारङ्ग को वीर तथा शान्त रस के लिए उपयुक्त, सम्पूर्णस्वरीय, गान्धारवादी युक्त एवं मध्याह्नोत्तर समयानुकूल राग निरूपित किया गया है ।

२३८ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

रागतरङ्गिणीग्रन्थे गौडसारङ्ग ईरितः ।

निद्वयो धैवतत्यक्तो मेघसंस्थानकोत्थितः ॥१३१॥

रागतरङ्गिणी में गौडसारङ्ग को मेघसंस्थानजन्य दो निषादयुक्त तथा धैवतरहित राग बताया है ।

—०❀०—

बिलावलमेलजन्य राग

(१) वेलावली (बिलावल) राग

शङ्कराभरणे मेले वेलावलीतिनामकः ।

धैवतांशो मतो लक्ष्ये प्रातःकालोचितस्तथा ॥१॥

शङ्कराभरण मेल से बिलावल नामक लक्ष्यप्रसिद्ध राग उत्पन्न होता है, जिसमें अंश स्वर धैवत है, तथा जो प्रातर्गोय राग है ।

प्रातःकालीयकल्याणमेनं शंसन्ति केचन ।

अवरोहे गवक्रत्वं कल्याणाङ्गं निवारयेत् ॥२॥

कुछ विद्वान् इस राग को प्रातःकाल का कल्याण राग कहते हैं । इसके अवरोह में गान्धार के वक्रत्व से कल्याण अङ्ग का तिरोभाव हो जाता है ।

टीका—रात्रि के प्रथमप्रहर का राग कल्याण तथा दिन के प्रथमप्रहर का राग बिलावल परस्पर 'जवावी' या 'प्रतिभूर्ति' राग कहे गये हैं ।

यदायं मध्यमत्यक्तो निवक्रोऽप्यधिरोहणे ।

वेलावलस्तदालहैयापूर्वकः सम्भवेद्भृशम् ॥३॥

जब बिलावल में आरोह में मध्यम वर्ज्य कर दिया जाता है, तथा निषाद भी वक्र लिया जाता है, तब अल्हैया बिलावल नामक राग बन जाता है ।

शुद्धवेलावलीरागे मृदुनिस्वरयोजनात् ।

अल्हैया सम्भवेत्लक्ष्य इति सङ्गीतविन्मतम् ॥४॥

सङ्गीतज्ञों के मतानुसार, शुद्ध बिलावल में कोमल निषाद के प्रयोग से लक्ष्यप्रचलित अल्हैया का स्वरूप बन जाता है ।

धमयोः सङ्गतिश्चात्र भवेद्वैचित्र्यकारिणी ।

व्यवहारेत्त्वल्हैयं गीयते ह्यधिकांशतः ॥५॥

इस राग में धैवत और मध्यम की सङ्गति अत्यन्त वैचित्र्योत्पादक होती है। व्यवहार में अधिकांशतः अल्हैया ही प्रचलित है।

टीका—यहाँ शुद्धविलावल तथा अल्हैयाविलावल का भेद बताया गया है। शुद्धविलावल सम्पूर्ण, सरल अवक्र स्वरूप का राग है। अल्हैयाविलावल में आरोह में मध्यम प्रायः त्यक्त तथा निषाद वक्र होता है, तथा अवरोह में कोमल निषाद का भी मनाक् प्रयोग होता है। अल्हैया का आरोही चलन 'सा रे ग प ध नि घ सां' तथा अवरोही चलन 'सां, घ नि घ प...' होता है। वर्तमान सङ्गीत में शुद्धविलावल प्रचलित नहीं है। प्रायः अल्हैया विलावल ही प्रचार में है।

उत्तराङ्गप्रधानत्वाद् वैचित्र्यमुत्तराङ्गके।

प्रायेणोत्तररागास्ते प्रभवन्त्यवरोहणे ॥६॥

उत्तराङ्गप्रधान रागों के उत्तराङ्ग अतीव वैचित्र्यपूर्ण होते हैं, तथा उनका यह वैचित्र्य प्रायः अवरोह में प्रकट होता है।

ग्रन्थे रागविबोधाख्ये तथैव पारिजातके।

रागोऽयं वर्णितो मेले शाङ्कराभरणाह्नये ॥७॥

रागविबोध तथा सङ्गीतपारिजात में इस राग को शंकराभरणमेलजन्य वर्णित किया गया है।

प्रकारा बहवः प्रोक्ता वेलावलस्य गायकैः।

प्रसिद्धा लक्ष्यमार्गे ये सङ्गृहीता मयाऽत्र ते ॥८॥

गायक जन विलावल के अनेक प्रकार बताते हैं। उनमें से जो प्रकार लक्ष्य में प्रचलित हैं, उन्हें मैंने यहाँ संकलित किया है।

(२) शुक्ल विलावल राग

शुद्धस्वरसमुद्भूता शुक्लवेलावली स्मृता।

वेलावल्याः प्रभेदोऽयं प्रातःकालोचितो मतः ॥९॥

शुद्ध स्वरों से युक्त शुक्लविलावल एक प्रातर्गम्य विलावल-प्रकार है।

शुद्धमोऽत्र भवेद्वादी संवादी षड्जसंज्ञितः।

प्रारोहे स्याद्विदोर्बल्यं न्यासो मध्यम एव च ॥१०॥

इसका वादीस्वर शुद्ध मध्यम तथा संवादी षड्ज है। आरोह में ऋषभ दुर्बल रहता है। न्यास मध्यम स्वर पर किया जाता है।

२४० : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

रिपयोः सङ्गतिश्चात्र प्रोक्ता रागाङ्गवाचिका ।

निगयोर्धमयोश्चापि सङ्गती रक्तिदायिके ॥११॥

ऋषभ और पञ्चम की सङ्गति इसमें रागवाचक कही गयी है । 'नि ग' और 'घ म' सङ्गतियाँ भी अत्यन्त रक्तिदायक होती हैं ।

उत्तराङ्गप्रधानत्वाद्वैचित्र्यं प्रतिलोमके ।

मुक्तत्वं शुद्धमस्यैव रागरूपं प्रदर्शयेत् ॥१२॥

उत्तराङ्गप्रधानता के कारण इस राग का वैचित्र्य अवरोह में व्यक्त होता है । मध्यम का मुक्तत्व रागरूप प्रदर्शित करता है ।

कोमलस्य निषादस्य स्पर्शो वैवृतसंयुतः ।

प्रतिलोमगतो नैव गर्हणीयः सतां मते ॥१३॥

विद्वानों के अनुसार, इसके अवरोह में वैवृत को लेते हुए कोमल निषाद का स्पर्श-प्रयोग अनुचित या आपत्तिजनक नहीं है ।

बिलावल्यथ केदारो मिलतोऽत्र यथायथम् ।

इति सङ्गीतविज्ञानां मतं सर्वत्र सम्मतम् ॥१४॥

सङ्गीतज्ञों का यह मत सर्वमान्य है कि इस राग में बिलावल एवं केदार का यथाप्रमाण मिश्रण होता है ।

(३) देवगिरी राग

बिलावलीमुमेलाच्च जाता देवगिरी ततः ।

बिलावलप्रकारोऽयं कल्याणाङ्गेन मण्डितः ॥१५॥

बिलावल मेल से उत्पन्न देवगिरी एक बिलावल प्रकार है, जो कल्याण अङ्ग से युक्त है ।

षड्जस्तत्र मतो वादी कैचिद्वैवृत ईरितः ।

प्रतिलोमे ध्रुवो स्यातां दुर्बलो लक्ष्यविन्मते ॥१६॥

इसका वादी स्वर षड्ज है । कुछ लोग वैवृत को वादी मानते हैं । लक्ष्यज्ञ इस राग के अवरोह में वैवृत और गान्धार की दुर्बलता (या, अल्पत्व) मानते हैं ।

बिलावलीप्रभेदेषु नियमोऽतिमनोहरः ।

अवरोहक्रमेणैव रागाङ्गं प्रकटीभवेत् ॥१७॥

विलावल प्रकारों में यह अत्यन्त सुन्दर नियम है कि उनका विशिष्ट रागाङ्ग अथवा राग-स्वरूप अवरोही क्रम के स्वरों में प्रकट होता है।

प्रारोहे रात्रिगेयास्ते यथा रागाः परिस्फुटाः ।

सुव्यक्तास्ते विलोमे स्युर्दिनगेयाः सतां मते ॥१८॥

जिस प्रकार, रात्रिगेय राग आरोह में पष्ट होते हैं; उसी प्रकार, दिवसगेय राग, विद्वानों के अनुसार, अवरोह में सुस्पष्ट होते हैं।

देवगिरी मता पूर्णा प्रातर्गेयापि लक्ष्यके ।

मन्द्रमध्यमस्वरंगीता नूनं स्याद्भूरिरक्तिदा ॥१९॥

प्रचलित देवगिरी प्रातःकालीन सम्पूर्ण राग है, तथा मन्द्र और मध्य स्वरों में वह वास्तव में अत्यन्त मधुर प्रतीत होता है।

तीव्रमो नातिदीर्घोऽत्र दृश्यते कुत्रचिन्मतः ।

मते मे तत्प्रयोगेण यमनीरागसम्भवः ॥२०॥

प्रचार में इस राग में तीव्रमध्यम दीर्घरूप में प्रयुक्त कहीं दिखायी नहीं देता। मेरे विचार से, तीव्रमध्यम के प्रयोग से यमनी-विलावल राग हो जाता है।

टीका—कल्याण अङ्गयुक्त होने के कारण इस राग में तीव्र मध्यम का अल्प प्रयोग कुछ लोग मान्य करते हैं, किन्तु वह भी बहुत ही कम प्रमाण में होता है। 'चतुरपण्डित' देवगिरी में तीव्रमध्यम का प्रयोग मान्य नहीं करते, क्योंकि उनके मतानुसार, तीव्रमध्यम युक्त विलावल यमनीविलावल हो जाता है। प्रचार में भी देवगिरी तीव्रमध्यमविहीन ही दिखायी देता है। वैसे भी, बिना तीव्र म के भी कल्याण अङ्ग प्रदर्शित किया जा सकता है।

अवरोहगतो धेन सह कोमलनेर्लवः ।

विलावलस्वरूपेऽत्र भवेद्रक्तिप्रदायकः ॥२१॥

इस विलावल-प्रकार में, अवरोह में धैवत के साथ कोमल निपाद का किञ्चित् प्रयोग अत्यन्त रक्तिदायक लगता है।

पूर्वाङ्गस्य प्रधानत्वात्पूर्वरागविचित्रता ।

तथैवोत्तररागेषु वैचित्र्यमुत्तराङ्गके ॥२२॥

जिस प्रकार पूर्वाङ्गप्रधानता पूर्व रागों में वैचित्र्य निर्माण करती है, उसी प्रकार उत्तर रागों में उत्तराङ्ग वैचित्र्योत्पादक होते हैं।

काम्बोदीमेलजा प्रोक्ता देवकीरपराल्लगा ।

विदुषा सोमनाथेन सांशन्यासग्रहा ह्यपि ॥२३॥

२४२ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

विद्वान् सोमनाथ ने देवक्री नामक काम्बोदीमेलोत्पन्न अपराङ्मयेय राग वर्णित किया है, जिसमें षड्ज स्वर ग्रह, अंश, और न्यास है, तथा पञ्चम वर्ज्य है ।

अवरोहे धगत्यक्ता मतीव्रतरसंयुता ।
वर्णिता पारिजाताख्ये ग्रन्थेऽहोबलसूरिणा ॥२४॥

विद्वान् अहोबल ने सङ्गीपारिजात में इसे अवरोह में धैवत-गान्धार रहित; एवं तीव्रतर मध्यमयुक्त वर्णित किया है ।

वेलावली तथाल्हैया बिहागाख्यो गुणिप्रियः ।
मिलन्त्यत्र यथायोग्यमित्याहुर्लक्ष्यवेदिनः ॥२५॥

लक्ष्यज्ञ विद्वानों के अनुसार, इस राग में यथायोग्य प्रमाण में बिलावल अल्हैया तथा बिहाग का मिश्रण है ।

(४) यमनी या यमनीबिलावल राग

शुद्धमेलसमुद्भूता यमनी लक्ष्यविश्रुता ।
वेलावलीप्रकारोऽयं यमनाङ्गपरिष्कृतः ॥२६॥

सुप्रसिद्ध राग यमनी शुद्धमेल से उत्पन्न, यमन अङ्गयुक्त बिलावल-प्रकार है ।

इमनी गीयते नित्यं प्रातः पूर्णा द्विमान्विता ।
मिथः संवादिनावत्र सपाविति सुसम्मतम् ॥२७॥

दोनों मध्यमों से युक्त, सम्पूर्ण राग यमनी या इमनी प्रातर्गेय है । इसमें षड्ज तथा पञ्चम का संवाद माना जाता है (अर्थात्, इसका वादी स्वर षड्ज एवं संवादी पञ्चम है) ।

प्रारोहे तीव्रमेणात्र यमनाङ्गं समुद्भवेत् ।
शुद्धमस्य प्रयोगेण बुधस्तत्परिभार्जयेत् ॥२८॥

इसमें आरोह में तीव्र मध्यम के प्रयोग से यमन अङ्ग प्रदर्शित होता है, जिसका निवारण शुद्ध मध्यम के प्रयोग के द्वारा किया जाता है ।

पमपगमरिसैः स्थाव्रागाङ्गं सुपरिस्फुटम् ।
शेषं वेलावलस्यैव सर्वमत्र सुनिश्चितम् ॥२९॥

‘प, म प, ग म रे सा’ स्वरों से यमनी का रागाङ्ग स्पष्ट होता है । शेष चलन बिलावल का ही होता है ।

(५) सर्पदा राग

शुद्धमेलसमुत्पन्ना सर्पदा लोकविश्रुता ।
 पारसीकेयरागोऽयं वेलावलज्जमण्डितः ॥३०॥

सुप्रसिद्ध राग सर्पदा शुद्धमेल (विलावल मेल) से उत्पन्न है । फारसी माना जाने वाला यह राग विलावल अङ्ग से युक्त है ।

पञ्चमः सम्मतो वादी संवादी षड्ज ईरितः ।
 गानमस्याः समीचीनं प्रथमप्रहरे दिने ॥३१॥

इसका वादी स्वर पञ्चम तथा संवादी षड्ज है । गान-समय दिन का प्रथम प्रहर उचित है ।

धगसंवादसम्पन्नां केचिदेनां वदन्ति हि ।
 लक्ष्यमार्गमनुलङ्घ्य बुधः कुर्यात् स्वनिर्णयम् ॥३२॥

कुछ लोग इसे धैवत-गान्धार संवाद से युक्त मानते हैं (अर्थात्, इसमें वादी-संवादी क्रमशः ध-ग मानते हैं) । इस सम्बन्ध में विद्वज्जनों को लक्ष्य-प्रचार के अनुकूल ही निर्णय करना चाहिए ।

वेलावलप्रकारेषु सर्वेष्वपि समन्ततः ।
 धवादित्वं समादिष्टं कैश्चित् लक्ष्यविशारदैः ॥३३॥

कुछ लक्ष्यज्ञ विद्वानों ने समस्त विलावल-प्रकारों में धैवत स्वर का वादित्व प्रतिपादित किया है ।

यद्यप्यत्र बिहागस्य क्वचिद्रूपं समुद्भवेत् ।
 वेलावत्यवरोहेण भवेद् भ्रान्तिनिवारणम् ॥३४॥

यद्यपि इसमें बिहाग का कुछ स्वरूप उभरता है, किन्तु अवरोह में विलावल अङ्ग लिया जाने के कारण, इस भ्रान्ति का (अर्थात्, बिहाग अङ्ग का) निराकरण हो जाता है ।

अल्हैयेमनगौडाख्या मिलन्त्यत्र यथायथम् ।
 इति समर्थितं कैश्चित् लक्ष्यलक्षणकोविदैः ॥३५॥

कुछ सङ्गीतज्ञ ऐसा मानते हैं कि इस राग में अल्हैया, यमन तथा गौड़ इन रागों का यथाप्रमाण सम्मिश्रण होता है ।

वेलावत्यथ झिञ्झूटी यदा स्यातां सुसंयुतौ ।
 तदा सर्पदिकोत्पत्तिर्भवेद्वदन्ति के परे ॥३६॥

२४४ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

कतिपय अन्य विद्वानों के अनुसार, सर्पदा राग की उत्पत्ति बिलावल तथा झिञ्झूटी के मिश्रण से होती है।

टीका—सर्पदा एक विवादास्पद बिलावल-प्रकार है। इसके घटकों के विषय में अनेक मान्यताएँ हैं। कोई इसमें विहाग और बिलावल का मिश्रण मानते हैं; तो कोई अलहैया, यमन और गौड़ का; तो कोई बिलावल और झिञ्झूटी का मिश्रण बताते हैं। इसी लिए, सर्पदा के अलग-अलग स्वरूप प्रचार में दिखायी देते हैं।

रागे कर्णाटगौडाख्ये वेलावलीसुमिश्रणात्।

सर्पदायाः समुत्पत्तिः सोमनाथेन भाषिता ॥३७॥

पण्डित सोमनाथ ने कहा है कि कर्णाटगौड़ राग में बिलावल के सम्मिश्रण से सर्पदा की उत्पत्ति होती है।

(६) ककुभा (ककुभ बिलावल)

स्याच्छुद्धस्वरसम्भेलाद्वागः ककुभनामकः।

वेलावलप्रभेदोऽयं प्रातर्गोयो मतो बुधः ॥३८॥

शुद्धमेल से उत्पन्न ककुभ नामक बिलावल-प्रकार को गुणीजनों ने प्रातःकालीन राग माना है।

मध्यमः सम्मतो वादी षड्जः स्यान्मन्त्रितुल्यकः।

वेलावलयवरोहेण सम्पूर्णा रक्तित्वो भवेत् ॥३९॥

इस राग का वादी स्वर मध्यम तथा संवादी षड्ज है। इस सम्पूर्ण राग के अवरोह में बिलावल अङ्ग अत्यन्त मधुर लगता है।

वेलावल्यां प्रसिद्धो यः प्रयोगो निद्वयस्य हि।

रागेऽत्रानुमतस्तज्ज्ञैर्यथायोग्यप्रमाणतः ॥४०॥

अन्य समस्त बिलावल-भेदों की भाँति ही ककुभ में भी यथायोग्य प्रमाण में दोनों निषादों का प्रयोग विद्वानों ने मान्य किया है।

केदारपूरवीवेलावलीभिः ककुभा मता।

इति तरङ्गिणीग्रन्थे लोचनेन प्रकीर्तितम् ॥४१॥

लोचन ने रागतरङ्गिणी में कहा है कि केदार, पूर्वी और बिलावल से ककुभ का स्वरूप निर्मित होता है।

रागाध्याय : २४५

पग्रहो धविहीनोऽपि प्रारोहे तीव्रगोज्जितः ।

विदुषाहोबलेनाथ वर्णितः पारिजातके ॥४२॥

विद्वान् अहोबल ने सङ्गीतपारिजात में इसे पञ्चम ग्रहयुक्त, धैवत रहित, तथा आरोह में तीव्र गान्धार रहित राग वर्णित किया है ।

सङ्गतिः सपयोः प्रोक्ता कैश्चित्सा समयोरपि ।

अल्हैयाक्षिञ्झूटीयोगात्साधितोऽयं मतः क्वचित् ॥४३॥

इस राग में 'सा प' की, और कुछ लोगों के अनुसार 'सा-म' की, सङ्गति विशिष्ट तथा रागवाचक होती है । यह राग अल्हैया और क्षिञ्झूटी के योग से निर्मित होता है, ऐसी कुछ विद्वानों की मान्यता है ।

जयावन्ती तथा वेलावल्यल्हैया तथैव च ।

मिलन्त्यत्र यथाग्यायम् केचित्परे वदन्ति ते ॥४४॥

कुछ अन्य विद्वानों के अनुसार, इस राग में जयजयवन्ती, अल्हैया तथा विलावल का यथाप्रमाण योग होता है ।*

(७) लच्छाशाख राग

वेलावलीसुमेले स्याल्लच्छाशाखो मतो बुधैः ।

वेलावलाङ्गभूतत्वात्प्रातर्ययः समीरितः ॥४५॥

विलावलमेलजन्य लच्छाशाख को, विलावल अङ्गयुक्त होने के कारण, विद्वानों ने प्रातःकालीन राग माना है ।

सङ्गतिर्धमयोः प्रोक्ता कुत्रचित्सपयोरपि ।

रागोऽयं नित्यसम्पूर्णो निषादद्वयमण्डितः ॥४६॥

इस राग में 'ध-म' की तथा 'सा-प' की भी सङ्गति है । यह सम्पूर्ण राग दोनों निषादों से युक्त है ।

धैवतः कीर्तितो वादी गान्धारोऽमात्यसन्निभः ।

अवरोहेण वर्णेन वेलावल्यङ्गमादिशेत् ॥४७॥

* यहाँ 'मिलन्ति' बहुवचनात्मक घातुरूप है, अतः विलावल और अल्हैया दोनों अलग-अलग मानना उचित है, ताकि जयजयवन्ती और ये दोनों शब्द मिल कर बहुवचनात्मक कर्ता हो सकें ।

२४६ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

इस राग का वादी स्वर धैवत है और संवादी गान्धार । विलावल अङ्ग इसमें अवरोहात्मक रूप से होता है ।

प्रच्छन्नं लक्ष्यतेऽत्रापि क्षिञ्चूद्यङ्गं स्वचित्स्वचित् ।

गान्धारस्य प्रयोगे स्याद् गौडसारङ्गशङ्कनम् ॥४८॥

लच्छाशाख में कभी-कभी कहीं-कहीं प्रच्छन्न रूप क्षिञ्चूटी अङ्ग भी दिखता है । इसमें गान्धार के प्रयोग में गौडसारङ्ग का आभास होता है ।

क्षिञ्चूद्यामथवा गौडसारङ्गे नैव लक्ष्यते ।

वेलावलाङ्गप्राधान्यमत्र तत्स्यादवश्यकम् ॥४९॥

किन्तु, क्षिञ्चूटी अथवा गौडसारङ्ग में विलावल अङ्ग का प्राधान्य कदापि नहीं दिखायी देता, जो लच्छाशाख में आवश्यकतः विद्यमान है ।

वेलावलप्रकारास्ते नित्यं स्युर्भ्रान्तिकारकाः ।

केवलं लक्ष्यमादृत्य बुधः कुर्यात्स्वनिर्णयम् ॥५०॥

विलावल-प्रकार सदैव ही भ्रान्तिकारक अथवा विवादमूलक रहे हैं । अतएव, धीमान् को लक्ष्य-पद्धति का आदर करते हुए ही किसी राग के स्वरूप-विषयक अपनी मत-स्थापना करनी चाहिए ।

वेलावली ककुभाख्यो देशाख्यो लोकविश्रुतः ।

मते केषाञ्चिदप्यत्र सम्मिलन्ति यथायथम् ॥५१॥

कुछ विद्वानों का मत है कि लच्छाशाख में विलावल, ककुभ और देस नामक प्रसिद्ध रागों का यथायथ प्रमाण में सम्मिश्रण होता है ।

(८) नटविलावल राग

शङ्कराभरणान्मेलान्जातो रागः सुनामकः ।

नटवेलावलीत्युक्तः सम्पूर्णो लक्ष्यविन्मते ॥५२॥

लक्ष्यज्ञों के मतानुसार नटविलावल नामक सम्पूर्ण राग शङ्कराभरण मेल से उत्पन्न हुआ है ।

मध्यमः सम्मतो वादी संवादी षड्ज ईरितः ।

गानं तस्य समीचीनं प्रथमे यामके दिने ॥५३॥

इस राग में वादी स्वर मध्यम और संवादी स्वर षड्ज है । गान-समय दिवस का प्रथम प्रहर है ।

पूर्वाङ्गे नटयोगोऽत्र वेलावल्युत्तराङ्गके ।

मध्यमेन प्रयुक्तेन नित्यं स्याद् हृदयङ्गमः ॥५४॥

नटविलावल में पूर्वाङ्ग में नट तथा उत्तराङ्ग में विलावल का योग होता है । मध्यम के मुक्त प्रयोग से यह राग सुव्यक्त होता है ।

सगगममस्वरैः स्यान्नटाङ्गं सुपरिस्फुटम् ।

वेलावल्यवरोहेण रागयोगो भवेत्स्फुटः ॥५५॥

नट रागाङ्ग 'सा ग ग म म' इस स्वरसमूह से स्पष्ट होता है; एवं अवरोह में विलावल अङ्ग के द्वारा नटविलावल में दोनों रागों का मिश्रण स्पष्ट हो जाता है ।

टिप्पणी

हम्मीरो हेमकश्चैव यदा स्यातां सुमिश्रितौ ।

तदात्तहैया भवेत्लक्ष्य इति मर्मज्ञसम्मतम् ॥५६॥

सङ्गीतमर्मज्ञों का मत है कि आधुनिक अलहैया राग का स्वरूप हमीर तथा हेम इन दो रागों के सम्मिश्रण से निर्मित होता है ।

शुद्धस्वरसमुद्भूता शुद्धवेलावली मता ।

कल्याणमेनकेदारा मिलन्त्यस्यां विदां मते ॥५७॥

शुद्ध विलावल राग शुद्ध स्वरों से उत्पन्न है, तथा विद्वानों के मतानुसार उसमें कल्याण, यमन तथा केदार का संयोग है ।

गौडसारङ्गसंयोगाल्लच्छाशाखसमुद्भवः ।

विलावल में गौडसारङ्ग के अङ्ग-मिश्रण से लच्छाशाख राग बन जाता है ।

जयावन्ती सुयोगेन ककुभाया भवेज्जनुः ॥५८॥

विलावल में जयजयवन्ती के योग से ककुभ की उत्पत्ति होती है ।

शुद्धकल्याणयोगे तु देवगिरिः समुद्भवेत् ।

भूपालीयोगतश्चासाबौडवाख्या मता जने ॥५९॥

विलावल में शुद्धकल्याण के योग से देवगिरि राग बनता है । औडुव देवगिरि नामक राग विलावल में भूपाली के योग से बनता है ।

केदारनाटयोगेन शुक्लवेलावली भवेत् ।

२४८ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

बिलावल में केदार और नट का योग होने पर शुक्लबिलावल राग उत्पन्न होता है ।

नटवेलावलीयोगान्ताह्वा लक्ष्यविन्मते ॥६०॥

बिलावल में नट के मिश्रण से नटबिलावल राग बनता है ।

मिश्रणादिमनाख्यस्य वेलावल्यां समुद्भवेत् ।

वेलावलीमनीसंज्ञा'.... ॥६१॥

बिलावल में यमन के मिश्रण से यमनी-बिलावल नामक राग उत्पन्न होता है ।

... विहङ्गिनीमथो ब्रुवे ॥६१॥

विहङ्गस्य सुयोगे तु सैव स्याद्रक्षितदायिनी ।

विहङ्ग नामक राग के मिश्रण से विहङ्गिनी नामक मधुर प्रकार बनाता है ।

सर्पदा सम्मता लक्ष्ये शिञ्जुटीयोगसम्भवा ॥६२॥

बिलावल में शिञ्जुटी के योग से सर्पदा की उत्पत्ति होती है ।

(९) माण्ड राग

वेलावलीसुमेलाच्च माण्डोत्पत्तिः प्रकीर्तिता ।

मारुमेवाडदेशेऽस्य श्रूयते लक्ष्यके जनुः ॥६३॥

माण्ड राग की उत्पत्ति बिलावलमेल से होती है । सामान्यतः इसे मारु-मेवाड़ देश का राग माना जाता है ।

षड्जस्वरो मतो वादी संवादी पञ्चमः स्मृतः ।

गानं सुसम्मतं चास्य रञ्जकं सार्वकालिकम् ॥६४॥

इसका वादी स्वर षड्ज तथा संवादी पञ्चम है । इसका गायन सर्वदा रंजक लगता है (अर्थात् यह सार्वकालिक राग है) ।

प्राबल्यं सप्तपानां तु निषादे कम्पनं प्रियम् ।

प्रारोहे रिषदौर्बल्यं वक्रत्वमवरोहणे ॥६५॥

माण्ड राग में षड्ज, मध्यम तथा पञ्चम की प्रबलता होती है । निषाद पर कम्पन (अर्थात् आन्दोलन) इसमें बहुत मधुर लगते हैं । ऋषम तथा धैवत आरोह में दुर्बल लगते हैं, एवं अवरोह वक्र होता है ।

अभ्युच्छ्रयादलङ्काराद्रागोऽयं निर्मितो बुधैः ।

इति केचिद्वदन्त्यत्र सङ्गीतमर्मवेदिनः ॥६६॥

कुछ सङ्गीतज्ञ कहते हैं कि अभ्युच्छ्रय नामक अलङ्कार से यह राग विद्वानों ने निर्मित किया है ।

टीका—अभ्युच्छ्रय अलङ्कार को सङ्गीतरत्नाकर (१-६-१९) में 'अभ्युच्चय' अलङ्कार कहा गया है । अभ्युच्चय की व्याख्या वहाँ इस प्रकार की गयी है—

एकान्तरस्वरारोहमाहुरभ्युच्चयं बुधाः ॥

सगपनि ।

अर्थात्—एक एक स्वर छोड़ते हुए आरोह करना अभ्युच्चय अलङ्कार कहलाता है । यथा—सा ग प नि । माण्ड राग के स्वरूप में ऐसे स्वर-क्रमों का बाहुल्या दिखता है ।

सनधिपमपगमसैः स्वरै रागो भवेत्स्फुटः ।

क्षुद्रगीताहृता तस्य लोके सर्वत्र सम्मता ॥६७॥

इस राग का स्वरूप 'सा नि घ म प ग म सा' स्वरों से स्पष्ट होता है । यह राग क्षुद्रगीतों के योग्य माना है ।

(१०) बिहाग राग

मेले विलावलस्यैव प्रोक्तो रागः सुनामकः ।

बिहाग इति विख्यातो गान्धारांशग्रहो जने ॥६८॥

बिहाग नामक प्रसिद्ध राग विलावल मेल से उत्पन्न होता है । इस राग में गान्धार स्वर को ग्रह तथा अंश स्वर माना गया है ।

प्रारोहे रिधवर्ज्यं स्यादवरोहे समग्रकम् ।

रात्र्यां द्वितीयके यासे गानमस्य मनोहरम् ॥६९॥

बिहाग का आरोह ऋषभ-धैवत रहित तथा अवरोह सम्पूर्ण है । रात्रि के द्वितीय प्रहर में इसका गान अत्यन्त मनोहर प्रतीत होता है ।

प्राबल्याद्विधयोरत्र विलावल्यङ्गमुद्भवेत् ।

अतस्तौ दुर्बलौ शिष्टावरोहेऽपि मार्मिकैः ॥७०॥

इस राग में ऋषभ-धैवत की प्रबलता हो जाने पर विलावल अङ्ग झलक सकता है । इसी लिए, मर्मज्ञों ने इस राग में अवरोह में भी उन स्वरों को दुर्बल ही माना है ।

२५० : श्रीमल्लस्यसङ्गीतम्

विरामो निस्वरे नित्यं भवेद्वैचित्र्यकारणम् ।

प्रायस्तत्रैव कुर्वन्ति श्रोतारो रागनिर्णयम् ॥७१॥

निषाद पर विराम बिहाग में अत्यन्त वैचित्र्यकारक होता है, तथा श्रोता भी प्रायः उसी से रागनिर्णय करते हैं ।

केचित्समादिशन्त्यत्र द्विमध्यमप्रयोजनम् ।

न तद्दोषास्पदं मन्ये रात्रिगेयस्वरूपके ॥७२॥

कुछ इसमें दोनों मध्यमों का प्रयोग बताते हैं । मैं रात्रिगेय रागों में ऐसे प्रयोग को दोषपूर्ण नहीं मानता ।

निषादः कोमलश्चास्मिन् प्रयुक्तश्चेद्विलोमके ।

बिहागडासमुत्पत्तिर्भवेदिति विदां मतम् ॥७३॥

यदि बिहाग में अवरोह में कोमल निषाद का प्रयोग किया जाय, तो बिहागडा नामक राग बन जाता है, ऐसा विद्वानों का मत है ।

सम्मिश्रणाद्विहागाख्ये क्षिञ्जुद्वयादेर्यथायथम् ।

पटपूर्वबिहागस्य स्वरूपं सम्भवेत्स्फुटम् ॥७४॥

बिहाग में क्षिञ्जुटी के यथाप्रमाण सम्मिश्रण से पटबिहाग नामक राग का स्वरूप निर्मित हो जाता है ।

(११) शङ्करा राग

शुद्धस्वरसमुद्भूतः शङ्करो लोकविश्रुतः ।

औडुवः षाडवश्चापि द्विविधो गीयते जने ॥७५॥

शुद्ध स्वरों से उत्पन्न लोकप्रिय राग शंकरा औडुव तथा षाडुव दोनों तरह से गाया जाता है ।

औडुवो रिमहीनत्वात् षाडवो मध्यमोज्जितः ।

गानमस्य समीचीनं रात्र्यां द्वितीययामके ॥७६॥

औडुव-शङ्करा में ऋषभ और मध्यम वर्ज्य हैं तथा षाडव-शङ्करा मध्यमवर्जित है । शङ्करा का गान रात्रि के द्वितीय प्रहर में समीचीन है ।

षड्जो गो वा भवेद्वादी बिहागाङ्गेन मण्डनम् ।

लङ्घनान्मध्यमस्यैव बिहागाङ्गित्परिस्फुटा ॥७७॥

इसमें षड्ज अथवा गान्धार वादी हैं । इसका मण्डन (स्वरूप-स्थापना) बिहाग अङ्ग से होता है । किन्तु, इसमें मध्यम के वर्ज्यत्व के कारण बिहाग से भेद स्पष्ट हो जाता है ।

सङ्गतिर्गपयोनित्यं बिहागाङ्गं निवारयेत् ।

पातः षड्जे तु गान्धाराद्रागरूपं प्रकाशयेत् ॥७८॥

ग और प की सङ्गति से इस राग में बिहाग अङ्ग का निराकरण हो जाता है। ग से सा पर पात ['प ग....प रे ग....रे सा' इस प्रकार] रागरूप व्यक्त करता है।

पनिधसनिस्वरैः स्याद्रागरूपं परिस्फुटम् ।

इति कैश्चित्समादिष्टं मर्मज्ञैर्गानकोविदैः ॥७९॥

कुछ मर्मज्ञ सङ्गीतज्ञों ने कहा है कि इस राग का स्वरूप 'प नि ध सां नि' इन स्वरों से व्यक्त होता है।

केचिदेनं पुनः प्राहुः षड्जांशमुत्तराङ्गजम् ।

न तत्स्यात् सम्मतं लक्ष्ये वयं लक्ष्यानुवर्तिनः ॥८०॥

पुनः, कुछ लोग इसे षड्ज वादीयुक्त उत्तराङ्ग राग मानते हैं, किन्तु वह प्रचलित सङ्गीत में मान्य नहीं है। हम लोग लक्ष्य-प्रचार के ही अनुगामी हैं।

शङ्कराख्ये तु रागे चेत्तीव्रमस्य प्रयोजनम् ।

शङ्करारणकाख्यातं स्वरूपं सम्भवेद् ध्रुवम् ॥८१॥

शङ्कराख्ये पुनस्तद्वत् कल्याणाङ्गस्य योजनात् ।

शङ्कराकरणोत्पत्तिः सम्भवेदिति विन्मतम् ॥८२॥

शङ्करा में तीव्र मध्यम का प्रयोग करने पर शङ्करारण (शङ्करा अरुण?) नामक राग-स्वरूप बनता है। इसी प्रकार, उसमें कल्याण अङ्ग के प्रयोग से शङ्कराकरण नामक राग उत्पन्न होता है, ऐसा विद्वानों का मत है।

टीका—यहाँ शङ्करा-भेदों की चर्चा है। शङ्करा में ही थोड़ा-बहुत परिवर्तन कर, अथवा किसी रागाङ्ग को लेते हुए, गायक लोग शङ्करा के अलग-अलग प्रकार बताते हैं। यहाँ जिस 'शङ्करारण' का उल्लेख है, उसके विषय में भातखण्डे सङ्गीत-शास्त्र (भाग १, पृ० १७७) में कहा गया है कि पूर्वाङ्ग में कोमल रे लेते हुए उत्तराङ्ग में शङ्करा युक्त 'शङ्करा अरुण' या 'शङ्करा अरुण' नामक प्रकार है, जिसमें शङ्करा और अरुण का मिश्रण बताया जाता है। उक्त ग्रन्थों में शङ्करारण और शङ्कराकरण का उल्लेख नहीं किया गया है।

रागवृन्दे तथाप्यत्र कामचारप्रवर्तनात् ।

लक्ष्यमार्गमनुलङ्घ्य बुधः कुर्याद्यथोचितम् ॥८३॥

२५२ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

रागवृन्द में यद्यपि इस राग-स्वरूप का स्वेच्छाचारपूर्ण व्यवहार किया जाता है, तथापि बुद्धिमान् को रागस्वरूपविषयक अपना मत लक्ष्य-पद्धति के अनुसार ही करना चाहिए।

टीका—‘रागवृन्द’ से यहाँ अभिप्राय ‘राग-माला’, ‘राग-सागर’ आदि प्रकारों से है, जिनमें एक के बाद एक बहुत से रागों के अंश जोड़ते हुए गीत-रचना अथवा स्वर-रचना बनायी जाती है। ऐसी रचनाओं में प्रायः शङ्करा भी रहता है, किन्तु उसका स्वरूप और राग-क्रम में उसका स्थान प्रत्येक कलाकार अपनी इच्छा के अनुसार रखता है। राग का शुद्ध स्वरूप एवं राग-समय का भी स्वीकृत क्रम, यहाँ प्रायः सुरक्षित नहीं रह पाता। इसी लिए, इस राग के विभिन्न स्वरूप दिखायी देते हैं। ‘चतुरपण्डित’ का सुझाव यह है कि जो स्वरूप लक्ष्य-पद्धति में बहुप्रचलित हो, उसे ही अङ्गीकृत किया जाना चाहिए।

(१२) नट राग

बेलावलीसुमेलाच्च नटरागः समुत्थितः।

मध्यमांशोऽथ मन्यासः सम्मतो गानवेदिनाम् ॥८४॥

‘नट राग विलावल मेल से उत्पन्न है। सङ्गीतज्ञों के मतानुसार इस राग में अंश तथा न्यास स्वर मध्यम है।

प्रारोहेस्यात्सुसम्पूर्णो विलोमे धगवर्जितः।

गानमस्य समीचीनं रात्र्यां द्वितीययामके ॥८५॥

यह राग सम्पूर्णस्वरीय आरोहयुक्त है तथा इसके अवरोह में धैवत और गान्धार वर्जित हैं। रात्रि का द्वितीय प्रहर इसका उचित गान-समय है।

छायानाटस्तथाल्हेया कामोदाख्यस्तथैव च।

मिलन्त्यस्मिन्यथायोग्यमिति लक्ष्यज्ञसम्मतम् ॥८६॥

लक्ष्यज्ञ विद्वानों के अनुसार, इस राग में छाया नट, अल्हेया एवं कामोद रागों का यथायोग्य सम्मिश्रण होता है।

पूर्वाङ्गस्य प्रधानत्वादल्हेया नैव सम्भवेत्।

मुक्तमध्यमयोगेन छायाकामोदवारणम् ॥८७॥

पूर्वाङ्गप्रधानता के कारण इसमें अल्हेया की सम्भावना नहीं है। मध्यम के मुक्त प्रयोग के कारण कामोद की छाया का निवारण हो जाता है।

रागतरङ्गिणीग्रन्थे तथैव हृत्प्रकाशके ।

मेघरागस्य संस्थाने रागोज्यमुपलक्षितः ॥८८॥

रागतरङ्गिणी तथा हृत्प्रकाश (हृदयप्रकाश) नामक ग्रन्थों में यह राग मेघराग संस्थान (अर्थात् मेघरागमेल) में वर्णित किया गया है ।

वैलावलीसमुद्भूतो मांशो रिन्यासको नटः ।

अवरोहे गहीनश्च कीर्तितः पारिजातके ॥८९॥

सङ्गीत पारिजात में नट राग को विलावलमेलजन्य; मध्यम अंश और ऋषभ न्यास स्वरयुक्त एवं अवरोह में गान्धारवर्जित राग कहा गया है ।

गद्वयो निद्वयश्चापि कुत्रचित्समुदीरितः ।

यतस्तल्लक्ष्यरोधि स्यान्माननीयं न मे मते ॥९०॥

कहीं-कहीं इस राग को दोनों गान्धार तथा दोनों निषादों से युक्त बताया गया है । किन्तु वह स्वरूप लक्ष्य-प्रचलित नट-स्वरूप से विलकुल अलग ढंग का होने के कारण हमारे विचार से मान्य नहीं है ।

नटनारायणो रागः शुद्धमेलसमुद्भवः ।

धदुर्बलस्तथा मांशो लक्ष्ये कश्चित्समीरितः ॥९१॥

लक्ष्यप्रचार में कुछ विद्वानों ने नटनारायण नामक शुद्धमेलजन्य राग बताया है, जिसमें धैवत दुर्बल है तथा मध्यम अंश स्वर है ।

(१३) दुर्गा राग

शुद्धमेलसमुत्पन्ना दुर्गाख्या लोकविश्रुता ।

आरोहे चावरोहेऽपि गनिहीनं च सम्मता ॥९२॥

सुप्रसिद्ध राग दुर्गा शुद्धमेल (विलावल) से उत्पन्न होता है । इसके आरोह और अवरोह दोनों ही में गान्धार-निषाद वर्ज्य हैं ।

मध्यमः सम्मतो वादी कश्चित्पञ्चम ईरितः ।

गानमस्याः सदाभीष्टं द्वितीयप्रहरे निशि ॥९३॥

इसका वादी स्वर मध्यम है । कुछ लोग पञ्चम को वादी मानते हैं । गान-समय रात्रि का द्वितीय प्रहर है ।

शुद्धमल्लारिकाच्छाया धद्यप्यत्र लसेत्स्वचित् ।

धमरिपमुसङ्गत्या भवेत्तदपसारणम् ॥९४॥

२५४ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

कहीं-कहीं इस राग में शुद्धमल्लार की छाया आती है, किन्तु उसका निवारण 'घ म रे प' स्वर-सङ्गति के द्वारा हो जाता है ।

गन्योरत्र विलुप्तत्वे सोरट्यङ्गं कुतो भवेत् ।

रिधयोश्चात्र सङ्गत्या रागः स्वातन्त्र्यमावहेत् ॥१५॥

गान्धार-निषाद के वर्ज्यत्व के कारण इसमें सोरठ अङ्ग कैसे हो सकता है ? (अर्थात्, सोरठ अङ्ग का आभास होना सम्भव नहीं) । 'रे-घ' सङ्गति से इस राग का स्वतन्त्र विशिष्ट स्वरूप व्यक्त होता है ।

प्रयोगो मुक्तमस्यात्र नूनं चित्तहरो नृणाम् ।

वक्रत्वं प्रतिलोमस्य रागाङ्गं स्फुटमादिशेत् ॥१६॥

मध्यम का मुक्त प्रयोग इस राग में अत्यन्त आकर्षक लगता है । अवरोह के वक्रत्व के द्वारा दुर्गा का विशिष्ट रागाङ्ग स्पष्ट होता है ।

टीका—अवरोह प्रायः 'सां, घ, प घ, म, रे;' 'घ म रे,' 'रे घ सा' इस प्रकार वक्र लिया जाता है । सीधा 'सां घ प म रे सा' नहीं लेते ।

निषादाभावतोऽप्यत्र न स्यात्सारङ्गसम्भवः ।

संगतिर्धमयोश्चित्रा ह्यवश्यं रञ्जयेन्मनः ॥१७॥

निषाद के अभाव के कारण दुर्गा में सारङ्ग की सम्भावना भी नहीं है । घ-म की सङ्गति इसमें अत्यन्त आकर्षक तथा मधुर लगती है ।

ग्रन्थेषु दाक्षिणात्यानां शुद्धसावेरिका तु या ।

कदाचित्संव लक्ष्येऽत्र मर्मविद्भिर्हरीकृता ॥१८॥

सङ्गीतज्ञों ने कहा है कि दाक्षिणात्य पद्धति के ग्रन्थों में वर्णित शुद्ध-सावेरी को ही प्रचलित उत्तर भारतीय सङ्गीत में शायद दुर्गा नाम से ग्रहीत किया गया है ।

(१४) मलूहा केदार राग

केदारो मलुहानामा शुद्धमेलसमुत्थितः ।

श्यामकामोदसंयोगादुद्भूत इति विश्रुतम् ॥१९॥

शुद्ध मेल से उत्पन्न मलूहा केदार राग श्याम और कामोद के मिश्रण से बनता है ।

केदारस्य प्रभेदोऽयं मन्यते लक्ष्यवेदिभिः ।

गानं चास्य समीचीनं द्वितीयग्रहरे निशि ॥१००॥

रागाध्याय : २५५

लक्ष्यज्ञों ने इसे केदार का प्रकार माना है। इसका गान-समय रात्रि का द्वितीय प्रहर है।

केदारे प्रबला नित्यं षड्जमध्यमपञ्चमाः।

सुप्रसिद्धं मतं त्वेतद्वागेऽस्मिन्नपि युज्यते ॥१०१॥

षड्ज, मध्यम तथा पञ्चम केदार राग में प्रबल होते हैं। इस राग में भी वे स्वर प्रबल लगते हैं।

संवर्धनं पुनश्चास्य मन्द्रमध्यस्वरैर्भवेत्।

विलम्बितलये गीतो गाम्भीर्याधिक्यमावहेत् ॥१०२॥

इस राग का विस्तार मन्द्र और मध्य स्वरों में होता है। विलम्बित लय में गेय यह राग अतीव गम्भीर है।

मन्द्रस्थो मध्यमश्चात्र रागरूपं प्रदर्शयेत्।

निषादात्षड्जसंस्पर्शो रागवैशिष्ट्यमीरयेत् ॥१०३॥

मन्द्र मध्यम इस राग का स्वरूप प्रदर्शित करता है। निषाद से षड्ज का संस्पर्श इसका विशिष्ट रागाङ्ग बताता है।

टीका—‘नि..सारे..सा....षप् म...., प...नि...सा’ इसका राग-वाचक स्वर-समूह है, जिसमें मन्द्र मध्यम पर न्यास होता है, तथा नि से सा पर विशेष ढंग से जाया जाता है।

चान्दनीजलधारौ च मलुहाख्यस्तृतीयकः।

आधुनिका मता एते प्रभेदा लक्ष्यवर्त्मनि ॥१०४॥

हमारे सङ्गीत में चान्दनी (—केदार), जलधार (—केदार) तथा मलूहा (—केदार)—ये आधुनिक राग-प्रकार माने गये हैं।

तीव्रमस्य प्रयोगेण तथा कोमलनेरपि।

केदारे चान्दनीनामा प्रकारः सम्भवेत्ततः ॥१०५॥

केदार में तीव्रमध्यम तथा कोमल निषाद के प्रयोग से चान्दनी नामक केदार प्रकार बनता है।

मेघकेदारसंयोगाज्जलधारः समुद्भवेत्।

सङ्गिरन्ति पुनः केचित्लक्ष्यलक्षणवेदिनः ॥१०६॥

कुछ विद्वान कहते हैं कि मेघ और केदार के संयोग से जलधार (जलधर केदार) बनता है।

२५६ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

(१५) हेमकल्याण राग

शुद्धस्वरसमुद्भूतो हेमकल्याणनामकः ।

षाडवो रात्रिगेयोऽपि निहीनो लक्ष्यविन्मते ॥१०७॥

शुद्धस्वरों से उत्पन्न हेमकल्याण नामक रात्रिगेय राग को लक्ष्यज्ञों ने निषादवर्जित षाडव राग माना है ।

षड्जस्वरो भवेद्वादी संवादी पञ्चमो भवेत् ।

मन्द्रमध्यस्वरैर्गौतोऽवश्यं स्याद्रक्तिदायकः ॥१०८॥

इस राग का वादी स्वर षड्ज तथा संवादी पञ्चम है । मन्द्र तथा मध्य स्वरों में गाया जाने पर यह अवश्य ही रञ्जक लगता है ।

शुद्धकल्याणके रागे कामोदाख्यस्य योगतः ।

हेमः समुद्भवेल्लक्ष्य इति कंश्चित्प्रकीर्तितम् ॥१०९॥

कुछ विद्वानों ने कहा है कि शुद्धकल्याण में कामोद के योग से प्रचलित हेम राग उत्पन्न होता है ।

आरोहे धैवतत्यक्तो मन्द्रपोद्ग्राहमण्डितः ।

विलम्बितलये गीतो रागवैशिष्ट्यमादिशेत् ॥११०॥

इसके आरोह में धैवत वर्ज्य होता है । इसका उद्ग्राह स्वर (अर्थात् प्रारम्भिक स्वर) मन्द्र पञ्चम है । विलम्बित लय में गायन से इस राग का वैशिष्ट्य प्रकट होता है ।

रागोऽयं मलुहाच्छायां नूनं प्रदर्शयेत्क्वचित् ।

तथाप्यत्र निहीनत्वं रागमेदं समादिशेत् ॥१११॥

कहीं कहीं इस राग में वास्तव में मलूहा की किंचित् छाया दिखायी देती है । तथापि, निषाद के वर्ज्यत्व के कारण 'मलूहा' से इसकी भिन्नता स्पष्ट होती है ।

क्षेमकल्याणनामाऽपि रागो लक्ष्ये क्वचिच्छ्रुतः ।

नासौ प्रसिद्धिवैधुर्यादस्माभिरत्र लक्षितः ॥११२॥

क्षेमकल्याण नामक राग भी कुछ लोग बताते हैं, परन्तु अप्रसिद्ध होने के कारण उसका उल्लेख हमने यहाँ नहीं किया है ।

(१६) देशकार राग

वेलावलमुमेलाच्च देशिकारः प्रजायते ।

औडवो मनिहीनश्च सम्मतो गानवेदिनाम् ॥११३॥

मध्यम-निषाद रहित औडुव राग देशकार को सङ्गीतज्ञ विलावल-
मेलजन्य मानते हैं ।

चैवतः सम्मतो वादी गान्धारोऽमात्यतुल्यकः ।

उत्तराङ्गप्रधानोऽयं प्रातःकाले प्रगीयते ॥११४॥

इस राग का वादी स्वर चैवत तथा संवादी गान्धार है । उत्तराङ्ग-
प्रधान यह राग प्रातर्गय है ।

सङ्गिरन्ति पुनः केचिदेन विभासकं स्वयम् ।

मतेऽस्माकं विभासः स्याद्भैरवाख्यसुमेलजः ॥११५॥

कुछ लोग इसी राग को विभास भी कहते हैं । परन्तु हमारे मतानुसार,
विभास राग भैरवमेल से उत्पन्न होता है ।

भारवामेलकेऽप्यन्यो विभासः समुदीरितः ।

गानं तस्यापि सम्प्रोक्तं लक्ष्ये भानूदयात्परम् ॥११६॥

भारवा मेलजन्य एक अन्य विभास भी प्रचलित है, तथा वह भी
सूर्योदय के पश्चात् गाया जाने योग्य राग है ।

सन्ध्याकाले यथा प्रोक्ता भूपाली गांशिका बुधैः ।

तथैव देशिकारोऽयं धांशकः प्रातरीरितः ॥११७॥

विद्वानों के अनुसार, जिस प्रकार गान्धार वादीयुक्त भूपाली सायङ्कालीन राग है, उसी प्रकार चैवत वादीयुक्त देशकार प्रातःकालीन राग है ।

टीका—अभिप्राय यह है कि भूपाली और देशकार परस्पर 'जवावी'
राग हैं । भूपाली पूर्वाङ्गप्रधान है, और उसमें ग वादी और घ संवादी है ।
इसके ठीक विपरीत, देशकार उत्तराङ्गप्रधान है, और उसमें घ वादी और ग
संवादी है । भूपाली रात्रिगय है; देशकार दिवसगय ।

अथवोत्तररागास्ते भवेयुः प्रतिमूर्तयः ।

स्वस्वपूर्वाद्यरागाणामिति प्रोक्तं मया पुरा ॥११८॥

मैं यह पहले ही बता चुका हूँ कि उत्तराङ्ग राग अपने अपने पूर्व-रागों
की प्रतिमूर्ति होते हैं ।

टीका—'स्वस्वपूर्वाद्यरागाणाम्' से तात्पर्य यहाँ प्रत्येक उत्तरराग के
समान स्वर तथा स्वरूप वाले पूर्वरागों से है । प्रतिमूर्ति राग प्रायः प्रकृति की
दृष्टि से समान होते हैं । प्रतिमूर्तित्व अंगप्राधान्य, वादी-सम्वादी आदि की
भिन्नता के कारण होता है ।

२५८ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

रिक्तकोमलो मतीन्द्रोऽपि देशिकारः प्रकीर्तितः ।

ग्रन्थे रागविबोधालये सोमनाथविपश्चिता ॥११९॥

विद्वान् सोमनाथ ने रागविबोध नामक ग्रन्थ में देशिकार में ऋषभ कोमल तथा मध्यम तीव्र बताया है ।

रागतरङ्गिणीग्रन्थे रागोऽयं वर्णितो पुनः ।

गौरीमेलसमुद्भूतो रिक्तकोमलसंयुतः ॥१२०॥

रागतरङ्गिणी में देशिकार को गौरीमेलजन्य कोमल ऋषभ-धैवतयुक्त राग कहा गया है ।

देशिकारी मता पूर्णा गन्तीव्रा च धांशिका ।

सङ्गीतपारिजाताख्ये ग्रन्थेऽहोबलधीमता ॥१२१॥

सङ्गीतपारिजात नामक ग्रन्थ में विद्वान् अहोबल ने देशिकार को सम्पूर्ण रागिनी कहा है, जिसमें गान्धार-निषाद तीव्र हैं, तथा जिसका अंशस्वर धैवत है ।

(१७) गुणकली राग

बेलावलीसुमेलाच्च जातो रागो गुणिप्रियः ।

गुणकलीतिनामासौ सप्तसंवादशोभनः ॥१२२॥

सङ्गीतज्ञों का प्रिय राग गुणकली विलावल मेल से उत्पन्न होता है, तथा उसमें षड्ज-पञ्चम का संवाद है (अर्थात् वादी सा और संवादी प है) ।

यतो बेलावलाङ्गेन गीयते लक्ष्यवर्त्मनि ।

गानं सुसम्मतं तस्य प्रथमप्रहरे दिने ॥१२३॥

वर्तमान सङ्गीत में यह राग विलावल अङ्ग से गाया जाता है, अतः इसका उचित गान-समय दिन का प्रथम प्रहर है ।

केचिद्गुणकलीं प्राहुः कल्याणाङ्गविभूषिताम् ।

गान्धारवाविनीं चापि साऽस्या भिन्ना परिस्फुटा ॥१२४॥

कुछ विद्वानों ने गुणकली को कल्याण अङ्गयुक्त तथा गान्धार वादी-स्वरयुक्त बताया है, परन्तु वह स्वरूप प्रचलित गुणकली के स्वरूप से स्पष्टतः भिन्न है ।

रागतरङ्गिणीग्रन्थे गुणकरी समीरिता ।

गौरीमेलसमुत्पन्ना सा चास्या भेदमहंयेत् ॥१२५॥

रागतरङ्गिणी नामक ग्रन्थ में गुणकरी को गौरीमेलजन्य बताया गया है। वह भी प्रचलित गुणकली से भिन्न है।

(१८) पहाड़ी राग

वैलावलाख्यमैलाच्च जाता पहाडिनामिका।

सपसंवादसम्पन्ना प्रारोहे मनिदुर्बला ॥१२६॥

पहाड़ी नामक रागिनी विलावल मेल से उत्पन्न होती है। इसमें षड्ज स्वर वादी है, तथा पञ्चम संवादी है। इसके आरोह में मध्यम और निषाद दुर्बल रहते हैं।

मन्द्रमध्यस्वरैश्चेयं भवेद्वक्तिप्रदायिनी।

मन्द्रस्थो धैवतोऽप्यत्र स्फुटं रागाङ्गमादिशेत् ॥१२७॥

यह रागिनी मन्द्र तथा मध्य स्वरों में अत्यन्त रञ्जक लगती है। मन्द्र धैवत भी इसका रागाङ्ग स्पष्ट रूप से प्रदर्शित करता है।

दौर्बल्यात्स्वरयोर्मन्योर्भूपालीप्रकृतिं भजेत्।

गरिसाधपधसैः स्याद्गारुरूपं परिस्फुटम् ॥१२८॥

मध्यम और निषाद की दुर्बलता के कारण यह भूपाली राग की प्रकृति को प्राप्त करता है। इसका स्वरूप 'ग रे सा, ष प ष सा' स्वरों से स्पष्ट होता है।

शुद्धमध्यमसंस्पर्शो विलोमे तन्मतः क्वचित्।

यतस्तेन स्वरेण स्याद् भूपालीभित्परिस्फुटा ॥१२९॥

अवरोह में शुद्ध मध्यम का क्वचित् स्पर्श इसमें मान्य किया जाता है। साथ ही, इस प्रयोग के कारण भूपाली से पहाड़ी का भेद स्पष्ट हो जाता है।

ग्रन्थेषु केषुचित्प्रोक्ता पाडी भैरवमेलने।

व्यवहारे तु तद्रूपं साम्प्रतं नैव गोचरम् ॥१३०॥

कुछ ग्रन्थों में भैरवमेलोत्पन्न 'पाड़ी' वर्णित है, परन्तु वह राग-स्वरूप प्रचलित व्यवहार में कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता।

खमाजमेलजाप्यन्या पहाडी गीयते क्वचित्।

स्वरूपं तन्मतं लक्ष्ये स्वतन्त्रं गानकोविदः ॥१३१॥

कहीं-कहीं खमाजमेलजन्य एक अन्य पहाड़ी भी बतायी जाती है, जिसका स्वतन्त्र स्वरूप लक्ष्यज्ञ विद्वानों ने माना है।

२६० : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम् .

टीका—शास्त्रग्रन्थों में, पहाड़ी का यही वर्णन हमें मिलता है। किन्तु पहाड़ी का जो स्वरूप आज प्रचलित है, वह इस वर्णन से सर्वथा भिन्न है। प्रचलित पहाड़ी शायद उपर्युक्त श्लोक में सङ्केतित खमाजमेलजन्य पहाड़ी है। प्रचलित पहाड़ी में ठुमरी, दादरा, गजल, भजन आदि कथित 'क्षुद्र' गीतों का गायन होता है। उसमें बारहों स्वरों का प्रयोग होता है, तथा प्रायः मध्यम षड्ज मान कर उसे गाया जाता है। उसमें "ग प ध..सा...; ग...ग.ग म ग....; रे ग..सा...; सा रे...ध...; प नि ध नि ध..प.." आदि स्वर-समुदायों का अधिक प्रयोग दिखायी देता है। प्रायः मन्द्र गान्धार से उठान होता है।

खमाजमेलजन्य राग

(१) झिञ्झूटी राग

खमाजमेलकोऽस्माकं कर्णाटसंज्ञितो पुरा ।

दाक्षिणात्यमते चासौ काम्भोजीमेल उच्यते ॥१॥

हमारे खमाज मेल को पूर्वाचार्यों ने कर्णाट मेल कहा है। दाक्षिणात्य पद्धति में उसे काम्भोजी मेल कहते हैं।

खमाजमेलसञ्जाता झिञ्झूटी लोकविश्रुता ।

आरोहे चावरोहेऽपि सम्पूर्णा बहुसम्मता ॥२॥

खमाज मेल से सुप्रसिद्ध झिञ्झूटी राग उत्पन्न होता है, जिसे अधिकांश गुणीजन सम्पूर्ण राग मानते हैं।

गान्धारोऽत्र मतो वादी सम्वादी निस्वरो भवेत् ।

गानं चास्या भवेदिष्टं द्वितीयप्रहरे निशि ॥३॥

इसका वादी स्वर गान्धार तथा सम्वादी स्वर निषाद है। गान-समय रात्रि का द्वितीय प्रहर है।

सुगमं सरलं रूपं मेलरागसमाश्रयम् ।

क्षुद्रगीतक्षमं चापि मन्यते लक्ष्यवर्त्मनि ॥४॥

सुगम, सरल स्वरूप का यह राग खमाज मेल का आश्रय राग माना गया है। प्रचलित सङ्गीत में इस राग को क्षुद्र गीतों के योग्य माना गया है।

टीका—उत्तर भारतीय सङ्गीत में स्वीकृत दस मेलों के शास्त्रगत नाम और व्यावहारिक प्रचलित नाम भिन्न-भिन्न हैं। मेलों की यमन या कल्याण,

विलावल, खमाज इत्यादि प्रचलित संज्ञाएँ केवल व्यावहारिक सरलता की दृष्टि से अपनायी गयी हैं। मेलों की ये संज्ञाएँ वस्तुतः उनमें उत्पन्न किसी सर्वाधिक लोकप्रिय तथा मेल के समस्त लक्षणों से युक्त स्वरों वाले, राग की संज्ञाएँ हैं। ऐसा राग, जिसके नाम से उसके जनक मेल को जाना जाता है, उस मेल का 'आश्रय राग' कहलाता है। खमाज मेल का आश्रय राग खमाज भी माना जाता है और झिञ्झूटी भी।

झिञ्झूटी राग में प्रायः ठुमरी, गज़ल, भजन आदि गीत-प्रकार गाये जाते हैं। ख्याल शैली के लिए यह राग अधिक उपयुक्त नहीं है, ऐसा कलाकार मानते हैं।

धसरिगमगस्वरैर्भवेद्रूपं परिस्फुटम् ।

मन्द्रमध्यस्वरैर्गतिं नूनं स्यादतिरक्तिवम् ॥५॥

झिञ्झूटी का राग-स्वरूप 'ष सा, रे ग म ग' इस स्वर-समूह से स्पष्ट होता है। मन्द्र एवं मध्यसप्तक में गाये जाने पर यह राग अत्यन्त रञ्जक लगता है।

आरोहेऽत्र रिसंयोगात् खम्माजो भिन्नतां भजेत् ।

सरलारोहणत्वाच्च स्वातन्त्र्यं दर्शयेद्भ्रुवम् ॥६॥

इस राग के आरोह में ऋषभ का प्रयोग होने के कारण खमाज से इसका पार्थक्य स्पष्ट हो जाता है। साथ ही, सीधा अवरोह भी खमाज से इसका अन्तर व्यक्त करता है।

(२) खमाज राग

खम्माजमेलोत्पन्नो रागः खम्माजनामकः ।

आरोहे रिस्वरत्यक्तः सम्पूर्णश्चावरोहणे ॥७॥

खमाज राग खमाज मेल से उत्पन्न हुआ है। इसके आरोह में ऋषभ वर्ज्य है तथा इसका अवरोह सम्पूर्ण है।

गान्धारः सम्मतो वादी निषादो मन्त्रिसन्निभः ।

गानमस्य समीचीनं रात्र्यां द्वितीययामके ॥८॥

इस राग का वादी स्वर गान्धार और संवादी स्वर निषाद है। गान-समय रात्रि का द्वितीय प्रहर है।

सङ्गतिर्धमधोरत्र नित्यं रक्तिप्रदायिनी ।

निधमपधमगं स्यात् खम्माजाङ्गं परिस्फुटम् ॥९॥

२६२ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

‘घ म’ सङ्गति इस राग में अत्यन्त सुन्दर लगती है। ‘नि घ, म प घ, म ग’ इन स्वरों से खमाज अङ्ग स्पष्ट होता है।

प्रारोहे पञ्चमाल्पत्वमादिष्टं मर्मवेदिभिः।

अवसानं तु गान्धारे रागरूपं प्रदर्शयेत् ॥१०॥

विद्वानों ने इसके आरोह में पञ्चम का अल्पत्व बताया है। गान्धार पर स्वर-समूहों की समाप्ति अथवा न्यास से राग का विशिष्ट रूप प्रदर्शित होता है।

खम्माजमेलजन्येषु रागेषु गानकोविदः।

प्रयोगस्तीव्रनेर्लक्ष्येऽनुमतो रक्तिलब्धये ॥११॥

रञ्जकता-शुद्धि के लिए खमाजमेलजन्य रागों में तीव्र निषाद के प्रयोग को आधुनिक सङ्गीत में मान्य किया गया है।

(३) तिलङ्ग राग

खम्माजमेलसञ्जाता तिलङ्गिका बुधप्रिया।

आरोहे चावरोहेऽपि रिधहीनैव सम्मता ॥१२॥

सङ्गीतज्ञों की प्रिय तिलङ्गिका अथवा तिलङ्गी रागिनी, जिसके आरोह और अवरोह दोनों में ऋषभ-धैवत वर्ज्य हैं, खमाज मेल से उत्पन्न होती हैं।

गान्धारः सम्मतो वादी निषादोऽमात्य इरितः।

गानमस्याः समादिष्टं द्वितीयप्रहरे निशि ॥१३॥

इसका वादी स्वर गान्धार और संवादी निषाद है। गान-समय रात्रि का द्वितीय प्रहर है।

खम्माजप्रकृतिं धत्ते रागिणीयमसंशयम्।

औडुवौडुवरूपत्वाग्रागभेदो भवेत्स्फुटः ॥१४॥

इसमें सन्देह नहीं कि इसकी प्रकृति का सादृश्य खमाज राग की प्रकृति से है; किन्तु इसका स्वरूप औडुव-औडुव होने से खमाज से इसका भेद स्पष्ट हो जाता है।

स्वरनिपगमगसरेतद्रूपं परिस्फुटम्।

श्रोतारोऽपि स्वरैरेतैः कुर्वन्ति रागनिर्णयम् ॥१५॥

इसका स्वरूप ‘नि प, ग म ग, सा’ इन स्वरों से स्पष्ट होता है तथा श्रोता भी इन्हीं स्वरों से राग-निर्णय करते हैं।

सङ्गतिनिपयोश्चात्र भवेद्वागाङ्गदर्शिनी ।

धैवतस्य प्रपुप्तत्वात् खम्माजो नैव सम्भवेत् ॥१६॥

‘नि प’ सङ्गति इसमें राङ्गाग-दर्शक होती है । धैवत वर्ज्य होने के कारण खमाज की सम्भावना इस राग में नहीं होती ।

निर्दिशन्ति क्वचिच्चात्रावरोहे रिप्रयोजनम् ।

लक्ष्यमार्गमनुल्लङ्घ्य बुधः कुर्याद्यथोचितम् ॥१७॥

कुछ विद्वान् इसके अवरोह में ऋषभ का भी प्रयोग मान्य करते हैं । बुधजनों को इस सम्बन्ध में लक्ष्य-प्रचार की उपेक्षा न करते हुए यथोचित निर्णय करना चाहिए ।

रागोऽयं दुश्यते लक्ष्ये गीतो खम्माजमिभितः ।

सनिधमं भवेद् गानं तथाप्यस्य सुरक्तिवम् ॥१८॥

वर्तमान सङ्गीत में इस राग में प्रायः खमाज का मिश्रण भी दिखायी देता है तथापि स्वयं अपने नियमों के अनुसार गाये जाने पर भी, अर्थात् खमाज के मिश्रण के बिना भी यह राग अत्यन्त मधुर लगता है ।

(४) खम्बावती राग

खम्माजमेलसञ्जाता खम्बावत्याह्वया जने ।

खम्माजनियमानां सा भवेत्प्रायो विपर्ययात् ॥१९॥

खम्बावती खमाजमेल से उत्पन्न है तथा वह प्रायः खमाज राग के नियमों से ठीक विपरीत होता है ।

टीका—खम्बावती के लक्षण खमाज के लक्षणों के ठीक विपरीत हैं, यह आशय है । इसे स्पष्ट करते हुए आगामी श्लोकों में बताया गया है कि खमाज के आरोह में ऋषभ वर्ज्य है, जबकि इस राग के आरोह में वह महत्वपूर्ण स्वर है । इसी प्रकार अन्य कई बातों में ये दोनों राग एक-दूसरे के विरुद्ध प्रतीत होते हैं ।

प्रारोहे रिस्वरत्यक्तो खम्माजः सर्वसम्मतः ।

रागिण्यामृषभस्त्वत्र प्रारोहे रक्तिवर्धकः ॥२०॥

खमाज के आरोह में ऋषभ वर्ज्य माना जाता है । खम्बावती के आरोह में वह स्वर अत्यन्त रक्ति-वर्धक होता है ।

मध्यमात् षड्जसंस्पर्शो विशिष्टां रक्तिमावहेत् ।

षषधमगमसंः स्याद्वागाङ्गं सुपरिस्फुटम् ॥२१॥

२६४ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

मध्यम से षड्ज का संस्पर्श (अर्थात् 'म सा' ऐसा प्रयोग) इसमें अत्यन्त मधुर लगता है। खम्बावती का विशिष्ट अङ्ग 'ष प, ष म, ग म सा' इन स्वरों से व्यक्त होता है।

गान्धारः सम्मतो वादी धैवतोऽमात्यतुल्यकः ।

गानमस्याः समीचीनं रात्र्यां द्वितीययामके ॥२२॥

इसमें वादी स्वर गान्धार तथा सम्वादी स्वर धैवत है। गायन-समय रात्रि का द्वितीय प्रहर है।

उत्तराङ्गस्वरः किञ्चिद्वागीश्वर्यङ्गमुद्भवेत् ।

मृदुगान्धारहीनत्वात्पूर्वाङ्गे नैव सा भवेत् ॥२३॥

इसके उत्तराङ्ग में वागेश्री अङ्ग झलकने की कुछ सम्भावना है। किन्तु कोमल गान्धार के अभाव में पूर्वाङ्ग में वह अङ्ग नहीं हो सकता।

मधयोः सङ्गतिश्चित्रा ह्यवरोहे पक्वता ।

माण्डल्यमाजयोगोऽत्र शङ्कितो लक्ष्यवेदिभिः ॥२४॥

मध्यम और धैवत की सङ्गति इसमें वैचित्र्यपूर्ण होती है। इसके अवरोह में पञ्चम वक्र होता है। लक्ष्यज्ञ विद्वानों का अनुमान है कि खम्बावती का स्वरूप माण्ड और खमाज रागों के मिश्रण से निर्मित है।

रागतरङ्गिणीग्रन्थे तथा हृदयकौतुके ।

केदारमेलनोत्पन्ना खम्बावती समीरिता ॥२५॥

रागतरङ्गिणी तथा हृदयकौतुक में खम्बावती को केदारमेलजन्य कहा गया है।

(५) गारा राग

खम्माजमेलसंज्ञाता गारा स्याल्लोकविश्रुता ।

आरोहे चावरोहेऽपि सम्पूर्णा लक्ष्यविन्मते ॥२६॥

खमाजमेलजन्य सुप्रसिद्ध रागिनी गारा लक्ष्य-सङ्गीत के विद्वानों के अनुसार सम्पूर्णस्वरीया है।

गान्धारः सम्मतो वादी निर्धोवा मन्त्रितुल्यकः ।

गानमस्याः समीचीनं द्वितीयप्रहरे निशि ॥२७॥

इसमें वादी स्वर गान्धार है। संवादी निषाद अथवा धैवत माना जाता है। रात्रि का द्वितीय प्रहर इसका उचित गायन-समय है।

रागाध्याय : २६५

गान्धारी द्वी निषादी द्वौ निश्चितावत्र कोविदः ।

विलोमे कोमलौ प्रोक्तौ प्रारोहे तीव्रकौ निगौ ॥२८॥

सङ्गीतज्ञों ने इसमें दोनों गान्धारों एवं दोनों निषादों का प्रयोग बताया है, जिनमें से कोमल ग-नि अवरोह में तथा तीव्र ग-नि आरोह में लगते हैं ।

कल्याणीझिञ्झुटीयोगः कौशल्येन सुसाधितः ।

आरोहे प्रथमा व्यक्ता द्वितीया चावरोहणे ॥२९॥

इसमें कल्याण तथा झिञ्झूटी का अत्यन्त कौशलपूर्ण समन्वय होता है, जिनमें से कल्याण अङ्ग आरोह में तथा झिञ्झूटी अङ्ग अवरोह में आता है ।

क्षुद्रगीतार्हताऽप्यस्या रागिण्या यदि सम्मता ।

सुगीताऽवश्यमेवैषा भवेच्चित्तापहारिणी ॥३०॥

यद्यपि इसे क्षुद्र गीतों के योग्य राग माना जाता है तथापि अच्छी तरह प्रस्तुत किये जाने पर यह अवश्य ही मधुर लगता है ।

मन्द्रस्थमध्यमे षड्जमारोप्यामध्यममम् ।

यदेयं गीयते तज्ज्ञैर्लोके रक्तिप्रदा मता ॥३१॥

सङ्गीतज्ञों के मतानुसार, मन्द्र मध्यम को षड्ज मानकर मध्य मध्यम तक गाये जाने पर गारा राग अत्यन्त आकर्षक लगता है ।

टीका—इस राग को प्रायः मध्यम को षड्ज मान कर गाते हैं, क्योंकि इसका विस्तार मुख्यतः मन्द्र और मध्य सप्तकों में होता है ।

(६) दुर्गा राग

खम्माजमेलनेऽप्यन्या दुर्गा लक्ष्ये क्वचिच्छ्रुता ।

आरोहे चावरोहेऽपि रिपहीनैव लक्षिता ॥३२॥

प्रचलित सङ्गीत में कहीं-कहीं दुर्गा राग का खमाजमेलजन्य प्रकार भी सुनायी देता है, जिसके आरोहावरोह में ऋषभ और पञ्चम वर्ज्य हैं ।

गान्धारोऽत्र मतो वादी साहचर्ये निषादकः ।

गानं समीरितं तज्ज्ञैर्द्वितीयप्रहरे निशि ॥३३॥

इस राग का वादी स्वर गान्धार तथा संवादी निषाद है । गायन-समय रात्रि का द्वितीय प्रहर है ।

सङ्गतिर्धमयोश्चात्र वागोश्वर्यङ्गसूचिनी ।

गान्धारः कोमलस्तत्र स चात्रवास्तितीव्रकः ॥३४॥

२६६ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

इस राग में घ और म की सङ्गति बागेश्री अङ्ग का आभास उत्पन्न करती है; परन्तु बागेश्री में गान्धार कोमल है, जब कि दुर्गा में तीव्र ।

घसंयोगात्पलुप्तत्वात्तलङ्गीभित्परिस्फुटा ।

सम्पूर्णः प्रतिलोमेऽसौ खम्माजोऽस्या भजेद्भ्रुवाम् ॥३५॥

इस राग में घैवत लगने के कारण, तथा पञ्चम वर्ज्य होने के कारण, तिलङ्ग से इसका भेद स्पष्ट हो जाता है । खमाज भी सम्पूर्ण अवरोह-युक्त होने के कारण इससे भिन्न है ।

टीका—‘सा ग म’ स्वरों से इसमें तिलङ्ग का आभास हो सकता है; परन्तु इसमें प वर्ज्य है, जबकि तिलङ्ग में नहीं है । इसमें घ लगता है, जो तिलङ्ग में वर्ज्य है । इसका आरोह खमाज के आरोह के सदृश लग सकता है, परन्तु दोनों के अवरोहों में नितान्त भिन्नता है—दुर्गा का अवरोह ओडुव है; खमाज का सम्पूर्ण ।

झिञ्झूटी तु सदा पूर्णा प्रारोहे चावरोहणे ।

एवं दुर्गा भवेत्लक्ष्ये स्वतन्त्ररूपधारिणी ॥३६॥

झिञ्झूटी सम्पूर्ण आरोहावरोहयुक्त है । इस प्रकार वर्तमान सङ्गीत में दुर्गा का स्वतन्त्र स्वरूप है ।

(७) रागेश्वरी राग

खम्माजमेलनोत्पन्ना रागेश्वरी मता बुधः ।

आरोहे रिपहीनासौ विलोमे पञ्चमोच्चिता ॥३७॥

खमाज मेलोत्पन्न रागेश्वरी के आरोह में ऋषभ और पञ्चम, तथा अवरोह में पञ्चम वर्जित हैं ।

गान्धारः कथ्यते वादी निषादोऽमात्य ईरितः ।

गानं सुसम्मतं नित्यं द्वितीयप्रहरे निशि ॥३८॥

इसका वादी स्वर गान्धार और संवादी निषाद है । गान-समय रात्रि का द्वितीय प्रहर है ।

सङ्गतिर्धमयोश्चात्र भवेद्रक्तिप्रदायिनी ।

प्रतिलोमगतो रिस्तु दुर्गाभिदं समादिशेत् ॥३९॥

इस राग में घ और म की सङ्गति अतीव मधुर लगती है । इसके अवरोह में ऋषभ होने के कारण दुर्गा (खमाजमेलजन्य) से इसका भेद दिखायी देता है ।

रागाध्याय : २६७

रागाद्यलक्षणे ग्रन्थे रागिणीयं सुलक्षिता ।

नाटकुरञ्जिकानाम्नी कर्णाटकबुधप्रिया ॥४०॥

रागलक्षण नामक ग्रन्थ में रागेश्वरी को ही नाटकुरञ्जिका नामक दाक्षिणात्य रागिनी बताया गया है ।

(८) सोरठ राग (सोरटी)

खम्माजमेलनोत्पन्ना सोरटी शास्त्रसम्मता ।

आरोहे गधवर्ज्यं स्यादवरोहे समप्रकम् ॥४१॥

खमाज मेलजन्य सोरठ में अवरोह में गान्धार और धैवत वर्ज्य होते हैं, तथा अवरोह सम्पूर्ण है ।

ऋषभः सम्मतो वादी संवादी धैवतो भवेत् ।

गानं सुसम्मतं चास्या द्वितीयप्रहरे निशि ॥४२॥

इसका वादी स्वर ऋषभ तथा संवादी धैवत माना जाता है । गान-समय रात्रि का द्वितीय प्रहर है ।

गान्धारस्य प्रयोगोऽत्र विलोमे घर्षणान्वितः ।

दौर्वल्यं तत्स्वरस्य स्यादनुलोमेऽपि विन्मते ॥४३॥

इस राग में विद्वानों ने अवरोह में गान्धार का घर्षण-युक्त (अर्थात् मीण्ड के अन्तर्गत) प्रयोग बताया है, तथा आरोह में भी वह अत्यन्त दुर्बल होता है ।

मध्यमादृषभे पातः सोरट्यां जीवभूतकः ।

श्रोतारः प्रायशस्तेन कुर्वन्ति रागनिर्णयम् ॥४४॥

मध्यम से ऋषभ पर पात सोरठ का जीवभूत अङ्ग है, तथा श्रोता भी उसी के द्वारा राग-निर्णय करते हैं ।

प्राचुर्याद्गस्वरस्येह सम्भवेद्देसनामकः ।

सम्पूर्णो र्यंशको लक्ष्ये मर्मज्ञानां मतं त्विदम् ॥४५॥

लक्ष्य सङ्गीत के मर्मज्ञों के मतानुसार इसमें गान्धार की प्रबलता हो जाने से देस नामक राग बन जाता है, जो सम्पूर्ण तथा ऋषभवादी है ।

मृदुगस्य मनाक्स्पर्शो देसाख्ये कैश्चिदीरितः ।

यतस्तेन मते तेषां सोरटी भिन्नतां भजेत् ॥४६॥

२६८ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

देस में कोमल गान्धार का मनाक् स्पर्श कुछ विद्वानों ने मान्य किया है, ताकि वह सोरठ से भिन्न हो जाय ।

ऋषभादिस्तु सौराष्ट्री कम्पान्दोलितशोभिता ।

कर्णाटमेलने प्रोक्ता हृदयादिविवेकिभिः ॥४७॥

हृदयनारायण देव आदि मध्यकालीन शास्त्रकारों ने कर्णाटमेलजन्य सौराष्ट्री का उल्लेख किया है, जिसका ग्रह स्वर ऋषभ है, तथा जो कम्पनों और आन्दोलनों से युक्त है ।

रागलक्षणके ग्रन्थे सूरटी समुदीरिता ।

काम्भोजीमेलनोत्पन्ना प्रारोहे गधवर्जिता ॥४८॥

रागलक्षण में सूरटी नामक काम्भोजीमेलजन्य रागिनी वर्णित है, जिसके आरोह में गान्धार और धैवत वर्ज्य हैं ।

(९) तिलककामोद राग

खम्माजमेलसञ्जातः कामोदस्तिलकाद्यकः ।

सम्पूर्णो गीयते लक्ष्ये रात्र्यां द्वितीययामके ॥४९॥

खमाज मेल से उत्पन्न सम्पूर्ण राग तिलककामोद रात्रि के द्वितीय प्रहर का राग माना जाता है ।

प्रारोहे दुर्बलो धः स्याद्विचक्रं प्रतिलोभके ।

सोरटीदेसकाङ्गेन प्रायो लक्ष्ये प्रगीयते ॥५०॥

इसके आरोह में धैवत प्रायः दुर्बल होता है, तथा अवरोह में ऋषभ वक्र लगता है । यह राग प्रायः सोरठ तथा देस अङ्गों से गाया जाता है ।

ऋषभः सम्मतो वादी पञ्चमोऽभात्यसन्निभः ।

सङ्गत्या रिपयोर्नूनं भवेद्रक्तिप्रदो नृणाम् ॥५१॥

इस राग में वादी स्वर ऋषभ तथा संवादी पञ्चम है । ऋषभ-पञ्चम की सङ्गति से यह अत्यन्त मधुर लगता है ।

निषेधो मृदुनेरत्रादिष्टः कैश्चिद्यतस्ततः ।

बिहारीभिर्ब्रूवेत्स्पष्टा बुधः कुर्यात्स्वनिर्णयम् ॥५२॥

इस राग में कोमल निषाद का निषेध कुछ विद्वानों ने बताया है, ताकि 'बिहारी' नामक राग से इसका अन्तर स्पष्ट दिख सके । इस विषय में बुद्धिमानों को स्वयं ही यथोचित निर्णय करना चाहिए ।

टीका—‘विहारी’ नामक अप्रसिद्ध राग प्रकृति तथा चलन में तिलक-कामोद जैसा ही है, ऐसा प्रतीत होता है। इस राग का विवरण सम्भवतः यदा-कदा ही उपलब्ध हो पाता है, और वह प्रचार में भी नहीं है। सम्भवतः उसमें दोनों निषादों का प्रयोग होता है। इसी लिए, इस राग से तिलक-कामोद को बचाने के लिए उसमें केवल तीव्र निषाद का प्रयोग यहाँ बताया गया है। वैसे भी कोमल निषाद तिलककामोद में अत्यल्प ही है।

गान्धारात्षड्जसंस्पर्शो विरामो निस्वरे तथा ।

पनिसरिगतानोऽपि भवेयु रागवाचकाः ॥५३॥

गान्धार से षड्ज का स्पर्श (मींङ), निषाद पर विराम (या न्यास) तथा ‘प नि सा रे ग’ यह तान (स्वरसमूह)—ये तिलककामोद के रागवाचक अङ्ग हैं।

टीका—‘ग सा’ यह मींङ, नि पर न्यास तथा ‘प नि सा रे ग’, ये तीनों तिलककामोदक के विशेष प्रयोग हैं। ‘प नि सा...रे ग..सा..नि’ यह मुख्य अंश होता है। प्रायः मन्द्र निषाद पर आ कर रुका जाता है, जिससे देस सोरठ में भिन्नता दिखायी देती है।

आरोहणे यतो रिः स्यात् खम्माजः सम्भवेत्कथम् ।

प्राचुर्याद् गस्वरस्यात्र सोरठी नैव सम्भवेत् ॥५४॥

इस राग में आरोह में ऋषभ लगने के कारण खमाज के आभास की सम्भावना नहीं रह जाती। ग की प्रबलता के कारण सोरठ की भी सम्भावना नहीं है।

रागेश्वरी तथा दुर्गा रागिण्यौ पञ्चमद्विवे ।

द्विगान्धारा मता गारा रिधत्यक्ता तिलङ्गिका ॥५५॥

रागेश्वरी तथा दुर्गा (खमाजमेलजन्य) में पञ्चम वर्ज्य है। गारा में दोनों गान्धार लगते हैं। तिलङ्ग में ऋषभ वर्ज्य है। इस प्रकार ये सभी राग तिलककामोद से स्पष्टतः भिन्न हैं।

(१०) जयजयवन्ती राग

खम्माजमेलनाज्जाता जयावन्ती गुणिप्रिया ।

आरोहे चावरोहेऽपि सम्पूर्णा लक्ष्यत्सम्मता ॥५६॥

गुणीजनों की प्रिय जयजयवन्ती खमाजमेल से उत्पन्न सम्पूर्ण रागिनी है।

२७० : श्रीमल्लस्यसङ्गीतम्

ऋषभोऽत्र मतो वादी संवादी धैवतो भवेत् ।

गानं चास्याः समीचीनं द्वितीयप्रहरे निशि ॥५७॥

इसका वादी स्वर ऋषभ तथा संवादी धैवत है । गान-समय रात्रि का द्वितीय प्रहर उचित है ।

गान्धारो द्वौ निषादौ द्वौ रागिण्यामत्र सम्मताः ।

सोरठीदेसकाङ्गेन एषाऽपि स्यात्सुरक्षितदा ॥५८॥*

इसमें दोनों गान्धारों तथा दोनों निषादों का प्रयोग सम्मत है । यह राग भी सोरठ-देस अङ्गों से युक्त है ।

द्विरूपिस्वररागेषु नियमः प्रायशः श्रुतः ।

कोमलाख्याः स्वरास्तत्र प्रयुक्ताः स्युर्विलोमके ॥५९॥

एक ही स्वर के दोनों रूपों से युक्त रागों के सम्बन्ध में यह नियम प्रायः मान्य किया जाता है कि उनमें कोमल स्वरों का प्रयोग अवरोह में होना चाहिए ।

मन्द्रस्थपञ्चमस्येह रिस्वरेण सुसङ्गतिः ।

छायानटाह्वयस्याङ्गं कुत्रचित्सम्प्रदर्शयेत् ॥६०॥

छायानाटगता पर्योः सङ्गतिर्नात्र सम्भवेत् ।

‘प रे’ सङ्गति से इस राग में कहीं-कहीं छायानट-अङ्ग का आभास होता है, किन्तु छायानट की ‘प रे’ सङ्गति इस राग में नहीं आती ।

बेलावली तथा गौडः सोरट्यापि यथायथम् ॥६१॥

सम्मिलन्ति जयावन्त्यामित्यूचुः साम्प्रदायिनः ।

घरानेदार कलाकारों का कहना है कि जयजयवन्ती में यथायोग्य प्रमाण में बिलावल, गौड़ तथा सोरठ रागाङ्गों का सम्मिश्रण होता है ।

टीका—‘सम्प्रदाय’ से तात्पर्य यहाँ ‘घराना’ से है, ऐसी टीकाकार की मान्यता है । ‘घराना’ का सामान्य अर्थ है—कुटुम्ब । एक ही परिवार के सदस्यों में रङ्ग-रूप, आचार-व्यवहार इत्यादि अनेक बातों में समानता दिखायी

* सोरठ-देस अङ्ग के अतिरिक्त जयजयवन्ती को बागेश्री अङ्ग से भी गाया जाता है । प्रथम प्रकार में अन्तरे का उठान ‘म प, नि-सां’ ‘रे, म प; नि सां’ से होता है; और द्वितीय में ‘ग, म घ, नि सां’ से ।

रागाध्याय : २७१

पड़ती है तथा प्रत्येक परिवार की कुछ विशिष्टता भी प्रायः होती है। साङ्गीतिक अर्थ में, 'घराना' कलाकारों की उस परम्परा का द्योतक है जिसमें किसी गुरु के शिष्य-प्रशिष्यों में उसके कलागत वैशिष्ट्य, शैली, स्वरोच्चार आदि तत्त्व परिलक्षित होते हैं। भारतीय सङ्गीत में घरानेदार कलाकारों का अत्यन्त सम्मानपूर्ण स्थान है। राग-स्वरूपों का व्यवहार ये कलाकार अपने-अपने घरानों की मान्यताओं के अनुसार करते हैं।

खम्माजमेलजन्येषु रागेषु लक्ष्यविन्मते ॥६२॥

रागणीयं मता नित्यं परमेलप्रवेशिका ।

लक्ष्यसङ्गीत के विद्वान् खमाजमेलजन्य रागों में से जयजयवन्ती को परमेलप्रवेशक मानते हैं।

टीका—जयजयवन्ती में कोमल गान्धार का भी प्रयोग होता है। खमाजमेलजन्य कोमल निषादयुक्त रागों के उपरान्त काफीमेल के कोमल ग-नि युक्त रागों का गान-समय आता है। जयजयवन्ती के गायन से काफी-मेलजन्य रागों के लिए भूमिका बन जाती है, तथा खमाजमेल के शुद्ध ग से काफीमेलगत कोमल ग का परिवर्तन आकस्मिक नहीं लगता। इसी लिए जयजयवन्ती को गुणीजनों ने परमेलप्रवेशक माना है।

रागतरङ्गिणीग्रन्थे तथा हृदयकौतुके ॥

कर्णाटमेलने प्रोक्ता जयावन्ती तु पाशिका ॥६३॥

रागतरङ्गिणी तथा हृदयकौतुक में जयावन्ती को कर्णाट मेल से उत्पन्न, पञ्चम अंशस्वर युक्त, रागिनी वर्णित किया गया है।

टिप्पणी

खम्माजमेलजा रागा विभज्यन्ते द्विधा बुधः ।

गांशका न्यांशकाश्चेति रहस्यं गुणिसम्मतम् ॥६४॥

गुणीजन इस तथ्य का अनुमोदन करते हैं कि विद्वानों ने खमाजमेल-जन्य रागों को गान्धारवादी राग एवं ऋषभवादी राग इन दो वर्गों में विभाजित करने का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है।

खम्माजाङ्गा मता गांशाः सोरट्यङ्गास्तु न्यांशकाः ।

तत्त्वमेतत्स्मरेन्नित्यमुपदिष्टं विवेकिभिः ॥६५॥

२७२ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गातम्

सुज्ञजनों द्वारा निर्दिष्ट यह तत्त्व सर्वदा स्मरणीय है कि खमाजमेल के खमाजअङ्ग से युक्त रागों को गान्धारवादी राग माना गया है तथा सोरठ अङ्ग से युक्त रागों को ऋषभवादी ।

दूसरे शब्दों में, खमाजमेल के जिन रागों में वादी स्वर गान्धार है, वे खमाज-रागाङ्ग से गाये जाते हैं तथा ऋषभवादी राग सोरठ-देस अङ्ग से व्यवहृत होते हैं ।

झिञ्झूटी चाथ खम्माजो गारा दुर्गा तिलङ्गिका ।

रागेश्वरी मता एते गान्धारांशेन मण्डिताः ॥६६॥

झिञ्झूटी, खमाज, गारा, दुर्गा, तिलङ्ग तथा रागेश्वरी—ये राग गान्धारवादी हैं ।

सोरठी देस इत्याह्वः कामोदस्तिलकाद्यकः ।

जयावन्तीति रागास्ते त्र्यंशका लक्ष्यविन्मते ॥६७॥

लक्ष्यज्ञ विद्वानों ने सोरठ, देस, तिलककामोद तथा जयजयवन्ती को ऋषभवादी राग माना है ।

जयावन्तीह सा नूनं द्विगान्धारसुयोगतः ।

सूचयेत्परमेलं तं कर्णाटाख्यमसंशयम् ॥६८॥

दोनों गान्धारों से युक्त जयजयवन्ती कर्णाट नामक एक अन्य मेल को सूचित करती है, इसमें सन्देह नहीं ।

मिश्ररागास्त्वनन्तास्ते कस्तान् वर्णयितुं क्षमः ।

केवलं ते समुन्नीया लक्ष्यमालम्ब्य कोविदः ॥६९॥

मिश्रराग तो अनन्त हैं । उनका वर्णन करने में कौन समर्थ हो सकता है ? सङ्गीतज्ञों को मिश्ररागों के स्वरूपों का निर्वाह केवल प्रचलित पद्धति का अवलम्ब लेते हुए ही करना चाहिए ।



भैरवमेलजन्य राग

(१) भैरव राग

भैरवाख्यसुमेलाच्च जातो भैरवनामकः ।

आरोहे चावरोहेऽपि सम्पूर्णः सर्वसम्मतः ॥१॥

भैरव नामक राग, जो सम्पूर्णारोहावरोही है, भैरव मेल से उत्पन्न हुआ है ।

धैवतः सम्मतो वादी संवादी ऋषभो भवेत् ।

गानमस्य समादिष्टं प्रातःकालेऽतिरक्तिवम् ॥२॥

इस राग का वादी स्वर धैवत और संवादी स्वर ऋषभ है । प्रातः समय में इस राग का गान अत्यन्त मधुर लगता है ।

प्रारोहे ऋषभात्पत्वं संप्रोक्तं मर्मवेदिभिः ।

आन्दोलनं तथैव स्याद्विधयोरिति सम्मतम् ॥३॥

विद्वानों ने इस राग के आरोह में ऋषभ का अल्पत्व बताया है । ऋषभ तथा धैवत पर आन्दोलन भी विद्वानों ने इस राग में बताये हैं ।

टीका — भैरव राग में रे-धु पर विशिष्ट ढंग से आन्दोलन होते हैं । आन्दोलित रे-धु इस राग का विशेष अङ्ग हैं ।

सायंकाले यथा प्रोक्तं वैचित्र्यं गनिषादयोः ।

रिषयोस्तत्तथैव स्यात्प्रातःकाले मते सताम् ॥४॥

जिस प्रकार सन्ध्याकालीन रागों में गान्धार और निषाद वैचित्र्यपूर्ण स्वर कहे गये हैं उसी प्रकार प्रातर्गेय रागों में ऋषभ और धैवत भी वैचित्र्य-युक्त स्वर माने गये हैं ।

टीका—‘वैचित्र्यपूर्ण’ से अग्निप्राय यहाँ विशिष्ट स्वर है । सन्ध्याकालीन तथा उनके निकटवर्ती रात्रिगेय रागों में ग-नि (शुद्ध) बड़े महत्व के स्वर हैं तथा ऐसे अधिकांश रागों के वादी-संवादी भी वे ही स्वर होते हैं । दूसरी ओर, उषाकालीन तथा उनके निकटवर्ती रागों में रे-ध महत्वपूर्ण हो जाते हैं । ये स्वर ही उनमें संवादी-वादी का स्थान प्राप्त करते हैं, तथा राग-स्वरूप के नियामक होते हैं । रे-ध का कोमलत्व सन्धिप्रकाश रागों का निर्णायक लक्षण है तथा प्रातःकालीन रागों में से भैरव अङ्ग के रागों में तो उनका विशिष्ट प्रयोग होता है ।

ग्रन्थेषु केषुचित्तत्र निषादो कोमलो मतः ।

अवरोहे न रक्तिघ्नो भूयादिति विदो विदुः ॥५॥

कुछ सङ्गीत-ग्रन्थों में भैरव राग में निषाद कोमल माना गया है । विद्वज्जन जानते हैं कि इस राग के अवरोह में कोमल निषाद का प्रयोग राग-नाशक नहीं प्रतीत होता ।

टीका—किसी-किसी मत में भैरव में कोमल नि भी मानते हैं, किन्तु भैरव के प्रचलित लोकप्रिय स्वरूप में तो वह स्वर केवल अवरोह में कभी-कभी

२७४ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

अल्प-प्रयुक्त होता है। ऐसा प्रयोग राग की रञ्जकता को नष्ट करने के स्थान पर उसमें वृद्धि ही करता है।

मध्यमस्य प्रमुक्तत्वं प्रयोगे लक्षितं क्वचित्।

तत्स्वरदादृषभे पातो रक्तिदो घर्षणान्वितः ॥६॥

इस राग में मध्यम का मुक्त प्रयोग भी दृष्टिगोचर होता है, तथा मध्यम से ऋषभ पर घर्षणयुक्त पात बहुत सुन्दर लगता है।

टीका—भैरव में मध्यम को मुक्त रूप से भी लिया जाता है। यह क्रिया उस स्वर पर बार-बार आकर काफी देर तक रुकने, तथा स्वर-समुदायों की समाप्ति उस पर करने में दिखायी देती है; यथा—सा-म^०, म^०म^०,
प...म^०..., घु...घु...घु...प...म... इत्यादि।

मध्यम से कोमल ऋषभ पर प्रायः 'म . (म) गं रे . . रे . .' इस प्रकार आते हैं। घर्षणान्वित पात' का अर्थ यहाँ घर्षण या घसीट के साथ एक स्वर से दूसरे स्वर पर आना है।

भैरवोऽयं यथा प्राप्तः श्रीरागः सायमीरितः।

एकस्मिन्धैवतो राजाऽन्यस्मिन् स्यादृषभस्तथा ॥७॥

जिस प्रकार प्रातःकाल में भैरव राग है, उसी प्रकार सायङ्काल के समय श्रीराग है। प्रथम का वादी स्वर धैवत है और द्वितीय का ऋषभ।

टीका—अभिप्राय यह है कि भैरव और श्री ये दो राग प्रकृति-साम्य रखते हैं। दोनों ही गम्भीर राग हैं। दोनों में सन्धिप्रकाशत्व के लक्षण स्पष्ट हैं। रे-घ के विशिष्ट प्रयोग दोनों के जीवभूत अंश हैं। भैरव में रे-म-घु स्वर प्रातर्गेयत्व के स्पष्ट परिचायक हैं, और श्री में रे-म-घु सायङ्गेयत्व के। श्रीराग में भी रे एक विशिष्ट ढङ्ग से लिया जाता है। 'सा . . सा रे... गं रे...सा' के बिना श्रीरागाङ्ग का आविर्भाव हो ही नहीं सकता। इसी प्रकार आन्दोलित रे-घु के बिना भैरव-स्वरूप का रूपायन सम्भव ही नहीं। श्रीराग में पूर्वाङ्ग का प्राधान्य है और भैरव में उत्तराङ्ग का।

आन्दोलितौ रिधावन्न यतो रागाङ्गवाचकौ।

दृढपरिश्रमेणेनौ प्रथमं साधयेद् बुधः ॥८॥

आन्दोलित ऋषभ-धैवत इस राग के अङ्गवाचक स्वर हैं। इन स्वरों को आरम्भ में ही प्रयत्नपूर्वक साधा जाना चाहिए।

रागाध्याय : २७५

भैरवमेलजा लक्ष्ये प्रकारा बहवोऽपि ते ।

प्रातर्गैया मतास्तज्ज्ञंभैरवाङ्गेन मण्डिताः ॥१॥

भैरवमेलजन्य अनेक भैरवअङ्गयुक्त राग आधुनिक सङ्गीत में प्रचलित हैं, जिन्हें प्रातर्गैय माना गया है ।

शुद्धभैरवनामापि रागो ग्रन्थेषु लक्षितः ।

स तु भैरविमेलोत्थो रिपवर्जित औडुवः ॥१०॥

सङ्गीत ग्रन्थों में 'शुद्ध भैरव' नामक राग भी उल्लिखित है, किन्तु वह भैरवीमेलजन्य है, और उसमें ऋषभ-पञ्चम वर्ज्य होने के कारण वह औडुव है ।

(२) बङ्गालभैरव राग

भैरवाख्यसुमेलाच्च बङ्गालभैरवो मतः ।

आरोहे चावरोहेऽपि निषादस्वरवर्जितः ॥११॥

भैरव मेल से उत्पन्न बङ्गालभैरव राग में निषाद स्वर वर्जित है ।

धैवतोऽत्र मतो वादी गवक्रश्चावरोहणे ।

गान सुनिश्चित तस्य प्रातःकाले मनीषिभिः ॥१२॥

इसमें वादी स्वर धैवत है । अवरोह में गान्धार वक्र लगता है । इसका गान-समय प्रातःकाल माना गया है ।

सधयोः सङ्गतिश्चात्र भवेद्विषयप्रदायिनी ।

भैरवस्य प्रभेदो यद्भैरवाङ्गं परिस्फुटम् ॥१३॥

'सा-धु' की सङ्गति इस राग में अत्यन्त मधुर लगती है । भैरव-प्रकार होने के कारण इसमें भैरव अङ्ग स्पष्ट दिखायी देता है ।

बङ्गाली चाथ बङ्गालो रागौ लक्ष्ये स्वतन्त्रकौ ।

रहस्यं विश्रुतं त्वेतत्सर्वेषां गानवेदिनाम् ॥१४॥

लक्ष्य-प्रचार में 'बंगाली' और 'बंगाल' ये दो भिन्न-भिन्न राग हैं, यह रहस्य समस्त सङ्गीतज्ञों को ज्ञात है ।

(३) शिवभैरव (शिवमतभैरव) राग

भैरवे मेलने प्रोक्तो भैरवः शिवपूर्वकः ।

मिश्रमेलसमुत्पन्नो भैरवाङ्गेन मण्डितः ॥१५॥

शिवभैरव राग को भैरव मेल के अन्तर्गत बताया गया है । भैरव अङ्ग से युक्त यह राग मिश्रितमेलजन्य है ।

२७६ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

टीका—शिवभैरव में दोनों ग-नि प्रयुक्त होते हैं, अतः स्वरों की दृष्टि से तो उसे मिश्रित स्वरमेल से उत्पन्न माना जाना चाहिए किन्तु भैरव अङ्ग का राग होने के कारण उसे भैरवमेलोत्पन्न रागों के साथ रखा जाता है। दशमेल-राग-व्यवस्था में केवल स्वरों का शुद्धत्व-विकृतत्व ही राग-वर्गीकरण का एकमात्र आधार नहीं है, अपितु अङ्गप्राधान्य, राग-स्वरूप इत्यादि अन्य कई तत्व भी राग के मेल-निर्धारण के लिए द्रष्टव्य होते हैं।

धैवतोऽत्र मतो वादी संवादी रिषभः स्मृतः ।

गानमस्य समीचीनं प्रत्यूषसमयोचितम् ॥१६॥

इसमें धैवत वादी और ऋषभ संवादी है। गान-समय उषाकाल उचित है।

द्विगान्धारद्विनिषादो गीयते लक्ष्यवर्त्मनि ।

प्रसिद्धिविधुरत्वात्तु रागोऽयं वादमूलकः ॥१७॥

दोनों गान्धारों और दोनों निषादों से युक्त यह राग अल्पप्रसिद्ध होने के कारण विवादास्पद है।

प्रारोहे गनितीव्रत्वाद्भैरवाङ्गं प्रदर्शयेत् ।

अवरोहे गमृदुत्वादीषत्तोड्यङ्गमादिशेत् ॥१८॥

शिवभैरव में तीव्र गान्धार-निषाद से भैरव अङ्ग प्रदर्शित होता है तथा अवरोह में कोमल गान्धार के कारण किंचित् तोड़ी अङ्ग का आभास होता है।

मते केषाञ्चिदप्येष शुद्धाख्यभैरवः स्वयम् ।

मृदुगनी रिपयुक्तः शुद्धाख्यः शास्त्रगोचरः ॥१९॥

कुछ विद्वानों के मतानुसार, शिवभैरव ही शुद्ध भैरव है। सङ्गीत-शास्त्रग्रन्थों में वर्णित शुद्ध भैरव कोमल गान्धार-निषादयुक्त तथा ऋषभ-पञ्चमयुक्त राग है।

प्रयोगे धैवतस्तीव्रः क्वचित्लक्ष्ये समीक्ष्यते ।

मनाक्स्पर्शगतो न स्याद्रक्तिहानिकरोऽप्यसौ ॥२०॥

वर्तमान सङ्गीतपद्धति में कभी-कभी इस राग के व्यवहार में तीव्र धैवत दिखायी देता है। मनाक् स्पर्शगत यह प्रयोग रागरक्तिनाशक नहीं है।

(४) आनन्दभैरव राग

मेलान्मालवगौळीयाज्जातो रागो गुणिप्रियः ।

आनन्दभैरवाख्यातः सम्पूर्णो मांशकस्तथा ॥२१॥

गुणी जनों का प्रिय राग आनन्दभैरव मालवगौड मेल (भैरव मेल) से उत्पन्न हुआ है। सम्पूर्णस्वरीय इस राग का वादी स्वर मध्यम है।

टीका—मध्यम के वादित्व की स्थिति में संवादित्व षड्ज को प्राप्त होता है, यह कहने की आवश्यकता नहीं।

पूर्वाङ्गे भैरवः प्रोक्तो वेलावल्युत्तराङ्गके ।

गानं समीरितं चास्य प्रातःकाले सुरक्षितवम् ॥२२॥

इसके पूर्वाङ्ग में भैरव अङ्ग तथा उत्तराङ्ग में विलावल अङ्ग है। गान का समय प्रातःकाल है।

आदिशन्ति पुनः केचिद्वृद्धमनुलोमके ।

तीव्रघं चावरोहेऽपि बुधः कुर्याच्चिथोचितम् ॥२३॥

कुछ विद्वान् इसमें आरोह में कोमल धैवत का भी प्रयोग बताते हैं, तथा अवरोह में तीव्र धैवत का। इस विषय में विद्वानों को यथायोग्य निर्णय करना चाहिए।

रागोऽयं गीयते लक्ष्ये भैरवाङ्गेन नित्यशः ।

अतो भैरवभेदोऽसौ सम्मतो लक्ष्यवर्त्मनि ॥२४॥

लक्ष्य में यह राग सर्वदा भैरव अङ्ग से गाया जाता है, अतः इसे भैरव-प्रकार माना गया है।

आनन्दभैरवीरागो गनिकोमलमण्डितः ।

रागलक्षणके प्रोक्तः स चास्माद्भेदमर्हति ॥२५॥

रागलक्षण नामक ग्रन्थ में आनन्द भैरवी नामक कोमल गान्धार निषाद-युक्त राग वर्णित है जो हमारे प्रचलित आनन्द भैरव से नितान्त भिन्न है।

प्रमुक्तो मध्यमोऽप्यत्र भवेदतिमनोहरः ।

ऋषभान्दोलनं स्पष्टं भैरवाङ्गं प्रदर्शयेत् ॥२६॥

मुक्त मध्यम इस राग में अत्यन्त सुन्दर प्रतीत होता है। ऋषभ पर आन्दोलनों के द्वारा भैरव अङ्ग स्पष्ट होता है।

(५) अहीरभैरव राग

भैरवस्यैव मेलोच्च सञ्जातोऽहीरभैरवः ।

आरोहे चावरोहेऽपि सम्पूर्णस्तद्विदां मते ॥२७॥

२७८ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

अहीरभैरव राग भैरव मेल से उत्पन्न हुआ है । विद्वानों के मतानुसार यह सम्पूर्ण राग है ।

मध्यमः सम्मतो वादी संवादी षड्ज ईरितः ।

गानमस्य समीचीनं प्रातःकाले सुरक्षितम् ॥२८॥

इसमें वादीस्वर मध्यम तथा संवादी षड्ज है । गान-समय प्रातःकाल है ।

पूर्वाङ्गे भैरवः स्पष्ट उत्तराङ्गे हरप्रिया ।

वैचित्र्यं तु भवेदत्र मिश्रणादङ्गयोर्द्वयोः ॥२९॥

इसके पूर्वाङ्ग में भैरव तथा उत्तराङ्ग में हरप्रिया (काफी) अङ्गों का मिश्रण होता है । इन दोनों अङ्गों से युक्त यह रागरूप अत्यन्त वैचित्र्यपूर्ण है ।

ऋषभस्तीव्रकोऽप्यत्र प्रारोहेऽनुमतः क्वचित् ।

मध्यमेन प्रमुक्तेन रागोऽयं स्यात्सुखावहः ॥३०॥

आरोह में तीव्र ऋषभ का क्वचित् प्रयोग भी इस राग में मान्य किया जाता है । मुक्त मध्यम के प्रयोग से यह राग अत्यन्त मधुर प्रतीत होता है ।

रागलक्षणके ग्रन्थे ह्यहीरी सांशिका मता ।

हनुमत्तोडिमेलोत्था तद्रूपं तु स्वतन्त्रकम् ॥३१॥

रागलक्षण नामक ग्रन्थ में, हनुमत्तोडीमेलजन्य, षड्ज अंश युक्त, अहीरी नामक रागिनी वर्णित है, परन्तु वह एक भिन्न ही राग है ।

(६) प्रभातभैरव राग

भैरवस्यैव मेलोच्च जातः प्रभातभैरवः ।

आरोहे चावरोहे च सम्पूर्णः सम्मतः सताम् ॥३२॥

भैरवमेलजन्य प्रभातभैरव सम्पूर्ण आरोहावरोही राग माना गया है ।

मध्यमोऽत्र भवेद्वादी संवादी षड्जनामकः ।

गानं चास्य समीचीनं प्रभातसमये शुभम् ॥३३॥

इसका वादीस्वर मध्यम एवं संवादी षड्ज है । गान समय प्रातःकाल है ।

भैरवस्थौ रिधावत्र प्रातःकालप्रसूचकौ ।

प्रमुक्तमध्यमाच्चायं भैरवाद्भेदमर्हयेत् ॥३४॥

भैरव अङ्ग से लिये जाने वाले ऋषभ-धैवत प्रातर्गैयत्व के परिचायक होते हैं । प्रभातभैरव में प्रयुक्त मुक्त मध्यम भैरव राग से इसका भेद व्यक्त करता है ।

रागाध्याय : २७९

टीका—भैरव प्रकार होने के कारण इस राग में भी भैरव की ही भाँति रे-ध्रु आन्दोलित हैं। मध्यम का मुक्त प्रयोग भैरव में भी होता है, किन्तु इस राग में वह ललित अङ्ग से लिया जाता है।

मुक्तत्वान्मध्यमस्येह ललिताङ्गं समुद्भवेत् ।

पञ्चमस्य प्रयोगेण तदङ्गं दूरतां व्रजेत् ॥३५॥

मुक्तमध्यम के प्रयोग से इस राग में ललित अङ्ग प्रकट होता है, परन्तु पञ्चम के प्रयोग से उस अङ्ग का तिरोभाव हो जाता है।

तीव्रमस्य मनाक्स्पर्शो लक्ष्येऽत्र दृश्यते क्वचित् ।

अवरोहे न रक्तिघ्नः स इत्युक्तं विचक्षणः ॥३६॥

इस राग में, कमी-कमी अवरोह में तीव्रमध्यम का मनाक् स्पर्श भी दिखायी देता है जो विद्वानों के अनुसार, रक्तिनाशक नहीं है, वरंच, रक्ति-वर्धक है।

(७) सौराष्ट्रभैरव राग

भैरवे मेलने ख्यातो रागः सौराष्ट्रभैरवः ।

मिश्रमेलसमुत्थोऽसौ प्रातर्गोयो निवुर्बलः ॥३७॥

भैरव मेल से उत्पन्न सौराष्ट्रभैरव को मिश्रमेलजन्य भी माना जाता है। इस प्रातर्गोय राग में निषाद दुर्बल होता है।

मध्यमः सम्मतो वादी संवादी षड्ज ईरितः ।

सम्पूर्णो गीयते लक्ष्ये धैवतद्वयसंयुतः ॥३८॥

मध्यम वादी एवं षड्ज संवादी युक्त यह राग सम्पूर्ण है। इसमें दोनों धैवतों का प्रयोग प्रचलित सङ्गीत में दिखाई देता है।

प्रारोहे तीव्रधो युक्तः कोमलः स्याद्विलोमके ।

विचित्रं रूपकं चैतल्लक्ष्ये वैमत्यकारणम् ॥३९॥

तीव्र धैवत आरोह में और कोमल धैवत अवरोह में प्रयुक्त होता है। अपने विचित्र स्वरूप के कारण यह राग वर्तमान सङ्गीतपद्धति में अत्यन्त विवादग्रस्त राग है।

(८) रामकली राग

भैरवस्यैव मेलोच्च जातो रागः सुनामकः ।

रामकलीति विख्यातः सम्पूर्णो लक्ष्यविश्रुतः ॥४०॥

२८० : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

रामकली नामक अत्यन्त लोकप्रिय राग भैरवमेल से उत्पन्न सम्पूर्ण राग है ।

धैवतोऽत्र मतो वादी कंश्चित्पञ्चम ईरितः ।

गानमस्य समीचीनं प्रातःकालेऽतिरक्तिदम् ॥४१॥

इसका वादी स्वर धैवत है । कुछ लोग पञ्चम को वादी मानते हैं । इसका गान प्रातःकाल में समीचीन एवं रक्तिदायक होता है ।

रागोऽयमुद्धतो लक्ष्ये मध्यमद्वयमण्डितः ।

प्रायो मस्तीन्नकश्चेह प्रारोहणे प्रयुज्यते ॥४२॥

लक्ष्यप्रचार में यह राग दोनों मध्यमों से युक्त है । तीव्र मध्यम प्रायः आरोह में प्रयुक्त होता है ।

टीका—रामकली में तीव्र मध्यम का विशिष्ट प्रयोग है । अत्यन्त अल्प-प्रमाण में यदा-कदा आरोह में वह स्वर लिया जाता है, वह भी “मं प”, घ नि घ. प” इस प्रकार ।

मुक्तत्वं मध्यमे युक्तं शुद्धे लक्ष्यविदां मते ।

रिधावान्दोलितावन्न भैरवाङ्गप्रसूचकौ ॥४३॥

लक्ष्यज्ञ पण्डितों ने इस राग में शुद्ध मध्यम के मुक्त प्रयोग को उपयुक्त माना है । आन्दोलन युक्त ऋषभ-धैवत इस राग में भैरव अङ्ग को प्रकट करते हैं ।

कोमलस्य निषादस्य प्रयोगः क्रियते यदा ।

तदा मपधनिषपतानः स्याद्वागवाचकः ॥४४॥

रामकली में कोमल निषाद का प्रयोग ‘मं प, घ नि घ प’ इस प्रकार किया जाता है तथा यही स्वरसमूह रामकली का सूचक है ।

मन्द्रमध्यस्वरैर्गीतो भैरवो रक्तिदो यथा ।

रामकली मता तज्जैर्मध्यतारस्वरैस्तथा ॥४५॥

भैरव राग मन्द्र तथा मध्य सप्तकों में माधुर्यपूर्ण लगता है, जबकि सङ्गीतज्ञों ने रामकली को मध्य और तार स्वर-प्रधान माना है ।

रागलक्षणके ग्रन्थे रामकली प्रकीर्तिता ।

आरोहे तु मनित्यक्ताऽवरोहे मध्यमोज्ज्वला ॥४६॥

रागलक्षण नामक ग्रन्थ में रामकली को मध्यमरहित तथा आरोह में निषाद से रहित बताया गया है ।

रागाध्याय : २८१

रामक्रिया मता तत्रारोहे पञ्चमवर्जिता ।

अवरोहे महीनाऽपि न तल्लक्ष्येऽत्र गोचरम् ॥४७॥

रागलक्षण में 'रामक्रिया' नामक आरोह में पञ्चम और अवरोह में मध्यम-निषाद वर्जित राग भी वर्णित है, परन्तु वह राग वर्तमान सङ्गीत में उपलब्ध नहीं है ।

हृदयकौतुके ग्रन्थे रामकरी मुलक्षिता ।

गौरीमेलसमुत्पन्ना प्रारोहे मध्यमोज्जिता ॥४८॥

हृदयकौतुक में रामकरी को गौरीमेलजन्य, आरोह में मध्यम वर्जित रागिनी बताया गया है ।

रिषकोमलसंयुक्ता गनितीव्रा मतीव्रका ।

आरोहे मनिवर्ज्या च पांशाऽहोबलसम्मता ॥४९॥

अहोबल के मतानुसार यह रागिनी कोमल ऋषम-धैवत और तीव्र गान्धार-मध्यम-निषाद से युक्त है, एवं उसके आरोह में मध्यम-निषाद वर्जित हैं तथा उसमें अंश स्वर पञ्चम है ।

(९) गुणकरी राग

मेलने भैरवस्यैव गुणकरी मता बुधैः ।

आरोहे चावरोहे च गनिवर्ज्या तथौडुवा ॥५०॥

गान्धार-निषाद रहित औडुव रागिनी गुणकरी (जिसे 'गुणक्री' और 'गुणकली' भी कहते हैं) को विद्वानों ने भैरवमेलोत्पन्न माना है ।

धैवतोऽत्र मतो वादी संवादी रिषभस्वरः ।

गानमस्याः समीचीनं प्रातःकाले सुरक्षितवम् ॥५१॥

इसका वादी स्वर धैवत और संवादी स्वर ऋषभ है । गान-समय प्रातःकाल है ।

रागोज्यं गीयते लक्ष्ये भैरवाङ्गेन नित्यशः ।

भक्तिमार्गे प्रयुक्तः सन् तापत्रयं निवारयेत् ॥५२॥

यह राग भैरव अङ्ग से गाया जाता है । भक्तिसङ्गीत में प्रयुक्त यह राग त्रिविधतापहारक है ।

टीका—गुणकरी में रे-ध्रु भैरव अङ्ग के अनुसार हैं । गम्भीर प्रकृति के इस राग में प्रायः भक्तिपूर्ण रचनाओं का गायन होता है ।

२८२ : श्रीमल्लक्ष्म्यसङ्गीतम्

उद्ग्राहो मरिसङ्गत्या क्वचिद् दृष्टः समादृतः ।
संयुक्तो भैरवाङ्गेन न रक्तिघ्नो मते मम ॥५३॥

गुणकरी का उद्ग्राह मध्यम और ऋषभ की सङ्गीति से किया हुआ दिखायी देता है। मेरे विचार से, भैरव अङ्गयुक्त इस राग में ऐसा प्रयोग अनुचित नहीं है।

टीका—‘उद्ग्राह’ का अर्थ यहाँ ‘आरम्भ’ से है। गुणकली की शुरुआत प्रायः ‘म ... रे... रे .. सा’ इस प्रकार की जाती है। यह राग भी भैरव अङ्ग से गाया जाता है, अतः राग का आरम्भ इस स्वर से किये जाने पर राग-हानि तो होती नहीं, अपितु रंजकता में वृद्धि ही होती है। ‘म रे’ सङ्गीति खास भैरव अङ्ग से लेने पर जोगिया से यह राग बिल्कुल अलग हो जाता है, क्योंकि जोगिया में मध्यम प्रधान है, और इस राग में इस सङ्गीति में मध्यम के स्थान पर ऋषभ पर न्यास किया जाता है।

सङ्गत्या रिमयोरत्र जोगियाङ्गं समुद्भवेत् ।
निषादाभावतोऽत्र स्याज्जोगियाभित् परिस्फुटा ॥५४॥

ऋषभ और मध्यम की सङ्गीति से इस राग में जोगिया अङ्ग का आभास होता है, किन्तु निषाद के अभाव के कारण जोगिया से इसका पार्थक्य स्पष्ट हो जाता है।

रिषकोमलसंयुक्ता गनिवर्ज्या गुणक्रिया ।
वर्णिताऽहोबलेनापि स्वग्रन्थे पारिजातके ॥५५॥

पण्डित अहोबल ने भी सङ्गीतपारिजात में गुणक्रिया को कोमल ऋषभ-ध्रुवत युक्त एवं गान्धार-निषाद वर्जित प्रतिपादित किया है।

गान्धारवर्जिता प्रोक्ता लोचनेन विपश्चिता ।
अवरोहे निसंयुक्ता गौरीमेले परिस्फुटा ॥५६॥

पण्डित लोचन ने गुणकरी को गौरीमेलजन्य गान्धार रहित, तथा अवरोह में निषादयुक्त रागिनी कहा है।

(१०) जोगिया राग

भैरवस्यैव मेले स्याज्जोगिया लोकविश्रुता ।
गान्धारस्वरसन्त्यक्ता नित्यक्ता चाधिरोहणे ॥५७॥

रागाध्याय : २८३

सुप्रसिद्ध राग जोगिया भैरव मेल से उत्पन्न हुआ है। इसमें गान्धार पूर्णतः वर्जित है, तथा आरोह में निषाद भी वर्जित है।

मध्यमोऽत्र भवेद्वादी संवादी षड्ज ईरितः।

गानमस्याः समादिष्टं प्रातःकाले सुरक्तिदम् ॥५८॥

इसका वादी स्वर मध्यम और संवादी स्वर षड्ज है। गायन-समय प्रातःकाल है।

रिमयोर्धमयोश्चात्र सङ्गती बहुरक्तिदे।

मध्यमस्य प्रमुक्तत्वं नित्यं रागाङ्गमादिशेत् ॥५९॥

इस राग में 'रे-म' तथा 'धु-म' की सङ्गतियाँ अत्यन्त मधुर लगती हैं। मध्यम के मुक्त प्रयोग से जोगिया का विशिष्ट अङ्ग प्रकट होता है।

जोगिया प्रकृतिश्चेत्सावेरीसदृशी मता।

अवरोहे गसंयुक्ता सावेरी सर्वसम्मत ॥६०॥

जोगिया की प्रकृति बहुत कुछ सावेरी के समान है। परन्तु, सावेरी के अवरोह में गान्धार लगता है।

(सावेरी एक दाक्षिणात्य राग है।)

सावेरी भैरवश्चात्र सम्मिलतो यथायथम्।

इति समर्थितं कैश्चिन्न तद्भाति विसङ्गतम् ॥६१॥

कुछ विद्वानों ने कहा है कि इस राग में सावेरी तथा भैरव का यथा-प्रमाण मिश्रण होता है। यह मत विसङ्गत प्रतीत नहीं होता।

(११) कलिङ्ग (कालिङ्गड़ा) राग

भैरवस्यैव मेले स्यात्कलिङ्गस्य मता जनुः।

आरोहे चावरोहेऽपि कलिङ्गः पूर्ण ईरितः ॥६२॥

कलिङ्गड़ा राग को भैरवमेलजन्य सम्पूर्ण राग माना जाता है।

धैवतः पञ्चमो वाऽत्र स्वरो वादीति सम्मतः।

गानं सुसम्मतं चास्य चतुर्थप्रहरे निशि ॥६३॥

इस राग में धैवत अथवा पञ्चम को वादी माना जाता है। गायन समय रात्रि चतुर्थ प्रहर है।

ह्रस्वत्वादिधयोश्चात्र भैरवो नैव सम्भवेत्।

चञ्चलप्रकृतिश्चायं सम्मतो लक्ष्यवेदिताम् ॥६४॥

२८४ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

इस राग में ऋषभ-धैवत की ह्रस्वता (अल्पता) के कारण भैरव का आभास सम्भव नहीं है । लक्ष्यज्ञों ने इसे चञ्चल प्रकृति का राग माना है ।

टीका—भैरव के ३ ध्रु दीर्घ आन्दोलित होते हैं; कालिङ्गड़ा में ३ ध्रु न तां बहुत्वयुक्त ही होते हैं, और न ही आन्दोलित ।

सम्पूर्ण सरल रूपमेतत्सर्वगुणप्रियम् ।

ध्रुवगीतोपपन्नं च सर्वत्रैव सुरक्तिदम् ॥६५॥

सम्पूर्ण तथा सरल स्वरूप का यह राग सङ्गीतज्ञों का प्रियकर है । साथ ही, ध्रुव अर्थात्, 'हल्के-फुल्के' गीतों का गान भी इस राग में सर्वजनमन-रञ्जक होता है ।

(१२) विभास राग

भैरवाख्यसुमेले च जातो रागो विभासकः ।

आरोहे चावरोहेऽपि निमध्यमविवर्जितः ॥६६॥

आरोह और अवरोह दोनों में मध्यम और निषाद से रहित राग विभास भैरव मेल से उत्पन्न है ।

धैवतः सम्मतो वादी गान्धारोऽमात्यतुल्यकः ।

गानं सुनिश्चितं तस्य प्रातःकालेऽतिरक्तिदम् ॥६७॥

इसमें वादी स्वर धैवत है, तथा संवादी गान्धार है । गायनसमय प्रातःकाल है ।

विचित्रो गपसङ्गत्या सुशान्तप्रकृतिः सदा ।

उत्तराङ्गप्रधानोऽयं प्रभाते हर्षयेन्मनः ॥६८॥

इस राग में ग और प की सङ्गति वैचित्र्यपूर्ण होती है । शान्त प्रकृति-युक्त यह उत्तराङ्गप्रधान राग प्रभातकाल में मन को हर्षित करता है ।

यत्र यत्र मन्तियागः सङ्गतिर्गपयोर्भवेत् ।

सनियमं रहस्यं तत् पूर्वमेव मयोदितम् ॥६९॥

जहाँ-जहाँ मध्यम और निषाद वर्जित होते हैं, वहाँ ग और प की सङ्गति आती है, यह नियम मैं पहले ही बता चुका हूँ ।

स्वरे पञ्चमके न्यासो धैवतात्क्रियते यदा ।

विभासाङ्गं भवेत्स्पष्टमित्याहुलंक्ष्यवेदिनः ॥७०॥

चैवत से आ कर पञ्चम पर न्यास करने पर विभास अङ्ग स्पष्ट होता है, ऐसा लक्ष्यज्ञ विद्वानों ने कहा है ।

सन्ध्याकाले यथा रेवा तथा प्रातर्विभासकः ।

गांशिकाद्या मता तज्ज्ञैर्द्वितीयो घांशको मतः ॥७१॥

सायङ्काल जिस प्रकार रेवा राग गाया जाता है, उसी प्रकार प्रातःकाल विभास राग होता है । रेवा का वादी स्वर गान्धार है, और विभास का चैवत ।

टीका—विभास और रेवा प्रतिमूर्ति राग हैं । विभास भैरवमेलजन्य प्रातर्गेय राग है, और रेवा पूर्वमेलोत्पन्न सायङ्गेय राग । म-नि वर्ज्य होने के कारण दोनों ही औडुव राग हैं । विभास में वादी घ और संवादी ग है, जबकि रेवा में इसके ठीक विपरीत, वादी ग (अथवा रे) और संवादी घ है । विभास उत्तराङ्गप्रधान है, और रेवा पूर्वाङ्गप्रधान । विभास के रे-ध्रु में भैरवरागोचित वैशिष्ट्य से प्रातःसूचकत्व स्पष्ट परिलक्षित होता है किन्तु रेवा में वे स्वर आन्दोलनयुक्त नहीं हो सकते । रेवा का ऋषभ पूर्वी अथवा श्रीराग के ढङ्ग से लगता है, ऐसा कहा जा सकता है ।

(१३) मेघरञ्जनी राग

भैरवमेलसञ्जाता रागिणी मेघरञ्जनी ।

आरोहे चावरोहेऽपि पधहीनैव सम्मता ॥७२॥

भैरव मेल से उत्पन्न मेघरञ्जनी के आरोह और अवरोह दोनों में पञ्चम और धवत वर्ज्य हैं ।

मध्यमः सम्मतो वादी संवादी षड्ज ईरितः ।

गानं सुसम्मतं तस्यास्तुरीये प्रहरे निशि ॥७३॥

इस राग का वादी स्वर मध्यम तथा संवादी षड्ज है । गायनसमय रात्रि का चतुर्थ प्रहर है ।

मध्यमस्यात्र मुक्तत्वाल्ललिताङ्गं परिस्फुटम् ।

धैवताभावतो ह्यत्र तदङ्गं दूरतां व्रजेत् ॥७४॥

मध्यम के मुक्त प्रयोग के कारण इसमें ललित अङ्ग का आभास होता है किन्तु धैवत वर्ज्य होने के कारण उसका तिरोभाव हो जाता है ।

समयोः सङ्गतिश्चेह समाविष्टा धिवेकिभिः ।

विलम्बितलये गीता रागिणीयं मनो हरेत् ॥७५॥

२८६ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

विद्वानों ने इस राग में सा और म की सङ्गति बताया है । विलम्बित लयोचित यह राग अत्यन्त आकर्षक है ।

रागलक्षणके ग्रन्थे मेघरञ्जनीका मता ।

मालवगौळके मेले पधहीनोडुवा ततः ॥७६॥

रागलक्षण नामक ग्रन्थ में मेघरञ्जनी को मालवगौळ मेलोत्पन्न, पञ्चम और धैवत से रहित, औडुव रागिनी कहा गया है ।

(१४) गौरी राग

मालवगौळके मेले गौरी शास्त्रेषु वर्णिता ।

आरोहे धगहीनासाववरोहे समग्रिका ॥७७॥

शास्त्रग्रन्थों में गौरी को मालवगौळमेल जन्य, आरोह में धैवत-गान्धार रहित तथा सम्पूर्ण अवरोहयुक्त रागिनी वर्णित किया गया है ।

ऋषभः स्यात्स्वरो वादी संवादी पञ्चमो भवेत् ।

गानं सुनिश्चितं तस्याश्चतुर्थप्रहरे विने ॥७८॥

इस राग में वादी स्वर ऋषभ तथा संवादी पञ्चम है । गायन-समय दिन का चतुर्थ प्रहर है ।

आदिशन्ति पुनः केचिदत्र तीव्रमयोजनम् ।

सायङ्गये स्वरूपेऽस्मिन् भाति मे न विसङ्गतम् ॥७९॥

कुछ विद्वान् इस राग में तीव्र मध्यम का प्रयोग भी बताते हैं । सायङ्गये होने के कारण गौरी राग में यह प्रयोग मुझे विसङ्गत प्रतीत नहीं होता ।

कलिङ्गाङ्गा मता गौरी पूरियाङ्गा तथैव च ।

मतं त्विदं प्रसिद्धं स्यात्सर्वत्र लक्ष्यवर्त्मनि ॥८०॥

गौरी राग कालिङ्गा तथा पूरिया अङ्गों से युक्त है, ऐसी मान्यता वर्तमान सङ्गीत में प्रचलित है ।

मन्द्रस्थस्य निषादस्य वैचित्र्यमद्भुतं मतम् ।

ओतारः प्रायशस्तत्र कुर्वन्ति रागनिर्णयम् ॥८१॥

इस राग में मन्द्र निषाद अत्यन्त वैचित्र्यपूर्ण प्रतीत होता है तथा ओता भी उसी स्वर के द्वारा राग-निर्णय करते हैं ।

(१५) ललितपञ्चम राग

भैरवाख्यसुमेलाच्च जातो ललितपञ्चमः ।

आरोहे तु पवर्ज्यं स्यात् पूर्णवक्रावरोहकम् ॥८२॥

भैरव मेल से उत्पन्न राग ललित पञ्चम के आरोह में पञ्चम वर्ज्य है, तथा अवरोह वक्र-सम्पूर्ण है ।

मध्यमः सम्मतो वादी संवादी षड्ज ईरितः ।

गानं चानुमतं तस्य तुरीयप्रहरे निशि ॥८३॥

इस राग का वादी स्वर मध्यम और संवादी षड्ज है । गायन-समय रात्रि का चतुर्थ प्रहर है ।

रागोऽयं गीयते लक्ष्ये ललिताङ्गपरिष्कृतः ।

मध्यमावप्युभौ तत्र स्वीकृतौ गायनोत्तमैः ॥८४॥

प्रचार में यह राग ललित अङ्ग से युक्त गाया जाता है । सङ्गीतज्ञों ने इसमें दोनों मध्यमों का प्रयोग मान्य किया है ।

मध्यमेन प्रयुक्तेन ललिताङ्गं समुद्भवेत् ।

पञ्चमस्य प्रयोगेण बुधस्तत्परिमाजयेत् ॥८५॥

मध्यम के मुक्त प्रयोग से इस राग में ललित अङ्ग का आभास होता है, जिसका परिमार्जन पञ्चम के प्रयोग से किया जाना चाहिए ।

अनूपसङ्गीतरत्नाकर में उल्लिखित भैरव-प्रकार

‘चतुरपण्डित’ में भैरवमेलजन्य रागों का वर्णन करने के पश्चात् भावभट्टरचित अनूपसङ्गीतरत्नाकर से दो श्लोक उद्धृत किये हैं, जिनमें तत्कालीन सङ्गीत में प्रचलित भैरव-प्रकारों के नामोल्लेख हैं ।

“औडुवः षाडवश्चैव सम्पूर्णश्च त्रिधा मतः ।

वसन्तनन्दकानन्दस्वर्णकिर्षणपूर्वकाः ॥८६॥

गान्धारपञ्चमाद्यश्च बहुलीपूर्वकस्ततः ।

रामभैरव इत्येवं भैरवो दशधा स्मृतः ॥८७॥”

भैरव राग के दस प्रकार हैं—औडुव भैरव, षाडव भैरव, सम्पूर्ण भैरव, वसन्तभैरव, नन्दभैरव, आनन्दभैरव, स्वर्णकिर्षण भैरव, गान्धारपञ्चम भैरव, बहुलीभैरव तथा रामभैरव ।

२८८ : श्रीमल्लस्यसङ्गीतम्

पूर्वोत्तमेलजन्य राग

(१) पूर्वी राग

पूर्वोत्तिनामके मेले स्यात्पूर्वी सुखदायिनी ।

आरोहे चावरोहेऽपि सम्पूर्णं वता बुधैः ॥१॥

पूर्वी नामक मेल से उत्पन्न पूर्वी अत्यन्त ही सुखदायिनी रागिनी है, जिसे विद्वज्जनों ने सम्पूर्ण-सम्पूर्ण रागिनी वर्णित की है ।

गान्धारः सम्मतो वादी निषादो मन्त्रितुल्यकः ।

गानमस्याः समादिष्टं दिनान्तेऽतिमनोहरम् ॥२॥

इस राग का वादी स्वर गान्धार तथा संवादी स्वर निषाद है । गान-समय दिवस का अन्तिम प्रहर माना गया है ।

व्यवहारे प्रसिद्धेषा श्रीरागस्य कुटुम्बिनी ।

उद्धारोऽस्या भवेद्युक्तः श्रीरागानन्तरं ततः ॥३॥

व्यवहार में पूर्वी को श्रीरागपरिवार की रागिनी माना जाता है । इसका गायन श्रीराग के पश्चात् होता है ।

टीका—राग-रागिनी व्यवस्था में किसी-किसी मत में पूर्वी को श्रीराग की स्त्री माना गया है । किन्तु तद्विषयक प्रामाणिक ग्रन्थ-साक्ष्य प्राप्य नहीं हैं । सम्भवतः इसी लिए ग्रन्थकार ने यहाँ लोकव्यवहारप्रसिद्धि की बात कही है । सङ्गीतकला के सामान्य व्यवहार में कई ऐसे तथ्य लोकमान्य हैं, जिनका उल्लेख शास्त्रग्रन्थों में नहीं मिलता । ऐसे ही लोकव्यवहारसमर्थित तथ्यों को संस्कृत की साहित्यशास्त्रीय शब्दावली में 'समय' कहा गया है ।

'उद्धार' (उत् + धृ से व्युत्पन्न कृदन्त रूप) का अर्थ है—उठाया जाना । यहाँ अभिप्राय यह है कि श्रीराग के गायन के उपरान्त गायक लोग इस राग को उठाते हैं ।

प्रयोगः शुद्धमस्यात्र सह गेन मतो मनाक् ।

अवरोहे न मे भाति रक्षितहानिकरोऽप्यसौ ॥४॥

इस राग में, अवरोह में गान्धार के साथ शुद्ध मध्यम का मनाक् (स्वल्प) प्रयोग भी किया जाता है, जो रागस्वरूप को नष्ट नहीं करता, ऐसी मेरी मान्यता है ।

निसरिगमगस्वरं रागाङ्गं विशदीभवेत् ।

श्रोतारोऽपि सुखं तैश्च कुर्वन्ति रागनिर्णयम् ॥५॥

पूर्वी का विशिष्ट रागाङ्ग 'नि...,सा....रे ग... , म ग....' इस स्वर-समूह से व्यक्त होता है, तथा श्रोतागण भी इसी के द्वारा राग को पहचानते हैं ।

आदिशन्ति पुनः केचिद्वागेऽत्र तीव्रधैवतम् ।

तत्स्वरेण मते तेषां घनाश्रीभिर्द्वेत्सुकृता ॥६॥

कुछ लोग पूर्वी राग में धैवत तीव्र लेने का विधान करते हैं, क्योंकि इससे, उनके मतानुसार, घनाश्री (अर्थात् पूरिया घनाश्री) से इसकी भिन्नता स्पष्ट हो जाती है ।

धैवतद्वन्द्वमप्याहुः केचिदन्ये विपश्चितः ।

लक्ष्यमार्गमनुल्लङ्घ्य बुधः कुर्यात्स्वनिर्णयम् ॥७॥

कतिपय पण्डितों ने पूर्वी में दोनों धैवतों का प्रयोग भी बताया है । इस प्रकार के प्रयोग के विषय में धीमान् व्यक्ति को, प्रचलित सङ्गीत-पद्धति के अप्रतिकूल निर्णय स्वतः ही करना चाहिए ।

पूर्वी पूर्णा तथा गांशा सायङ्कालोचिता ततः ।

ग्रन्थे रागविबोधार्थे सोमनाथेन भाषिता ॥८॥

सोमनाथ ने रागविबोध नामक ग्रन्थ में पूर्वी को सम्पूर्ण स्वरयुक्त गान्धारवादी सायङ्कालीन राग वर्णित किया है ।

तथैव रागमञ्जर्या पूर्वी गौडीसुमेलजा ।

वर्णिता पुण्डरीकेण सायङ्ग्रेयाऽथ सांशिका ॥९॥

पुण्डरीक विट्ठल ने रागमञ्जरी में इसे गौडीमेलजन्य षड्जवादी सायङ्ग्रेय राग बताया है ।

सायङ्ग्रेयेषु रागेषु तीव्रमोऽपेक्षितो यतः ।

मन्ये तज्ज्ञैः समादिष्टौ रागेऽत्र मध्यमादुभौ ॥१०॥

मेरी धारणा है कि सायङ्ग्रेय रागों में तीव्रमध्यम ही अपेक्षित है, इस राग में विद्वज्जनों ने दोनों मध्यमों का प्रयोग बतलाया है ।

टीका—'अध्वदशकं स्वर' मध्यम का शुद्ध भेद प्रातर्गैयत्व का, तथा तीव्र भेद सायङ्ग्रेयत्व का सूचक है । पूर्वी जैसे प्रमुख सायङ्कालीन राग में नियमतः तीव्र मध्यम ही अपेक्षित है, तथा वही अधिक प्रमाण में उसमें प्रयुक्त

२९० : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

होता है; तथापि शुद्ध मध्यम भी इसमें अत्यन्त महत्वपूर्ण है। वास्तव में शुद्ध मध्यम के सुप्रमाण प्रयोग के बिना पूर्वी का स्वरूप भी बन नहीं पाता। इसी लिए, उसमें दोनों मध्यमों का प्रयोग शास्त्रकारों ने मान्य किया है।

टिप्पणी

पूर्वमिलोत्थिता रागा विभज्यन्ते द्विधा बुधैः ।

पूर्व्यङ्गा षण्मताश्चाथ षट् श्रीरागाङ्गमण्डिताः ॥११॥

श्रीगौरी मालवी टङ्की वसन्ताख्या तथैव च ।

त्रिवेणीसहिता एते श्रीरागाङ्गपरिष्कृताः ॥१२॥

पूर्वी रेवाऽथ जेताश्रीविभासो दीपकस्तथा ।

परजाख्यो मता एते सर्वे पूर्व्यङ्गमण्डिताः ॥१३॥

विद्वानों ने पूर्वमेलजन्य रागों को दो वर्गों में विभाजित किया है। पूर्वी अङ्गयुक्त राग छह हैं, तथा श्री अङ्ग से युक्त राग भी छह हैं। श्री, गौरी, मालवी, टङ्की, वसन्त तथा त्रिवेणी—ये श्री अङ्ग से युक्त राग हैं। पूर्वी, रेवा, जेताश्री, विभास, दीपक तथा परज—ये राग पूर्वी अङ्ग से युक्त माने गये हैं।

(२) श्री राग

पूर्वमिलसमुत्पन्नः श्रीरागो लक्ष्यविश्रुतः ।

हरप्रियाह्वये मेले वर्णितोऽसौ पुरातनैः ॥१४॥

पूर्वमिल से उत्पन्न श्री राग लक्ष्य में सुप्रसिद्ध है। प्राचीन ग्रन्थकारों ने इस राग को हरप्रिय मेल (काफी मेल) के अन्तर्गत वर्णित किया है।

आरोहे गधवर्ज्यं स्यादवरोहे समप्रक्रमम् ।

गानमस्य समादिष्टं दिनान्तेऽस्तिमनोहरम् ॥१५॥

इस राग का आरोह गान्धार तथा धैवत रहित, तथा अवरोह सम्पूर्ण है। दिन का अन्तिम प्रहर इसका गान-समय है।

ऋषभः सम्मतो वादी संवादी पञ्चमो भवेत् ।

केचिद्विपर्ययं प्राहुर्वयं लक्ष्यानुवर्तिनः ॥१६॥

इस राग का वादी स्वर पञ्चम माना गया है, तथा संवादी स्वर ऋषभ। कुछ विद्वानों ने ऋषभ को वादी और पञ्चम को संवादी माना है। हम लोग वर्तमान पद्धति का ही अनुसरण करते हैं।

रागाध्याय : २९१

गम्भीरप्रकृतिर्नित्यं विलम्बितलयान्वितः ।

अवश्यं स्याद्दिनान्तेऽसौ भुक्तिभुक्तिप्रदो नृणाम् ॥१७॥

दिवसान्त गेय यह विलम्बितलयोचित गम्भीर राग मानवों को लौकिक तथा आध्यात्मिक दोनों ही प्रकार के आनन्द प्रदान करता है ।

श्रीरागाङ्गं स्वतन्त्रं यन्मन्यते लक्ष्येवेदिभिः ।

सावधानं यथान्यायमभ्यस्य प्रथमं बुधैः ॥१८॥

लक्ष्यसङ्गीत के सूक्ष्मद्रष्टा विद्वानों ने श्रीराग का विशिष्ट, स्वतन्त्र अङ्ग मान्य किया है । अतएव उसका अभ्यास मननपूर्वक उचित ढङ्ग से किया जाना चाहिए ।

रिपयोः सङ्गतिश्चात्र भवेद्रागाङ्गवाचिका ।

सरिरिसस्वरैः स्पष्टं रागरूपं प्रदर्शयेत् ॥१९॥

ऋषभ और पञ्चम की सङ्गति इसमें राग-वाचक होती है । 'सा रे' 'रे सा' स्वरों से इसका रागरूप प्रदर्शित होता है ।

पद्धत्यां दाक्षिणात्यानां श्रीरागो गीयतेऽधुना ।

खरहरप्रियामेलस्वरैरिति परिस्फुटम् ॥२०॥

वर्तमान दाक्षिणात्य पद्धति में श्रीराग को खरहरप्रिया मेल के स्वरों से गाया जाता है ।

(३) गौरी राग

पूर्वमेलसमुत्पन्ना द्वितीया गौरिरागिणी ।

आरोहे गधहीनासावरोहे समप्रिका ॥२१॥

पूर्वी मेल से उत्पन्न एक अन्य राग गौरी भी है, जिसके आरोह में गान्धार और चैवत वर्ज्य हैं तथा अवरोह सम्पूर्ण है ।

ऋषभः सम्मतो वादी संवादी पञ्चमो भवेत् ।

गानमस्याः समीचीनं दिवान्ते सर्वरक्तिदम् ॥२२॥

इसका वादी ऋषभ एवं संवादी पञ्चम है । गान-समय दिव का अन्तिम प्रहर है ।

श्रीरागस्य प्रसिद्धाङ्गं रागेऽत्राप्युपलभ्यते ।

मन्द्रस्थानगतो निः स्यात्प्रायो रागाङ्गवाचकः ॥२३॥

२९२ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

प्रसिद्ध श्रीराग अङ्ग इस राग में भी है। मन्द्र निषाद प्रायः गौरी का रागाङ्गवाचक होता है।

आदिशन्ति पुनः केचिदत्र धैवतयोजनम्।

अनुलोमे भवेद्येन श्रीरागभित्परिस्फुटः ॥२४॥

कुछ विद्वान् इसके आरोह में धैवत का प्रयोग बताते हैं, ताकि यह श्रीराग से भिन्न हो जाय।

श्रीरागे ऋषभो वादी गौरी स्यात्पञ्चमांशिका।

इत्याहुः केचिदप्यन्ये रागभेदोपलब्धये ॥२५॥

कुछ अन्य सङ्गीतज्ञ राग-भिन्नता को स्पष्ट करने के लिए श्रीराग में ऋषभ को एवं गौरी में पञ्चम को वादी स्वर मानते हैं।

टिप्पणी

अथो प्रसङ्गतो वक्ष्ये मतभेदान्यथायथम्।

पुरावृत्तं भवेद् गौर्या येन लोके परिस्फुटम् ॥२६॥

प्रसङ्गवशात् यहाँ मैं इस विषय में व्याप्त मतभेदों का यथारूप उल्लेख करता हूँ, ताकि गौरीरागविषयक उपर्युक्त विवरण सुग्राह्य हो सके।

श्रीरागः पण्डितैः पूर्वैः काफीमेले प्रकीर्तितः।

आरोहणे गद्यत्यक्तः पूर्णो वक्रोऽवरोहणे ॥२७॥

पूर्ववर्ती सङ्गीतशास्त्रकारों ने श्रीराग को काफीमेलजन्य बताया है, तथा उसके आरोह को गान्धार-निषादरहित तथा अवरोह को वक्र सम्पूर्ण माना है।

युक्तं नु (? न) वर्णनं चैतत्तत्कालवर्तिलक्ष्यतः।

मेलभेदे ह्यवश्यं स्याद्वागभेदः परिस्फुटः ॥२८॥

वर्तमान सङ्गीत की दृष्टि से श्रीराग का यह वर्णन उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। आज श्रीराग पूर्वमेल माना जाता है, अतः उसके वर्तमान तथा प्राचीन स्वरूपों में भिन्नता स्पष्ट ही है।

लक्ष्ये तूत्तरकालीने सङ्गीते परिवर्तनात्।

रागावेतावुभौ प्रोक्तौ पूर्वमिलसमाश्रितौ ॥२९॥

परवर्ती युगों में सङ्गीत में आये हुए परिवर्तनों के फलस्वरूप गौरी और श्री दोनों ही रागों को पूर्वमेलजन्य कहा गया है।

एकमेलाश्रितत्वे स्यात् समाने लक्षणेऽपि च ।

अवश्यं गायनं कण्ठं ततो वैमत्यसम्भवः ॥३०॥

एक ही मेल से उत्पन्न होने के कारण तथा लक्षण भी समान होने के कारण इन दोनों रागों का गायन कण्ठसाध्य है, तथा इसी लिए उनके विषय में मतभेद भी सम्भव है ।

टीका—अभिप्राय यह है कि श्री और गौरी में स्वरों की तथा नियमों की इतनी समानता है कि कलाकारों के लिए उन्हें ठीक से 'वरतना' बड़ा कठिन लगता है, तथा प्रत्येक कलाकार अथवा परम्परा इन दोनों रागों का भेद अलग-अलग ढङ्ग से मानता है ।

आदिशन्ति क्वचिद्गौर्यां समूलं गधवर्जनम् ।

लङ्घनं पञ्चमस्यैव कुत्रचित्समुदीरितम् ॥३१॥

कुछ लोग गौरी में गान्धार-धैवत को पूर्णतः वर्ज्य मानते हैं, तो कुछ अन्य मतों में इस राग में पञ्चम का लङ्घन (स्वल्पत्व) माना जाता है ।

अधुना गीयते गौरी श्रृयङ्गेन च सुमण्डिता ।

रिपसंवादसम्पन्ना गत्यक्ता चाधिरोहणे ॥३२॥

वर्तमान सङ्गीत में गौरी श्री अङ्ग से गायी जाती है, तथा उसमें ऋषभ वादी और पञ्चम संवादी है, एवं उसका आरोह गान्धार-विहीन है ।

गौड्यधगा तथा र्यंशा सोमनाथेन भाषिता ।

तल्लक्षणापरा चैतीगौरी तेनैव कीर्तिता ॥३३॥

सोमनाथ ने गौड़ी नामक धैवत-गान्धार रहित, ऋषभ अंश स्वरयुक्त रागिनी का वर्णन किया है । उन्होंने इन्हीं लक्षणों से युक्त एक अन्य रागिनी चैती गौरी भी वर्णित की है ।

धीमता लोचनेनापि तरङ्गिण्यां प्रकीर्तिताः ।

श्रीगौरी चैतिकागौरी पहाडीगौरिका तथा ॥३४॥

आरोहे गधरिक्तास्ताः सम्पूर्णा अवरोहणे ।

पण्डित लोचन ने भी रागतरङ्गिणी में श्रीगौरी, चैतीगौरी तथा पहाड़ीगौरी नामक रागिनियाँ वर्णित की हैं, जो आरोह में गान्धार-धैवतरहित हैं, तथा सम्पूर्णावरोही हैं ।

प्रारोहे गधहीना सा निकम्पनमनोहरा ।

वर्णिताहोबलेनासौ स्वग्रन्थे पारिजातके ॥३५॥

२९४ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

अहोबल ने सङ्गीतपारिजात में गौरी को आरोह में गान्धार-धैवत विहीन, एवं कम्पित (आन्दोलित) निषादयुक्त वर्णित किया है ।

मध्यमो द्वौ यदा गौर्या संप्रयुक्तौ यथायथम् ।

ललितापूर्विका गौरी भवेदिति सुसम्मतम् ॥३६॥

जब गौरी में यथायोग्य प्रमाण में दोनों मध्यमों का प्रयोग किया जाता है, तब ललितागौरी नामक रागिनी हो जाती है ।

मन्द्रमध्यस्वरैर्गतिः श्रीरागो रक्तिदो भवेत् ।

मध्यतारस्वरैर्गौरी भवेद्रक्तिप्रदायिनी ॥३७॥

श्रीराग मन्द्र तथा मध्य स्वरों में गाया जाता है, जबकि गौरी मध्य और तार स्वरों में ।

(४) मालवी राग

पूर्वमिलसमुत्पन्ना मालवी बहुसम्मता ।

आरोहे स्यान्निदौर्बल्यमवरोहे तु घस्य तत् ॥३८॥

पूर्वमिलोत्पन्न मालवी के आरोह में निषाद का, तथा अवरोह में धैवत का दौर्बल्य माना गया है ।

श्रीरागाङ्गा यतो गेया वैचित्र्यं रिस्वरे स्फुटम् ।

गानमस्या भवेत्सायं सर्वरक्तिप्रदायकम् ॥३९॥

यह रागिनी श्रीअङ्गयुक्त होने के कारण इसमें ऋषभ-स्वर का वैचित्र्य स्पष्ट है । सायङ्काल इसका गायन रञ्जक होता है ।

ऋषभः सम्मतो वादी संवादी पञ्चमो भवेत् ।

सङ्गतिर्गपयोश्चात्र भवेद्वैचित्र्यकारिणी ॥४०॥

इसका वादी स्वर ऋषभ एवं संवादी स्वर पञ्चम है । गान्धार और पञ्चम की सङ्गति इस राग में वैचित्र्योत्पादक होती है ।

अपूर्वं रूपकं त्वेतल्लक्ष्यज्ञैरनुशासितम् ।

रञ्जकं सम्मतं यस्माद् ग्राह्यमेव मनीषिणाम् ॥४१॥

लक्ष्यज्ञों ने इसे अपूर्व राग-स्वरूप माना है । अपने अद्भुत रञ्जकत्व गुण के कारण मालवी विद्वानों को सदैव प्रिय प्रतीत होती है ।

रागलक्षणके ग्रन्थे मालवी रागिणी मता ।

काम्भोजीमेलसम्भूता वक्ररूपा तथैव च ॥४२॥

रागाध्याय : २९५

ग्रन्थे सारामृते प्रोक्ता रागिणीयं धगोज्जिता ।

मेले मालवगौलीये सायङ्गयेऽथ सांशिका ॥४३॥

रागलक्षण नामक ग्रन्थ में मालवी को काम्भोजीमेलजन्य वक्र स्वरूपा रागिनी वर्णित किया गया है । इसी प्रकार, सङ्गीतसारामृत में इसे मालव गौड़ मेल से उत्पन्न, धैवत-गान्धार वर्जित तथा षड्ज वादीयुक्त सायङ्कालीन रागिनी बताया गया है ।

टिप्पणी

पूर्वी गौरी मालवी च ललिताऽथ वसन्तिका ।

परजा पञ्चमाख्योऽपि शास्त्रे भैरवमेलजाः ॥४४॥

तथाप्येतेषु रागेषु सर्वेषु लक्ष्यतेऽधुना ।

तीव्रमस्य प्रयोगस्तद्विचार्य मर्मवेदिभिः ॥४५॥

प्राचीन शास्त्रों में पूर्वी, गौरी, मालवी, ललिता (ललित), वसन्त, परज एवं पञ्चम को भैरवमेलजन्य कहा गया है; तथापि वर्तमान प्रचार में इन समस्त रागों में तीव्रमध्यम का प्रयोग दिखायी देता है, यह विद्वानों के लिए माननीय है ।

(५) त्रिवेणी राग

पूर्वीमेलसमुत्पन्ना त्रिवेणी लोकविश्रुता ।

आरोहे चावरोहेऽपि मध्यमेन विवर्जिता ॥४६॥

पूर्वी मेल से उत्पन्न रागिनी त्रिवेणी सुप्रसिद्ध है । इसके आरोह और अवरोह में मध्यम वर्जित है ।

ऋषभोऽत्र भवेद्वादी संवादी पञ्चमो भवेत् ।

गानं सुसम्मतं चास्याः सायङ्काले मनोहरम् ॥४७॥

इसमें वादी स्वर ऋषभ तथा संवादी स्वर पञ्चम है । गान-समय सन्ध्याकाल है ।

श्रीरागाङ्गेन यद्गीता लक्ष्ये सर्वत्र साम्प्रतम् ।

ऋषभस्यैव वादित्वं भवेद्युक्तं सतां मते ॥४८॥

लक्ष्यप्रचार में इसे सर्वत्र श्रीरागअङ्ग से गाया जाता है, अतः विद्वानों ने इसमें ऋषभ का वादित्व उपयुक्त माना है ।

२९६ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

सङ्गीतिर्गपयोः सिद्धा मध्यमाभावतोऽत्र सा ।

अवरोहेण वर्णेन रागिणीयं मनो हरेत् ॥४९॥

मध्यम के वर्ज्यत्व के कारण इसमें गान्धार और पञ्चम की सङ्गीति आना स्वाभाविक है । अवरोही वर्ण में यह रागिनी अत्यन्त चिन्ताकर्षक होती है ।

गौरीमेलसमुत्पन्ना त्रिवेणी मस्वरोज्जिता ।

कीर्तिताहोबलेनापि स्वग्रन्थे पारिजातके ॥५०॥

अहोबल ने अपने ग्रन्थ सङ्गीतपारिजात में त्रिवेणी को गौरी मेल से उत्पन्न मध्यम वर्जित रागिनी बताया है ।

धीमता हृदयेशेन त्रिवणः समुदीरितः ।

औडुवो मनिहीनोऽथ ग्रन्थे हृदयकौतुके ॥५१॥

हृदयनारायण देव ने हृदयकौतुक में त्रिवण नामक राग का उल्लेख किया है, जो मध्यम-निषाद रहित औडुव राग है ।

शुद्धरामक्रियामेले सम्पूर्णा सांशिका मता ।

त्रावणी पुण्डरीकेण ग्रन्थे चन्द्रोदयाह्वये ॥५२॥

पुण्डरीक विट्ठल ने सद्रागचन्द्रोदय में त्रावणी को शुद्ध रामक्रियामेल-जन्य, सम्पूर्ण, षड्जवादी रागिनी बताया है ।

मारवामेलजां केचिदेनां पाशां युवन्ति हि ।

लक्ष्यमार्गमनुलङ्घ्य बुधः कुर्यात्स्वनिर्णयम् ॥५३॥

कुछ विद्वानों ने त्रिवेणी को मारवा मेलोत्पन्न पञ्चम वादी रागिनी बताया है । युवजनों को लक्ष्यप्रचार की उपेक्षा न करते हुए इस सम्बन्ध में अपना मत स्थापित करना चाहिए ।

यदप्यङ्गीकृतं किञ्चिद्भवेद्भूषं मते सताम् ।

सुव्यक्तनियमाबद्धं नैव दोषास्पदं भवेत् ॥५४॥

विद्वानों के मतानुसार, सुस्पष्ट नियमों से युक्त जो कोई भी रूप स्वीकृत किया जाता है, वह दोषयुक्त नहीं माना जाना चाहिए ।

टीका—अभिप्राय यह है कि किसी राग का स्वरूप ग्राह्य हो सकता है, यदि वह ठीक तथा स्पष्ट नियमों से निर्मित प्रतीत हो । राग-स्वरूप-विषयक मतभेद स्वाभाविक हैं, किन्तु जो भी मत मान्य किया जाय वह स्पष्ट होना चाहिए ।

रागाध्याय : २९७

देशिकारस्तथा गौरी तृतीया पूर्वरागिणी ।

त्रिवेण्यामत्र संयुक्ता इति लक्ष्यविदां मतम् ॥५५॥

देशिकार, गौरी तथा तथा पूर्वी-इन तीन रागिनियों का मिश्रण त्रिवेणी में है, ऐसा लक्ष्यज्ञ विद्वानों का मत है ।

(६) टङ्की राग

पूर्वामेले सुविख्याता रागिणी टङ्कीका मता ।

भार्या प्रकीर्तिता लोके श्रीरागस्यैव पाशिका ॥५६॥

प्रसिद्ध रागिणी टङ्कीका (टङ्की) पूर्वी मेल से उत्पन्न है । पञ्चमवादी इस रागिणी को श्रीराग की भार्या (स्त्री) माना गया है ।

श्रीरागाङ्गेन सा लक्ष्ये यतः सर्वत्र गीयते ।

गानं चाभिमतं नित्यं सायङ्काले प्रतिष्ठितम् ॥५७॥

वर्तमान सङ्गीत में इसे श्रीरागाङ्गयुक्त गाया जाता है । गानसमय सायङ्काल है ।

मालवी त्रिवणा गौरी पूर्वी टङ्की तथैव च ।

मता एता बुधैः पञ्च श्रीरागस्य वराङ्गनाः ॥५८॥

विद्वानों ने मालवी, त्रिवणा, गौरी, पूर्वी और टङ्की इन पाँच रागिनियों को श्रीराग की स्त्रियाँ माना है ।

महीनामथवा पूणमिनां गायन्ति गायकाः ।

त्रिवेण्यामृषभो वादी ह्यतस्तस्या भिदा स्फुटा ॥५९॥

सङ्गीतज्ञ इसे मध्यम वर्जित अथवा सम्पूर्ण दोनों तरह से गाते हैं । त्रिवेणी में वादी स्वर ऋषभ होने के कारण, टङ्की से उसका भेद स्पष्ट हो जाता है ।

वादिभेदाग्रागभेद इति लक्ष्यविदां मतम् ।

सर्वत्रैव प्रसिद्धं स्यान्महद्वैचित्र्यकारणम् ॥६०॥

लक्ष्यज्ञों के मतानुसार वादी की भिन्नता से राग-भिन्नता व्यक्त होती है; यह अत्यन्त ही अद्भुत तथ्य सुप्रसिद्ध है ।

गौरीमेलसमुद्भूता सायङ्गेयाऽथ सांशिका ।

कीर्तिता पुण्डरीकेण ग्रन्थे मञ्जरिनामके ॥६१॥

पुण्डरीक ने रागमञ्जरी नामक ग्रन्थ में इसे गौरी मेलजन्य, षड्ज वादी सायङ्गेय रागिणी कहा है ।

२९८ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

पूर्वाश्रीकानडारागेः सह भैरवमेलनात् ।

टङ्की प्रवर्तते लक्ष्ये लोचनेन प्रकीर्तितम् ॥६२॥

लोचन के अनुसार पूर्वी, श्री तथा कानड़ा रागों के साथ ही टङ्की राग भी भैरवमेलजन्य है ।

रागबोधे मतष्टक्कः सांशन्यासग्रहो ध्रुवम् ।

वसन्तमेलने सायं सोमनाथेन धीमता ॥६३॥

विद्वान् सोमनाथ द्वारा रागविबोध में प्रतिपादित मत के अनुसार वसन्तमेल से उत्पन्न सायङ्गेय राग टक्क में षड्जस्वर ग्रह, अंश और न्यास है ।

(७) दीपक राग

पूर्वमेलसमुत्पन्नो दीपको गुणिसम्मतः ।

आरोहणे रिबज्यं स्यादवरोहे निर्वर्जितम् ॥६४॥

पूर्वी मेल से उत्पन्न दीपक राग में विद्वानों ने आरोह में ऋषम तथा अवरोह में निषादस्वर वर्जित माने हैं ।

षड्जस्वरो भवेद्वादी कंश्चित्पञ्चम ईरितः ।

गानं सुसम्मतं चास्य दिने यामे तुरीयके ॥६५॥

इस राग का वादी स्वर षड्ज है । कुछ विद्वान् पञ्चम को वादी स्वर मानते हैं । गान-समय दिन का चतुर्थ प्रहर है ।

केचिदेनं तु सम्पूर्णं निर्दिशन्ति विचक्षणाः ।

अन्ये प्राहुर्निहीनं तं कल्याणाख्यसुमेलजम् ॥६६॥

कुछ पण्डित इसे सम्पूर्ण राग मानते हैं । अन्य कुछ विद्वान् इसे कल्याण मेलजन्य, निषाद वर्जित राग बताते हैं ।

बिलावलसुमेलोत्थो निद्वयः श्रूयते क्वचित् ।

लक्ष्यगतमनुसृत्य बुधः कुर्यात्स्वनिर्णयम् ॥६७॥

कुछ लोग इसे बिलावल मेलजन्य दोनों निषादयुक्त राग मानते हैं । बुद्धिमानों को अपने मत की स्थापना लक्ष्यप्रचलित स्वरूप के अनुसार करना चाहिए ।

आरोहे मनिबज्यः स्याद्दीपको मालवोत्थितः ।

विदुषाहोबलेनैतदादिष्टं पारिजातके ॥६८॥

रागाध्याय : २९९

विद्वान अहोबल ने सङ्गीतपारिजात में दीपक को मालवमेलोत्पन्न, आरोह में मध्यम-निषाद वर्जित राग वर्णित किया है।

लुप्तोऽयं राग इत्युक्तं लक्ष्ये गानविशारदः।

न तन्मन्ये मतं तेषां केवल युक्तिसङ्गतम् ॥६९॥

आज यह राग लुप्त हो गया है ऐसा आधुनिक सङ्गीतज्ञ मानते हैं, किन्तु मैं इस मत को युक्तिसङ्गत नहीं मानता।

प्रज्ज्वलनं स्वयं दृष्ट्वा दीपकानां सुदुष्करम्।

कदाचित्स्याद्विलोपोऽस्य समादिष्टोऽत्र गायकैः ॥७०॥

इस राग के गायन से दीपकों का स्वयमेव प्रज्ज्वलित हो सकना असम्भव है, यह देख कर आज गायकगण शायद इस राग को लुप्त मानते हैं।

टीका—किंवदन्तियों में दीपक राग के गायन से दीपकों का अपने आप जल जाना बताया जाता है। आज दीपक राग का जो स्वरूप उपलब्ध है, उसका ऐसा प्रभाव सम्भव नहीं, यह तो निर्विवाद है। 'चतुर पण्डित' यह मानते हैं कि केवल इसीलिए इस राग को लुप्त कह देना उचित नहीं। कारण यह कि किंवदन्तियाँ प्रायः अतिरंजित ही होती हैं, तथा उनमें कथित तथ्य सत्य कम, कल्पित अधिक, होते हैं। किन्तु, 'चतुर पण्डित' ने इस ग्रन्थ में ऐसा कोई भी प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया है, जिससे यह सिद्ध हो सके कि दीपक राग लुप्त नहीं हुआ है।

मिलित्वा गुणिभिल्लेख्यो ब्रूते लोचनपण्डितः।

कौतुकेऽपि तथैवोक्तं हृदयेशेन धीमता ॥७१॥

पण्डित लोचन ने कहा है कि दीपक राग के स्वरूप का लेखन (निर्धारण) गुणीजनों को परस्पर मिल कर चर्चा करने के पश्चात् करना चाहिए। हृदयनारायणदेव ने भी हृदय-कौतुक नामक ग्रन्थ में इस राग के विषय में यही बात कही है।

(८) जेताश्री राग

पूर्वमिलसमुत्पन्ना

जेताश्रीर्बहुसम्मता।

आरोहे रिषवर्ज्यं स्यादवरोहे समप्रकम् ॥७२॥

पूर्वमिल से उत्पन्न जेताश्री के आरोह में ऋषभ-वैवत वर्जित हैं, तथा अवरोह सम्पूर्ण है।

३०० : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

गान्धारांशाऽथवा पांशा गीयते लक्ष्यवर्त्मनि ।

गानं सुसम्मतं तस्याः सायङ्काले मनोहरम् ॥७३॥

लक्ष्यप्रचार में इसमें गान्धार को अथवा पञ्चम को वादी माना जाता है । गान-समय सायङ्काल सर्वसम्मत है ।

मारवामेलजां चापि वचिदेनां ब्रुवन्ति हि ।

लक्ष्यमार्गमनुल्लङ्घ्य बुधः कुर्यात्स्वनिर्णयम् ॥७४॥

कुछ लोग इसे मारवामेलजन्य बताते हैं । बुधजन वर्तमान प्रचार के अनुरूप निर्णय करें ।

वराटी देशकारश्च घवलाख्या ततः परम् ।

सप्रमाणं मिलन्त्यत्रेत्युचुर्गानविशारदाः ॥७५॥

सङ्गीतज्ञों की मान्यता है कि जेताश्री में वराटी, देशकार तथा घवला का सप्रमाण सम्मिश्रण है ।

पूर्वामेलसुसज्जाता प्रारोहे रिधवजिता ।

जयश्रीः कीर्तिता तत्र पारिजातनिबन्धके ॥७६॥

सङ्गीतपारिजात में जयश्री नामक राग वर्णित है, जो पूर्वी मेल से उत्पन्न है, तथा जिसके आरोह में ऋषभ-धैवत वर्ज्य हैं ।

शुद्धरामक्रियामेले सोमनाथेन धीमता ।

जेताश्री रागिणी प्रोक्ता रिधाल्पा प्रातरिष्टदा ॥७७॥

विद्वान् सोमनाथ ने जेताश्री को शुद्धरामक्रियामेलोत्पन्न, अल्प ऋषभ-धैवतयुक्त प्रातःकालीन रागिणी कहा है ।

गौरीमेलसमुत्पन्ना जयन्तश्रीः प्रकीर्तिता ।

प्रारोहे रिधसन्त्यक्ता हृदयेशेन कौतुके ॥७८॥

हृदयनारायणदेव ने हृदयकौतुक में गौरीमेलजन्य जयन्तश्री को आरोह में ऋषभ-धैवत रहित बताया है ।

(९) पूरियाधनाश्री राग

कामवर्धनिकामेलाज्जाता पूर्याधनाधिका ।

आरोहे चावरोहेऽपि सम्पूर्णा बुधसम्मता ॥७९॥

पूरियाधनाश्री कामवर्धनी मेल (पूर्वी मेल) से उत्पन्न है । इसे सम्पूर्ण-सम्पूर्ण माना गया है ।

पञ्चमोऽत्र भवेद्वादी संवादी षड्ज ईरितः ।

गानमस्याः समीचीनं दिवान्तेऽतिमनोहरम् ॥८०॥

इसका वादी स्वर पञ्चम है, तथा संवादी स्वर षड्ज । दिवसान्त समय में इस राग का गायन समीचीन तथा मधुर प्रतीत होता है ।

स्वीकुर्वन्ति पुनः केचिदेनां घनाश्रिकां स्वयम् ।

काफीमेलोद्भवा तेषां मते भीमपलाशिका ॥८१॥

कुछ लोग इस राग को ही घनाश्री राग के रूप में स्वीकार करते हैं । उनके मतानुसार भीमपलासी काफीमेलजन्य है ।

शुद्धमध्यमहीनत्वाद्वादिवापञ्चमस्य च ।

रागिणीयं भवेद्विन्ता पूर्वा इति परिस्फुटम् ॥८२॥

यह स्पष्ट है कि शुद्धमध्यम के अभाव तथा पञ्चम के वादित्व के कारण पूरियाघनाश्री पूर्वी से भिन्न हो जाती है ।

श्रीरागस्य प्रसिद्धाङ्गं न चैवात्रोपलभ्यते ।

अतस्तदङ्गभूतास्ते विविक्ताः सुखमञ्जसा ॥८३॥

प्रसिद्ध श्रीरागाङ्ग इसमें उपलब्ध नहीं है, इसलिए उस अङ्ग से युक्त रागों से यह स्पष्टतः विभिन्न है ।

उत्तराङ्गप्रधानेषु वसन्तपरजाविषु ।

मध्यमद्वयसंयोगाद्व्यर्थं तत्रापि शङ्कनम् ॥८४॥

पूरियाघनाश्री में वसन्त, परज आदि रागों के आभास की शङ्का व्यर्थ है; क्योंकि, एक तो ये राग उत्तराङ्गप्रधान हैं, और दूसरे, उनमें दोनों मध्यमों का प्रयोग होता है ।

स्वरैर्निसरिगमगैर्यथा पूर्वी भवेत्स्फुटा ।

इयं परिस्फुटा लक्ष्ये स्यान्मरिगरिसस्वरैः ॥८५॥

जिस प्रकार पूर्वी राग 'नि, सा, रे ग....म ग....' से स्पष्ट होता है, उसी प्रकार पूरियाघनाश्री राग 'म रे ग... रे सा' इस स्वर-समूह से स्पष्ट हो जाता है ।

(१०) रेवा राग

पूर्वामेलसमुत्पन्ना ख्याता रेवा गुणिप्रिया ।

आरोहे चावरोहेऽपि मनिहीनं च सम्मता ॥८६॥

३०२ : श्रीमल्लक्ष्मसङ्गीतम्

गुणीजनों की प्रिय रागिनी रेवा पूर्वमिलजन्य कही गयी है इसके आरोह और अवरोह में मध्यम तथा निषाद वर्ज्य हैं।

र्यंशिका गांशिका वासौ सायङ्गेया बुधर्मता ।

वर्जने निमयोः सिद्धा गपयोः सङ्गतिः स्वयम् ॥८७॥

ऋषभ अथवा गान्धार के वादित्व से युक्त इस राग को सायङ्गेय माना गया है। मध्यम-निषाद के वर्ज्य होने पर गान्धार और पञ्चम की सङ्गति आती ही है।

उत्तराङ्गप्रधानत्वे विभासाङ्गं भवेत्स्फुटम् ।

निमयोऽयं त्परित्यागस्तद्वागेऽपि सुसम्मतः ॥८८॥

रेवा में उत्तराङ्ग की प्रधानता होने पर विभास अङ्ग स्पष्ट होता है। विभास में भी मध्यम-निषाद वर्ज्य माने गये हैं।

टीका—स्मरणीय है कि रेवा पूर्वाङ्गप्रधान है। वह विभास का सान्ध्य 'जवाब' है।

गौरीमेलसमुत्पन्ना विदुषाहोबलेन सा ।

मनित्यक्तोदिता रेवा गपादियमलस्वरा ॥८९॥

पण्डित अहोबल ने रेवा को गौरीमेलजन्य, मध्यम-निषाद विहीन वर्णित किया है, जिसमें ग-प आदि 'यमलों' अर्थात् युग्म या युगल स्वर-समूहों का प्रयोग होता है।

टीका—'गपादियमलस्वरा' का स्पष्टीकरण सङ्गीतपारिजात में भी उपलब्ध नहीं है। सम्भवतः सा-रे, ग-प, ध-सां, सां-ध, प-ग, रे-सा आदि जोड़ियों का प्रयोग इस राग में होता रहा होगा।

रिग्रहो रेवगुप्तिश्च रिन्यासो मनिर्वर्जितः ।

औडुवश्चरमे यामे दिनस्योक्तः कलानिधौ ॥९०॥

कलानिधि नामक ग्रन्थ में दिवस के अन्तिम प्रहर में गेय रेवगुप्ति नामक राग वर्णित है, जिसमें मध्यम और निषाद वर्ज्य हैं, तथा जिसका ग्रह स्वर और न्यास स्वर ऋषभ है।

रागलक्षणके ग्रन्थे रेवगुप्तिः प्रकीर्तितः ।

मायामालवमेलारूपे औडुवो मनिर्वर्जितः ॥९१॥

रागलक्षण नामक ग्रन्थ में मायामालव (-गौळ) मेल के अन्तर्गत मध्यम-निषादहीन औडुव राग रेवगुप्ति वर्णित किया गया है।

रागाध्याय : ३०३

रागतरङ्गिणीग्रन्थे लोचनेनापि कीर्तिता ।

रेवाख्या रागिणी तत्र गौरीमेलसमुत्थिता ॥९२॥

पण्डित लोचन ने भी रागतरङ्गिणी में रेवा नामक रागिनी को गौरी-मेलजन्य बताया है ।

(११) परज राग

पूर्वमिलसुसञ्जातः परजो विबुधप्रियः ।

आरोहे चावरोहेऽपि सम्पूर्णः सर्वसम्मतः ॥९३॥

विद्वज्जनों का प्रिय राग परज पूर्वी मेल से उत्पन्न हुआ है । यह राग सम्पूर्ण-सम्पूर्ण माना जाता है ।

उत्तराङ्गप्रधानत्वात्तारषड्जांशशोभितः ।

गानमभीप्सितं तस्य नक्तं यामेऽन्तिमे सदा ॥९४॥

उत्तराङ्गप्रधान होने के कारण इसका वादी स्वर तार षड्ज है । गान-समय रात्रि का अन्तिम प्रहर है ।

ग्रन्थेषु वर्णितश्चायं मायामालवगौडजः ।

व्यवहारे तु मद्बद्धो गीयते नैव संशयः ॥९५॥

ग्रन्थों में तो परज को मायामालवगौड मेल से उत्पन्न बताया गया है किन्तु प्रचलित व्यवहार में यह निश्चित रूप से दोनों मध्यमों से युक्त गाया जाता है ।

रात्रिगेये स्वरूपेऽस्मिन्स्तीव्रमस्य प्रयोजनम् ।

सुप्रमाणयुतं भूयाद्भूषणं न तु दूषणम् ॥९६॥

इस रात्रिगेय राग में तीव्र मध्यम का समुचित प्रमाण में प्रयोग रक्ति-वर्धक ही होता है, न कि रक्तिहारक ।

टीका—परज जैसे रात्रि के अन्तिम प्रहर के रागों में दोनों मध्यमों का प्रयोग होता है । पूर्वी मेल के अन्य रागों की अपेक्षा परज में तीव्र मध्यम का प्रमाण कुछ कम है, यह तथ्य सङ्गीत-मर्मज्ञों को ज्ञात ही है ।

अपलप्रकृतिनित्यं क्षुद्रगीतसमाश्रयः ।

प्रायशो गीयते लक्ष्ये कलिङ्गमिश्रितो ध्रुवम् ॥९७॥

इस राग की प्रकृति चञ्चल है, तथा इसमें क्षुद्र अर्थात् हल्के-फुल्के गीत गाए जाते हैं । वर्तमान सङ्गीत-पद्धति में परज को प्रायः कालिङ्गमिश्रित गाया जाता है ।

३०४ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

ग्रन्थेषु दाक्षिणात्यानां परजः समुदीरितः ।

सम्पूर्णः सांशकश्चैव मायामालवगौडके ॥१८॥

दाक्षिणात्य पद्धति के ग्रन्थों में परज को मायामालवगौड़ मेल जन्य षड्जवादी सम्पूर्ण राग बताया गया है ।

गौरीमेलसमुत्पन्नो रागोज्यं समुदीरितः ।

हृत्प्रकाशाह्वये ग्रन्थे वयं लक्ष्यानुवर्तितः ॥१९॥

हृदयप्रकाश नामक ग्रन्थ में इस राग को गौरीमेलोत्पन्न कहा गया है । हम लोग लक्ष्यप्रचार का अनुसरण करते हैं ।

टीका—ग्रन्थकार का आशय यह है कि वर्तमान शास्त्रकार वर्तमान प्रचार के अनुसार परज को पूर्वमिलजन्य मानते हैं ।

(१२) वसन्त राग

पूर्वमिलसुसञ्जातो वसन्ताख्यो बुधैर्मतः ।

सम्पूर्णस्तारषड्जांशो वसन्ततौ सुखप्रदः ॥१००॥

विद्वानों के मतानुसार पूर्वमिलजन्य राग वसन्त सम्पूर्णस्वरीय है, तथा उसमें तार षड्ज वादी है, एवं वह वसन्तऋतुगेय राग है ।

मगयोः पुनरावृत्त्या विशिष्टां रक्तिमावहेत् ।

परजस्य विभिन्नत्वं तत्रैव प्रकटीभवेत् ॥१०१॥

वसन्त में 'मं ग' की पुनरावृत्ति से विशेष आनन्द आता है, और परज से उसका अन्तर भी व्यक्त होता है ।

टीका—'प....मं ग म....ग' यह वसन्त का वाचक अङ्ग है । परज में ऐसा प्रयोग नहीं होता ।

रागेऽस्मिन्नायकः प्रायो ललिताङ्गं प्रदर्शयते ।

यतः स्यात्सुलभं तेन रागस्यास्य प्रभेदनम् ॥१०२॥

इस राग में गायक प्रायः ललित अङ्ग का प्रदर्शन करते हैं, जिसके द्वारा इसका अन्य रागों से भेद सुव्यक्त हो जाता है ।

ग्रन्थेषु वर्णितो दृष्टो मेले मालवगौडके ।

रात्रिगेयो यतो लक्ष्ये तीव्रमे न विसङ्गतिः ॥१०३॥

पूर्वकालीन ग्रन्थों में यह राग मालवगौड मेल में वर्णित दृष्टिगोचर होता है । वर्तमान सङ्गीत में वसन्त एक रात्रिगेय राग है, अतः उसमें तीव्र मध्यम की उपस्थिति कोई विसङ्गति नहीं ।

कुत्रचित्पञ्चमत्यक्तो मद्गन्धस्तीव्रधान्वितः ।

लक्ष्येऽयं दृश्यते गीतो बुधः कुर्याद्यथोचितम् ॥१०४॥

कहीं-कहीं यह राग पञ्चमहीन, तथा दोनों मध्यमों और तीव्र धैवत से युक्त गाया जाता है । उस स्वरूप के औचित्य का निर्णय विद्वान् स्वयं ही करें ।

प्रचारो यादृशो यत्र तादृशं तं समाचरेत् ।

इति सङ्गीतविज्ञोक्तं तत्त्वं नित्यं स्मरेद्बुधः ॥१०५॥

सङ्गीतज्ञों द्वारा प्रतिपादित यह तत्त्व नित्य स्मरणीय है कि जहाँ नैसा प्रचार हो, राग का वैसा ही व्यवहार किया जाना चाहिए ।

वसन्ते पञ्चमोऽल्पः स्यादारोहे लक्ष्यविन्मते ।

रिनिधपमगमगस्वरं रूपं भवेत्स्फुटम् ॥१०६॥

लक्ष्यज्ञ विद्वानों ने वसन्त राग के आरोह में पञ्चम को अल्प माना है । “रुँ नि ध्रु प....म ग म....ग” स्वरों से वसन्त राग का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है ।

निर्दीर्घल्यं वसन्ते तत्प्राचुर्यं परजाह्वये ।

सरिनिसनिधनिभिः परजः प्रस्फुटो भवेत् ॥१०७॥

वसन्त राग में निषाद दुर्बल, अल्प होता है, किन्तु परज में वह बहुत्व युक्त है । “सां रुँ नि सां....नि ध्रु नि....” इस स्वरसमूह से परज राग स्पष्ट होता है ।

मारवामेलजन्य राग

(१) मारवा राग

मारवामेलनोत्पन्ना मारवा लक्ष्यविभ्रुता ।

आरोहे चावरोहेऽपि पहीना षाडवा मता ॥१॥

मारवामेल से उत्पन्न मारवा अत्यन्त प्रसिद्ध रागिनी है । आरोह और अवरोह दोनों में पञ्चम वर्ज्य होने के कारण इसे षाडव माना गया है ।

ऋषभोऽत्र मतो वादी कैश्चिद्वैवत ईरितः ।

गानं सुनिश्चितं चास्या दिनान्ते बहुरक्तिदम् ॥२॥

इसका वादी स्वर ऋषभ है । कुछ विद्वानों ने धैवत को वादी स्वर बताया है । दिवस के अन्तिम प्रहर में इस राग का गायन अत्यन्त रञ्जक होता है ।

३०६ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

टीका—मारवा के प्रचलित स्वरूप में—विशेष कर किराना घराने के कलाकारों द्वारा प्रस्तुत स्वरूप में—वैवत (मन्द्रस्थानीय) इतना प्रबल होता है कि उसे वादी मानना चाहिए। मारवा का यही स्वरूप अधिक लोकप्रिय भी है; यद्यपि सामान्य नियमानुसार चतुर पण्डित ने इसे उचित नहीं माना है।

सायङ्ग्ये स्वरूपेऽस्मिन् धांशत्वं न सुसङ्गतम् ।

प्राचीनमारवा प्रोक्ता सांशा गांशाथवा ध्रुवम् ॥३॥

इस सायङ्ग्य राग में वैवत का वादित्व उचित नहीं है। प्राचीन ग्रन्थ-कारों ने भी मारवा में षड्ज अथवा गान्धार को ही वादी बताया है।

उत्तराङ्गे पहीनत्वाद्धिन्दोलाङ्गं प्रदर्शयेत् ।

हिन्दोले रिपहीनत्वं रागभेदस्ततः स्फुटः ॥४॥

उत्तराङ्गे में पञ्चम के वर्ज्यत्व से यह राग हिण्डोल अङ्ग का आभास दे सकता है, किन्तु हिण्डोल में ऋषभ और पञ्चम दोनों ही वर्जित होने के कारण रागभिन्नता स्पष्ट हो जाती है।

व्यवहारे रिचक्रत्वं मारवायां सुखप्रदम् ।

प्रच्छादनं निषादस्य ह्यनुलोमे भवेत्त्रिष्यम् ॥५॥

व्यवहार में, मारवा में ऋषभ का वक्रत्व सुन्दर लगता है। साथ ही, आरोह में निषाद का प्रच्छादन भी अत्यन्त मधुर लगता है।

टीका—प्रायः 'सा रे' या 'नि सा' इस प्रकार इस राग में रे और नि का प्रयोग नहीं किया जाता, अपितु नि रे सा और म ध सा' इस प्रकार इन दोनों स्वरों को वक्र या प्रच्छन्न रूप में लिया जाता है।

ग्रन्थेषु केषुचित्प्रोक्ता मारविका धकोमला ।

लक्ष्येऽत्र तीव्रधर्मासौ दृश्यते गुणिसम्पत्ता ॥६॥

कुछ ग्रन्थों में मारवा को कोमल वैवत युक्त वर्णित किया गया है, परन्तु लक्ष्य-प्रचार में तीव्र वैवत-युक्त मारवा को ही विद्वानों ने मान्य किया है।

वसन्तभैरवीमेले सोमनाथेन भाषिता ।

तथैव पुण्डरीकेण वर्णितासौ स्वनिर्मितौ ॥७॥

इस राग को सोमनाथ ने तथा इसीप्रकार पुण्डरीक विठ्ठल ने भी, वसन्तभैरवी मेलजन्य बताया है।

रागलक्षणके ग्रन्थे मारवः समुदीरितः ।

आरोहे तु रिचत्यक्तो मेले मालवगौडके ॥८॥

रागलक्षण नामक ग्रन्थ में मारवा को आरोह में ऋषभ-वर्जित वज्रित मालवगौड़मेलोत्पन्न राग कहा गया है ।

मारवा पूरिता चेति द्वे सायं पोञ्जिते यथा ।

ललिता सोहनी चैव द्वे यामेऽन्त्ये तथा निशि ॥१॥

मारवा तथा पूरिया ये दोनों सायङ्गेय पञ्चम-वज्रित राग हैं । इसी प्रकार, रात्रि के अन्तिम प्रहर के पञ्चम-वज्रित दो राग ललित और सोहनी भी हैं ।

(२) पूरिया राग

मारवामेलसञ्जाता पूरिया लोकसम्मता ।

षाडवा पञ्चमत्यक्ता प्रारोहे चावरोहणे ॥१०॥

मारवा मेल मे उत्पन्न पूरिया आरोह और अवरोह दोनों में पञ्चम वर्ज्य होने के कारण षाडव राग माना गया है ।

गान्धारः सम्भतो वादी निषादः सहचारकः ।

गानमभिमतं तस्याः सायङ्काले मनोहरम् ॥११॥

इसका वादी स्वर गान्धार एवं संवादी स्वर निषाद है । गान-समय सायङ्काल है ।

मन्द्रमध्यस्वरैर्गीताऽवश्यं स्याद्गुह्यरक्तिदा ।

गान्धारः सम्मतश्चात्र सन्द्रावधिस्तु तद्विद्वाम् ॥१२॥

मन्द्र तथा मध्य स्वरों में गाया जाने पर यह राग अतीव मधुर लगता है । विद्वानों ने मन्द्रत्व की सीमा गान्धार तक मानी है ।

निर्योश्च निमयोश्चापि सङ्गतिर्गुणिसम्मता ।

सनिधनिगमघसस्वरैः स्पादियं स्फुटा ॥१३॥

गुणीजनों ने 'नि रे' तथा 'नि म' सङ्गतियों को पूरिया में राग-वाचक माना है । यह राग 'सा, नि, घ, नि, म, ग, म, घ, सा' इस स्वरसमूह से स्पष्ट होता है ।

सायङ्गेया यतः पूर्वा पूर्वाङ्गप्रबला स्वयम् ।

सत्युत्तराङ्गप्राधान्ये सोहन्यङ्गं भवेत् स्फुटम् ॥१४॥

सायङ्गेयता के कारण पूरिया में पूर्वाङ्ग ही प्रबल है । इसमें उत्तराङ्ग की प्रधानता हो जाय तो सोहनी अङ्ग दिखायी देता है ।

३०८ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

टीका—सोहनी उत्तराङ्गप्रबलता के कारण पूरिया से भिन्न है, ऐसा तात्पर्य है। पूरिया व सोहनी जवाबी राग माने गये हैं।

मन्द्रस्थनिस्वराभ्यासान्मारवा दूरतां व्रजेत् ।

रिषौ तत्र निगावन्न भवेतां मार्गदर्शकौ ॥१५॥

मन्द्र निषाद पर अम्यास किये जाने के कारण यह राग मारवा से भिन्न है। मारवा में रे-घ सङ्गति रागवाचक होती है।

ईषत्कोमलघो लक्ष्ये प्रयुक्तो गायकः क्वचित् ।

एकश्रुतिच्युतत्वं तु मते तेषां न बाधकम् ॥१६॥

कहीं-कहीं प्रचलित सङ्गीत में गायक लोग इसमें थोड़ा-सा उत्तरा हुआ धैवत लगाते हैं, क्योंकि उनके मतानुसार धैवत का एक श्रुति उत्तरा हुआ होना इस राग में विसङ्गतिकारक नहीं है।

टीका—कुछ लोग इस राग में धैवत को शुद्ध स्थान से कुछ नीचा—एकश्रुतिच्युत—मानते हैं। दूसरी ओर, कुछ लोग इसमें मन्द्रसप्तक में कोमल धैवत का प्रयोग भी करते हैं।*

अनूपसङ्गीतरत्नाकरोक्त पूरिया-भेद

पूर्विका ललितायुक्ता हिन्दोलान्ता तदा भवेत् ।

ललिताभैरवाभ्यां तु भैरवान्ता प्रकीर्तिता ॥१७॥

ललिताविहङ्गडाभ्यां स्यात्पूरियाविहङ्गडा ।

युता पूर्वाधनाश्रीः सा हिन्दोलैर्न धनाश्रिका ॥१८॥

ललितेनसंयुक्ता तदा पूर्वेमनी स्मृता ।

सप्तमी शुद्धपूर्वा स्यादेवं सप्तविधा स्मृता ॥१९॥

पूरिया के सात प्रकार (भेद) बताये गये हैं—(१) पूर्विका, (२) ललिता मिश्रित होने पर—पूरियाहिन्दोल, (३) ललिता और भैरव से युक्त होने पर—पूरियाभैरव, (४) ललिता और विहंगड़ा से युक्त होने पर—पूरियाविहंगड़ा, (५) पूरियाधनाश्री के हिन्दोलयुक्त होने पर—धनाश्री, (६) ललिता और यमन से युक्त होने पर—पूरियाइमनी (पूर्वेमनी); तथा (७) शुद्ध पूरिया।

* द्रष्टव्य—भातखण्डे सङ्गीतशास्त्र, भाग ३, पृ. २३५।

(३) वराटी राग (वरारी, बरारी)

वराटी पूर्वसूर्युक्ता वरारी लक्ष्यविभुता ।

पूर्णारोहावरोहा च मारवामेलनाश्रिता ॥२०॥

पूर्वयुगीन सङ्गीतवेत्ताओं द्वारा वर्णित वराटी आधुनिक सङ्गीत में बरारी नामक प्रसिद्ध रागिणी है, जो मारवा मेलजन्य सम्पूर्ण-सम्पूर्ण रागिणी है ।

गान्धारोऽङ्गीकृतो वादी धैवतोऽमात्यसन्निभः ।

गानमस्याः समीचीनं दिनान्तेऽतिमनोहरम् ॥२१॥

इस राग में गान्धार का वादित्व तथा धैवत का संवादित्व माना जाता है । दिन के अन्तिम प्रहर में इसका गायन उचित तथा रञ्जक होता है ।

प्राचुर्यान्मारवाङ्गस्य क्वचित्तच्छङ्कनं भवेत् ।

मारवा पञ्चमत्यक्ता रागभेदस्ततः स्फुटः ॥२२॥

इस राग में मारवा अङ्ग की प्रधानता के कारण मारवा का आभास हो सकता है; किन्तु मारवा में पञ्चम वर्जित है, इसलिए राग-भेद स्पष्ट हो जाता है ।

सङ्गतिः सपथोश्चात्र तथैव गपयोः क्वचित् ।

स्यान्मध्यमस्य दौर्बल्याद्विशेषेण सुखप्रदा ॥२३॥

मध्यम की दुर्बलता के कारण इस राग में षड्ज और पञ्चम की तथा गान्धार और पञ्चम की सङ्गतियाँ अत्यन्त मधुर लगती हैं ।

देशिकारस्तथा तोडी त्रिवेण्यपि यथायथम् ।

मिलन्त्यत्रेति सम्प्रोक्तं गानशास्त्रविशारदः ॥२४॥

सङ्गीतज्ञों के अनुसार इस राग में देशकार, तोड़ी तथा त्रिवेणी का उचित प्रमाण में सम्मिश्रण होता है ।

ग्रन्थेषु बहवो भेदा वराद्याः समुदीरिताः ।

लक्ष्ये प्रसिद्धिबंधुर्यान्नि तेऽत्र समुदाहृताः ॥२५॥

ग्रन्थों में वराटी के बहुत से भेद वर्णित किये गये हैं, परन्तु वर्तमान सङ्गीत में वे भेद अप्रसिद्ध हैं, इसलिए उनका उल्लेख यहाँ नहीं किया गया है ।

अनूपसङ्गीतरत्नाकरोक्त वराटी-भेद

आद्या शुद्धवराटी स्याद्वितीया कौन्तली मता ।

तृतीया द्राविडी प्रोक्ता चतुर्थी सैन्धवी मता ॥२६॥

३१० : श्रीमल्लक्ष्मसंज्ञीतम्

अपस्वरा पञ्चमी स्यात् षष्ठी हतस्वरा पुनः ।

प्रतापाद्या सप्तमी स्यादष्टमी तोडिकादिका ॥२७॥

नागवराटी नवमी पुन्नागा दशमी स्मृता ।

एकादशी तु चाशोकाद्या^१ कल्याणा द्वादशी मता ।

एवं द्वादशधा प्रोक्ता वराटी पूर्वसूरिभिः ॥२८॥

शुद्धवराटी, कौन्तली, द्राविडी, सैन्धवी, अपस्वरा, हतस्वरा, प्रताप-
वराटी, तोडिकावराटी, नागवराटी, पुन्नागा, अशोकवराटी तथा कल्याणा —
ये बारह वराटी प्रकार प्राचीन विद्वानों ने बताये हैं ।

(४) जैत्र (जैत) राग

मारवामेलनोत्पन्नो जैत्ररागः प्रकीर्तितः ।

आरोहे चावरोहेऽपि मन्तिर्यक्तो मतो बुधः ॥२९॥

जैत राग मारवामेल से उत्पन्न हुआ है । इस राग में मध्यम और
निषाद वर्ज्य हैं ।

पञ्चमोऽत्र भवेद्वादी संवादी षड्ज ईरितः ।

गानं तस्य समादिष्टं विनान्तययामके त्रियम् ॥३०॥

इस राग में वादी स्वर पञ्चम एवं संवादी षड्ज है । दिवस के अन्तिम
प्रहर में इसका गान रञ्जक प्रतीत होता है ।

ऋषभद्वन्द्वमत्राहुस्तथैव धन्वतद्वयम् ।

सगयोः सङ्गतिः प्रोक्ता तथैव सपयोः क्वचित् ॥३१॥

इस राग में दोनों ऋषभों और धन्वतों का प्रयोग बताया गया है ।
'सा-ग' और 'सा-प' सङ्गतियाँ भी इसमें राग-प्रकाशक बतायी गयी हैं ।

तीव्रमस्य प्रयोगोऽत्रानुमतो घर्षणान्वितः ।

अवरोहे सनाक् तज्जगर्गिसौकर्यहेतवे ॥३२॥

संज्ञीतज्ञों ने इस राग के अवरोह में, गायन की सुविधा की दृष्टि से,
तीव्रमध्यम का घर्षण (घसीट, मीण्ड) के अन्तर्गत स्वल्प प्रयोग करने की
अनुमति दी है ।

१. ग्रन्थ में यहाँ 'शोकाद्या' है, जो उचित प्रतीत नहीं होता । यहाँ उद्धृत
पाठ आर्यभूषण-मुद्रणालय प्रकाशित श्रीदत्तात्रय केशव जोशी सम्पादित
प्रति (सन् १९२१) से लिया गया है ।

रागाध्याय : ३११

कल्याणमेलसञ्जातो जयत्कल्याणाभिधः ।

पूर्वमेव मयाख्यातः स चास्माद्भेदमर्हयेत् ॥३३॥

कल्याण मेल से उत्पन्न जयत्कल्याण राग, जिसका वर्णन मैं पहले कर चुका हूँ, इस राग से भिन्न है ।

(५) मालीगौरा राग

मारवामेलने जाता मालीगौरा सता बुधः ।

आरोहे चावरोहेऽपि सम्पूर्णा लक्ष्यविम्बते ॥३४॥

लक्ष्य-सङ्गीत के विद्वानों ने मारवा मेल से उत्पन्न मालीगौरा को सम्पूर्णारोहावरोही माना है ।

ऋषभः सम्मतो वादी पञ्चमोऽमात्यतुल्यकः ।

गानं सुनिश्चितं सायं दिनान्त्ययामके बुधः ॥३५॥

इसमें ऋषभ स्वर वादी एवं पञ्चम स्वर संवादी है । इसका गान-समय दिन का अन्तिम प्रहर माना गया है ।

पूरियायां प्रविष्टश्चेत्स्वरः पञ्चमको यदा ।

तदा समुद्भवेन्मालीगौरारूपं सते सताम् ॥३६॥

विद्वानों को मान्यता है कि यदि पूरिया में पञ्चम स्वर का प्रयोग किया जाय तो मालीगौरा का स्वरूप निर्मित हो जाता है ।

श्रीरागपूरियायोगाद्गौरा स्यात्सुपरिस्फुटा ।

मन्द्रमध्यस्वरैर्गीता भूयादतिमनोहरा ॥३७॥

गौरा (मालीगौरा) में श्रीराग तथा पूरिया का संयोग स्पष्ट है । मन्द्र एवं मध्य स्थानीय स्वरों में इसका गायन अत्यन्त मनोहर होता है ।

प्रायशो धैवतद्वन्द्वं प्रयुक्तसत्र गायकैः ।

सपयोः सङ्गतिः स्पष्टं श्रीरागाङ्गं प्रदर्शयेत् ॥३८॥

इस राग में गायक प्रायः दोनों धैवतों का प्रयोग करते हैं । 'सा-प' सङ्गति से श्री अङ्ग स्पष्ट दिखता है ।

धनिसरिनिधपमगधसस्वरैर्भवेत् ।

स्वरूपं प्रस्फुटं चास्या इत्याहुर्लक्ष्यवेदिनः ॥३९॥

लक्ष्यज्ञ विद्वानों के मतानुसार इस राग का स्वरूप 'धनिसारे निधपः मंगम घसा' स्वरों से स्पष्ट होता है ।

३१२ : श्रीमल्लक्ष्मसङ्गीतम्

(६) साजगिरी राग

मारवामेलनोत्पन्ना साजगिरी जनप्रिया ।

आधुनिका मता तज्ज्ञैः सम्पूर्णा गांशिका तथा ॥४०॥

लोकप्रिय रागिनी साजगिरी को सङ्गीतज्ञों ने गान्धारवादी युक्त सम्पूर्णस्वरीय आधुनिक स्वरूप माना है ।

धैवतद्वन्द्वसंयुक्ता निमसङ्गतिशोभना ।

गानमस्याः समादिष्टं सायङ्काले मनोहरम् ॥४१॥

इसमें दोनों धैवत लगते हैं । निषाद और मध्यम की सङ्गति इस राग में अत्यन्त सुन्दर लगती है । इसका गायन-समय सायङ्काल है ।

मुक्तमध्यमसंस्पर्शो भवेदत्रातिरक्तिदः ।

पूर्वायाः पूर्विकायाश्च तेनैव स्यात् स्फुटाभिदा ॥४२॥

मुक्त मध्यम का स्पर्श-प्रयोग साजगिरी में अतिशय रक्तिदायक प्रतीत होता है तथा इसके द्वारा ही पूरिया तथा पूर्वी से इस राग का भेद भी स्पष्ट होता है ।

टीका—शुद्ध मध्यम पर इस राग में ठहरा भी जाता है तथा स्पर्श-प्रयोग भी होता है । यह साजगिरी का विशिष्ट प्रयोग है ।

भूषिता पूरियाङ्गेन यतो गीतात्र प्रायशः ।

मन्द्रमध्यस्वरैर्गानमवश्यं स्यात्सुखावहम् ॥४३॥

यह राग प्रायः पूरिया अङ्ग से युक्त गाया जाता है । मन्द्र तथा मध्य स्वरों में इसका गायन सुखद होता है ।

पूरिया पूर्विका चापि मिलतोऽत्र यथायथम् ।

इति समर्थितं लक्ष्ये गानशास्त्रविशारदैः ॥४४॥

लक्ष्यज्ञ विद्वानों के अनुसार इस राग में पूरिया एवं पूर्वी का यथोचित प्रमाण में मिश्रण होता है ।

(७) सोहनी राग

मारवामेलसञ्जाता सोहनी बुधसम्मता ।

आरोहे चावरोहेऽपि परिक्ता गीयते सदा । ४५॥

मारवामेलजन्य सोहनी के आरोह-अवरोह दोनों में पञ्चम वर्ज्य है ।

रांगाध्याय : ३१३

धैवतः सम्मतो वादी गान्धारो मन्त्रिसन्निभः ।

गानमस्याः समीचीनं रात्रावन्तिमयामके ॥४६॥

इस राग में वादी स्वर धैवत एवं संवादी गान्धार है। रात्रि के अन्तिम प्रहर में इसका गायन समीचीन लगता है।

प्रयोगो दृश्यते शुद्धमध्यमस्य कृतः क्वचित् ।

सङ्गतिर्धगयोर्नित्यं रागरूपं समादिशेत् ॥४७॥

इस राग में कभी-कभी शुद्ध मध्यम का प्रयोग भी दिखायी देता है। इसमें 'ध ग' सङ्गति से राग-रूप व्यक्त होता है।

अन्त्ययामप्रगेयत्वात्तारषड्जविचित्रता ।

शोभते तत्र सङ्गीतकेन्द्रस्थानं क्रमागतम् ॥४८॥

रात्रि के अन्तिम प्रहर में गाये जाने के कारण इसमें तार-षड्ज अत्यन्त वैचित्र्यपूर्ण होता है तथा इस राग के क्रमिक विस्तारों का केन्द्र-स्थान वही स्वर होता है।

मन्त्रमध्यस्वरः पूर्या सोहनी तूत्तरैः स्वरैः ।

इति सङ्गीतवैचित्र्यमद्भुतं हृदयङ्गम् ॥४९॥

पूर्या (पूरिया) मन्त्र तथा मध्य स्वर गेय है, जबकि सोहनी उत्तर स्वर गेय, अर्थात् उत्तराङ्ग के तथा तार सप्तक के स्वरों में गेय। यह अत्यन्त ही अद्भुत एवं मोहक सङ्गीत-रहस्य है।

सुप्रसिद्धेषु ग्रन्थेषु रागिणीयं न लक्षिता ।

तस्मादाधुनिका प्रोक्ता लक्ष्यलक्षणकोविदैः ॥५०॥

प्रसिद्ध पूर्वयुगीन ग्रन्थों में यह राग प्राप्त नहीं होता। इसलिए लक्ष्य-सङ्गीत के विद्वान् इसे आधुनिक राग मानते हैं।

वदन्ति धैवतं केचित्कोमलमत्र रूपके ।

न मे भाति सुयुक्तं तद्बुधः कुर्यात्स्वनिर्णयम् ॥५१॥

कुछ विद्वान् इसमें धैवत कोमल बताते हैं, किन्तु वह मुझे प्रयुक्त प्रतीत नहीं होता। विद्वान् इस विषय में स्वयं निर्णय करें।

(८) विभास राग

मारवामेलकोत्पन्नो विभासः श्रूयते जने ।

सम्पूर्णो गीयते प्रातरन्तिमाङ्गप्रधानकः ॥५२॥

३१४ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

मारवा मेल से उत्पन्न सम्पूर्ण राग विभास प्रातर्ग्य है तथा अन्तिम अङ्ग (अर्थात् उत्तराङ्ग) प्रधान है ।

धैवतस्यैव वादित्वं संवादित्वं तु गस्य तत् ।

गपयोर्मध्योश्चापि सङ्गती रक्तिकारणम् ॥५३॥

इसमें वादित्व धैवत को तथा संवादित्व गान्धार को प्राप्त होता है ।
'ग-प' और 'म-ध' सङ्गतियाँ इस राग में रक्तिकारक होती हैं ।

न्यसनं पञ्चमे नित्यं गाम्भीर्यं दर्शयेन्महत् ।

विलम्बितलये गीतो रागोऽयं बहुरक्तितदः ॥५४॥

पञ्चम पर न्यास से गाम्भीर्य व्यक्त होता है । विलम्बित लय में गाया जाने पर यह राग अत्यन्त ही रक्तिप्रद होता है ।

देशिकारस्तथा गौरी मिलतोऽत्र यथायथम् ।

इति कैश्चित्समादिष्टं गानशास्त्रविशारदैः ॥५५॥

कतिपय सङ्गीतशास्त्रियों के मतानुसार इस राग में देशिकार (देशकार) तथा गौरी का समुचित प्रमाण में मिलन होता है ।

(९) ललिता (ललित) राग

मारवामेलनोत्पन्ना रागिणी ललिता- मता ।

आरोहे चावरोहेऽपि पञ्चमेन विवर्जिता ॥५६॥

ललित नामक रागिणी मारवामेलजन्य मानी गयी है । इसमें पञ्चम आरोहावरोह में वर्ज्य है ।

शुद्धमध्यमवादित्वं सर्वेषामेव सम्मतम् ।

अमात्यत्वं भवेत्षड्जे शास्त्रोक्तनियमागतम् ॥५७॥

इस राग में शुद्ध मध्यम का वादित्व सर्वमान्य है । शास्त्रोक्त नियमों के अनुसार संवादित्व षड्ज को प्राप्त होता है ।

उत्तराङ्गप्रधानत्वे तारषड्जविचित्रता ।

सङ्गतिर्धर्मयोर्नित्यमपूर्वा रक्तिमावहेत् ॥५८॥

उत्तराङ्ग-प्रधानता के कारण इस राग में तार-षड्ज वैचित्र्यपूर्ण होता है । धैवत और मध्यम की सङ्गति इस राग में विलक्षण रञ्जकत्व निमित्त करती है ।

मध्यमस्य प्रमुक्तत्वं कस्य न द्रावयेन्मनः ।

तत्स्वरेणैव लक्ष्ये स्थाल्ललिताङ्गं स्वतन्त्रकम् ॥५९॥

रागाध्याय : ३१५

मध्यम का मुक्तत्व किसके हृदय को द्रवित (या आकर्षित) नहीं करता ? अर्थात् सभी के लिए चित्ताकर्षक होता है । उसी के कारण ललित का स्वतन्त्र अङ्ग प्रकट होता है ।

ग्रन्थे रागविबोधाख्ये ललिता समुदीरिता ।

शुद्धरामक्रियामेले धांशाऽपाथ धकोमला ॥६०॥

रागविबोध ग्रन्थ में ललिता को शुद्ध रामक्रियामेलजन्य रागिणी बताया गया है, जिसमें पञ्चम वर्ज्य है, धैवत कोमल है, तथा जिसका वादी स्वर धैवत है ।

गौरीमेलसमुत्पन्ना ललिता पञ्चमोज्झिता ।

विदुषाहोबलेनोक्ता स्वग्रन्थे पारिजातके ॥६१॥

पण्डित अहोबल ने अपने ग्रन्थ सङ्गीतपारिजात में ललिता को गौरी मेल से उत्पन्न तथा पञ्चमविहीन बताया है ।

(१०) पञ्चम राग

मारवामेलसञ्जातः पञ्चमो लोकविश्रुतः ।

सम्पूर्णः शुद्धमांशोऽपि नक्तं यामेन्तिमे स्मृतः ॥६२॥

लोकप्रिय पञ्चम राग, जो मारवा मेल से उत्पन्न होता है, सम्पूर्ण राग है । इसमें वादी शुद्ध मध्यम है । इसे रात्रि के अन्तिम प्रहर का राग माना गया है ।

उत्तराङ्गप्रधानोऽयं द्विमध्यमविश्रुतः ।

परजानन्तरं गीतो ह्यवश्यं रञ्जयेन्मनः ॥६३॥

दोनों मध्यमों से युक्त यह राग उत्तराङ्गप्रधान है, तथा परज के पश्चात् गाया जाने पर अवश्य ही मनोहारि प्रतीत होता है ।

मुक्तत्वान्मध्यमस्यात्र ललिताङ्गं भवेत्स्फुटम् ।

ललिते पञ्चमस्त्यक्त इति भेदः परिस्फुटः ॥६४॥

मुक्त मध्यम के कारण इसमें ललित अङ्ग व्यक्त होता है; परन्तु ललित में पञ्चम वर्ज्य है, अतः दोनों रागों की भिन्नता स्पष्ट हो जाती है ।

मध्यमद्वयसंयुक्त पञ्चमेन विवर्जितः ।

प्रकारः श्रूयते लक्ष्ये गायकानुमतोऽपरः ॥६५॥

३१६ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

इस राग का एक अन्य प्रकार भी लक्ष्य में गायकों के द्वारा मान्य किया गया है जिसमें दोनों मध्यमों का प्रयोग होता है तथा पञ्चम स्वर वर्जित है ।

हिन्दोलङ्गयुतोऽपश्च प्रतिलोभे रिदुर्बलः ।

गीयतेऽसौ क्वचिल्लक्ष्ये गानशास्त्रविशारदः ॥६६॥

कुछ सङ्गीतज्ञ इस राग को हिन्दोल अङ्ग से युक्त तथा पञ्चमरहित और अवरोह में दुर्बल ऋषभयुक्त मान कर भी गाते हैं ।

ऋषभोनस्तथा पांशः पञ्चमः समुदीरितः ।

धीमता सोमनाथेन मेले मालवगौळके ॥६७॥

पण्डित सोमनाथ ने इस राग को मालवगौळमेलजन्य ऋषभ वर्जित एवं पञ्चम अंशयुक्त बताया है ।

गौरीमेलसमुद्भूतः पहीनश्चानुलोमके ।

मध्यमांशस्तथा पूर्णो लोचनेन प्रकीर्तितः ॥६८॥

लोचन ने इस राग को गौरीमेलोत्पन्न वर्णित किया है, जिसमें अवरोह में पञ्चम नहीं है, तथा जिसमें अंशस्वर मध्यम है तथा जो सम्पूर्ण है ।

टीका—ऐसा प्रतीत होता है कि लोचन ने पञ्चम को सम्पूर्ण तथा पञ्चमरहित षाडव दोनों प्रकारों का बताया है ।

पञ्चमांशो रिरिक्तोऽपि प्रातः पञ्चम ईरितः ।

रागचन्द्रोदये ग्रन्थे मालवगौडमेलजः ॥६९॥

सद्रागचन्द्रोदय में पञ्चम को मालवगौडमेलोत्पन्न, पञ्चम अंशस्वरयुक्त ऋषभ वर्ज्य, प्रातर्गेय राग बताया गया है ।

(११) भट्टियार राग

मारवामेलनोत्पन्नो भट्टिहारः प्रकीर्तितः ।

आरोहे चावरोहेऽपि सम्पूर्णो लक्ष्यविन्मते ॥७०॥

लक्ष्यज्ञों ने भट्टिहार को मारवामेलजन्य सम्पूर्णारोहावरोही राग माना है ।

मध्यमोऽत्र मतो वादी संवादी षड्ज ईरितः ।

गानं सुसम्मतं तस्य रात्र्यामन्तिमयामके ॥७१॥

इस राग का वादी स्वर मध्यम तथा संवादी स्वर षड्ज है । गान-समय रात्रि का अन्तिम प्रहर है ।

रागाध्याय : ३१७

शुद्धमोऽत्र भवेन्मुक्तस्तत्रैव न्यसनं शुभम् ।

प्रयोगस्तीव्रमस्यास्मिन् रात्रिगेयत्वसूचकः ॥७२॥

इसमें शुद्ध मध्यम मुक्त रूप में लगता है, तथा उस पर न्यास मधुर लगता है । इस राग में तीव्र मध्यम का प्रयोग रात्रिगेयत्व का सूचक होता है ।

पगयोर्धमयोश्चापि सङ्गतिः स्यान्मनोहरा ।

अनुलोमे निदौर्बल्यं विलोमे वक्रता प्रिया ॥७३॥

‘प ग’ तथा ‘म ध’ की सङ्गतियाँ इसमें अत्यन्त मनोहर होती हैं । आरोह में निषाद की दुर्बलता तथा अवरोह में वक्रता प्रिय लगती है ।

खम्माजमेलसञ्जातो भटियारः श्रुतः क्वचित् ।

लक्ष्यमार्गमनुसृत्य बुधः कुर्याद् स्वनिर्णयम् ॥७४॥

कहीं-कहीं भटियार को खमाज मेल से उत्पन्न भी बताया जाता है । लक्ष्य-प्रचार का अनुसरण करते हुए इस विषय में अपना निर्णय विद्वानों को करना चाहिए ।

रागतरङ्गिणीग्रन्थे भटियालः प्रकीर्तितः ।

गौरीमेलसमुत्पन्नः पञ्चमेन विवर्जितः ॥७५॥

रागतरङ्गिणी में भटियाल नामक गौरीमेलजन्य पञ्चमवर्जित राग वर्णित है ।

(१२) भङ्गार राग

मारवामेलसञ्जातो भङ्गारो गीयते जने ।

आधुनिकं वदन्तीमं केचित् लक्ष्यविचक्षणाः ॥७६॥

मारवा मेल से उत्पन्न राग भङ्गार को कुछ लक्ष्य विद्वान् आधुनिक रागस्वरूप मानते हैं ।

सम्पूर्णः पञ्चमांशः स्यादुत्तराङ्गप्रधानकः ।

यामे तुरीयके रात्र्यां गानमस्य सुखप्रदम् ॥७७॥

यह सम्पूर्ण राग है । इसका वादी स्वर पञ्चम है । इस राग में उत्तराङ्ग की प्रधानता रहती है । रात्रि के चतुर्थ प्रहर में इसका गान अत्यन्त मधुर लगता है ।

मध्यमद्वयसंयोगाद्विभासो भिन्नतां व्रजेत् ।

मुक्तमस्य तिरोभावे भट्टिहारो न सम्भवेत् ॥७८॥

३१८ : श्रीमल्लदयसङ्गीतम्

दोनों मध्यमों के प्रयोग के कारण यह राग विभास से भिन्न है। मुक्त मध्यम का प्रयोग इसमें नहीं होता, अतः यह भट्टियार से भी भिन्न है।

पगयोर्मध्योश्चेह सङ्गतिः स्यान्मनोहरा।

अप्रसिद्धस्वरूपत्वाद्गानमस्य सुदुर्लभम् ॥७९॥

भङ्गार राग में पञ्चम और गान्धार की एवं मध्यम और धैवत की सङ्गतियाँ सुन्दर लगती हैं। इस अप्रसिद्ध राग-स्वरूप का गायन वर्तमान सङ्गीत में क्वचित् ही सुनायी देता है।

टिप्पणी

एवं च मारवामेले रागा द्वादश लक्षिताः।

सायङ्गेया भवेयुः षट् प्रातर्गेयाः षडोरिताः ॥८०॥

मारवामेलजन्य उपर्युक्त बारह राग प्रचार में दिखायी देते हैं। इनमें से छह राग सायङ्गेय हैं तथा छह प्रातर्गेय।

पूरिया मारवा जैत्रो गौरा साजगिरी तथा।

वराटी सहिता एते सायङ्गेया मता बुधैः ॥८१॥

विद्वानों ने पूरिया, मारवा, जैत, मालीगौरा, साजगिरी तथा वराटी को सायङ्गेय माना है।

ललितः पञ्चमश्चैव भट्टियारो विभासकः।

भङ्गारः सोहनी चेति प्रातर्गेयाः समीरिताः ॥८२॥

ललित, पञ्चम, भट्टियार, विभास, भङ्गार एवं सोहनी प्रातर्गेय राग कहे गये हैं।

गौर्यङ्गाः पूरियाङ्गाश्च सायङ्गेया व्यवस्थिताः।

ललिताङ्गास्तथा प्रोषताः सोहन्यङ्गाः प्रभातगाः ॥८३॥

मारवामेलजन्य सायङ्गेय राग गौरी तथा पूरिया रागाङ्गों से गेय माने गये हैं तथा प्रभातगेय राग ललित और सोहनी रागाङ्गों से युक्त।

सायङ्गेयेषु पूर्वाङ्गं प्रबलं गुणिसम्मतम्।

प्राबल्यमुत्तराङ्गे स्यात् प्रातर्गेयेषु निश्चितम् ॥८४॥

गुणीजनों के मतानुसार सायङ्गेय रागों में पूर्वाङ्ग प्रबल होते हैं तथा प्रातर्गेय रागों में उत्तराङ्ग।

स्थूलदृष्टिकृता एते नियमा मार्गदर्शकाः ।

विशेषास्तु तत्रतत्र द्रष्टव्या मर्मवेदिभिः ॥८५॥

ये नियम स्थूल दृष्टि से मार्गदर्शक हैं । सूक्ष्मज्ञों को राग-विषयक विशिष्ट नियम उन रागों के अनुसार देखने चाहिए ।



काफीमेलजन्य राग

(१) काफी राग

हरप्रियाख्यमेलोऽसौ लक्ष्येऽत्र काफिसंज्ञितः ।

काफीरागस्तदुत्थः स्यादिति लक्ष्यविदां मतम् ॥१॥

हरप्रिया (खरहरप्रिया) मेल को ही वर्तमान हिन्दुस्तानी पद्धति में काफी मेल कहते हैं । लक्ष्यज्ञ विद्वानों के मतानुसार काफी राग उसी मेल से उत्पन्न हुआ है ।

पञ्चमः सम्मतो वादी संवादी षड्जनामकः ।

केचिद् गान्धारमाहुस्ते वादिनं गानकोविदाः ॥२॥

काफी राग का वादी स्वर पञ्चम है तथा संवादी स्वर षड्ज । कतिपय सङ्गीतज्ञों ने इस राग में गान्धार को वादी स्वर बताया है ।

मध्यरात्रोचितो मेलो यथायं गनिकोमलः ।

मध्याह्नाहस्तथैवासौ को न जानाति मर्मविद् ॥३॥

गान्धार और निपाद कोमल होने के कारण काफीमेल मध्य रात्रि के तथा इसी प्रकार मध्याह्न के लिए भी उपयुक्त है । यह तथ्य कौन सङ्गीतज्ञ नहीं जानता ?

टीका—इसी ग्रन्थ में पूर्वपृष्ठों में गान-समयानुसार कोमल रे-व आदि राग-त्रिवर्गों का विवेचन किया जा चुका है । अतः यहाँ यह कहने की आवश्यकता नहीं कि सायङ्काल तथा इसी प्रकार प्रातःकाल से आगे पहले दो वर्गों के पश्चात् मध्यरात्रि तथा मध्याह्न के समय कोमल ग-नि वाले काफी आदि मेलों के राग आते हैं ।

दरबारादिकान् रागान् न वतं गीत्वा धकोमलान् ।

तीव्रधैवतसम्पन्नान् गायन्ति गायकाः क्रमात् ॥४॥

रात्रि-काल में दरबारी कानड़ा आदि कोमल धैवत वाले रागों को गाने के पश्चात् गायक क्रमशः तीव्र (शुद्ध) धैवत वाले रागों को गाते हैं ।

३२० : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

आसावर्थादिकान्नीत्वा दिवा धैवतकोमलान् ।

सारङ्गाद्यादिकान् लोके गायन्ति शुद्धधैवतान् ॥५॥

इसी प्रकार, दिन के समय में भी आसावरी इत्यादि कोमल धैवत युक्त रागों के उपरान्त सारङ्ग इत्यादि तीव्र धैवत युक्त राग गाये जाते हैं ।

टीका—राग-समय चक्र का सूक्ष्म निरीक्षण करने पर ज्ञात होता है कि दिवस और रात्रि दोनों में ही मध्य के प्रहरों के लगभग पहले कोमल ग-घ-नि वाले आसावरी मेल के रागों का गान होता है, तत्पश्चात् कोमल ग-नि युक्त काफीमेलजन्य रागों का ।

सम्भवेयुरवश्यं तेऽपवादा लक्ष्यवर्त्मनि ।

साधारणो मया प्रोक्तो नियमस्तत्त्वदर्शिनाम् ॥६॥

यद्यपि वर्तमान सङ्गीत-पद्धति में इसके अपवाद भी अवश्य सम्भव हैं, तथापि सङ्गीततत्त्वदर्शियों के लाभार्थ यह सामान्य नियम मैंने बताया है ।

यतः सम्पूर्णरागोऽयमारोहे चावरोहणे ।

लोक आश्रयरागत्वं काफीरागस्य सम्मतम् ॥७॥

सम्पूर्ण-सम्पूर्ण होने के कारण काफी राग अपने मेल का आश्रय राग माना गया है ।

काफीत्याधुनिकं नाम पारसीकं परिस्फुटम् ।

स्वीकृतं यत्पुराणंस्तन्नेवास्माभिरुपेक्षितम् ॥८॥

‘काफी’ यह नाम आधुनिक फारसी नाम है, यह स्पष्ट ही है । परन्तु हमने इस मेल के पुरातन ग्रन्थकारों द्वारा स्वीकृत नाम (अर्थात् खरहारप्रिया) की उपेक्षा भी नहीं की है ।

दाक्षिणात्यमते काफीरागः श्रीरागमेलजः ।

श्रीरागः कीर्तितस्तत्र गनिकोमलमण्डितः ॥९॥

दाक्षिणात्य मत में हमारे काफी राग को श्रीरागमेल से उत्पन्न, कोमल गान्धार-निषाद युक्त श्रीराग कहा जाता है ।

हिन्दुस्थानीयपद्धत्यां श्रीरागः पूर्वमेलजः ।

इति मया समाख्यातं पूर्वमेव सविस्तरम् ॥१०॥

हिन्दुस्थानी पद्धति में प्रचलित श्रीराग पूर्वमेलोत्पन्न है, यह मैं विस्तार-पूर्वक पहले ही बता चुका हूँ ।

न्यासः पञ्चमके काफ्यां सुस्पष्टं रागवाचकः ।

श्रोतारोऽपि सुखं तेन कुर्वन्ति रागनिर्णयम् ॥११॥

पञ्चम पर न्यास काफी राग में स्पष्टतः रागवाचक होता है । श्रोता-
गण भी उसी से अत्यन्त सरलता से रागनिर्णय कर लेते हैं ।

अनुलोमगतः क्षम्यः प्रयोगस्तीव्रनेर्मनाक् ।

काफीमेलोत्थरागेषु गानसौकर्यहेतवे ॥१२॥

काफी मेल से उत्पन्न रागों में, सुविधा की दृष्टि से, अवरोह में तीव्र
निषाद का मनाक् प्रयोग (अत्यल्प प्रयोग) क्षम्य है ।

क्षुद्रगीताहंता काफ्यां लोके सर्वत्र सम्मता ।

शृङ्गाररसभूयिष्ठां काफीं शंसन्ति पण्डिताः ॥१३॥

यह सर्वसम्मता है कि काफीराग ठुमरी आदि क्षुद्रगीतों के योग्य है ।
पण्डितजन इसे शृङ्गाररसप्रभूत मानते हैं ।

टिप्पणी

हिन्दुस्थानीयपद्धत्यां रागाः काफ्याह्वमेलजाः ।

पञ्चाङ्गेषु विभक्ताः स्युर्लक्ष्यमार्गानुसारतः ॥१४॥

वर्तमान प्रचार के अनुसार हिन्दुस्तानी पद्धति में काफीमेलजन्य रागों
को पाँच रागाङ्गों के अन्तर्गत विभाजित किया गया है ।

काफ्यङ्गं प्रथमं प्रोक्तं घनाश्रयङ्गं द्वितीयकम् ।

सारङ्गाङ्गं तृतीयं स्याच्चतुर्थं कानड़ाह्वयम् ॥१५॥

स्यात्पञ्चमं मलाराख्यं भूरिरक्तिप्रदायकम् ।

ये रागाङ्ग इस प्रकार हैं—(१) काफी, (२) घनाश्री, (३) सारङ्ग;
(४) कानड़ा, (५) मलार ।

अथो वक्ष्ये क्रमाद्रागान्स्तान् पञ्चाङ्गानुसारतः ॥१६॥

अब मैं इन पाँच रागाङ्गों के अन्तर्गत आने वाले रागों को क्रमानुसार
बता रहा हूँ ।

काफी सिन्दूरकः पीलू रागाः काफ्यङ्गमण्डिताः ।

काफी, सिन्दूर और पीलू—ये काफी अङ्ग के राग हैं ।

३२२ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

धनाश्रीर्धानिका भीमपलाशी हंसकङ्कणी ॥१७॥

प्रदीपकी मता एता धनाश्रयङ्गपरिष्कृताः ।

धनाश्री, धानी, भीमपलासी, हंसकङ्कणी तथा प्रदीपकी—ये धनाश्री अङ्ग से युक्त हैं ।

बागीश्वरी बहारश्च सुहा सुव्राह्मिका तथा ॥१८॥

नायकी साहना तद्वद्देशाख्यः कौशिकाह्वयः ।

रागाः प्रकीर्तितास्तज्ज्ञैः कानडाङ्गसुशोभना ॥१९॥

सङ्गीतज्ञों ने बागेश्री, बहार, सूहा, सुघराई, नायकी, सहाना, देशाख तथा कौसी को कानडा अङ्ग से युक्त बताया है ।

शुद्धसारङ्गसामन्तो मध्यमादिस्तथैव च ।

वृन्दावनी वृद्धहंसो मीयांसारङ्गनामकः ॥२०॥

लङ्काद्यवहनः पटमञ्जरी काफिमेलजा ।

रागा एते मता अष्टौ सारङ्गाङ्गविभूषिताः ॥२१॥

शुद्ध सारङ्ग, सामन्त, मध्यमादि, वृन्दावनी, वृद्धहंस (वडहंस), मीयां-सारङ्ग, लङ्कादहन तथा पटमञ्जरी—इन आठ काफिमेलजन्य रागों को सारङ्गाङ्ग युक्त माना गया है ।

मल्लारः शुद्धपूर्वोऽथ मीयांमल्लारकाभिधः ।

गौडमल्लारको मेघः सूरमल्लारसंज्ञितः ॥२२॥

रामदासी तथा चर्जुचञ्चलाख्यौ च धूलिया ।

मीरामल्लारकः प्रोक्ता मल्लाराङ्गप्रदर्शिनः ॥२३॥

शुद्धमल्लार, मीयांमल्लार, गौडमल्लार, मेघ, सूरमल्लार, रामदासी-मल्लार, चर्जूमल्लार, चञ्चलससमल्लार, धूलियामल्लार तथा मीरामल्लार—ये मल्लार अङ्ग के राग हैं ।

(२) सैन्धवी (सिन्धूरा, सिन्धोड़ा) राग

काफीमेलसमुत्पन्ना सैन्धवी कथ्यते जने ।

आरोहणे गनित्यक्ता सम्पूर्णा चावरोहणे ॥२४॥

काफीमेलजन्य सैन्धवी के आरोह में गान्धार-निषाद वर्ज्य हैं तथा अवरोह सम्पूर्ण है ।

सपयोरेव संवादः कैश्चित्स रिषयोर्मतः ।

गानमत्याः समादिष्टं प्रायशः सार्वकालिकम् ॥२५॥

इसमें षड्ज-पञ्चम का संवाद, अर्थात् षड्ज वादी और पञ्चम संवादी है। कुछ विद्वानों के मत में, इसमें ऋषभ-वैवत संवाद होता है। गान प्रायः सार्वकालिक माना जाता है।

वैमत्यं दृश्यते लोके निषादपरिवर्जने ।

प्रयोगस्तत्स्वरस्येह क्षम्यते रोहणे मनाक् ॥२६॥

इस राग में निषाद के वर्ज्यत्व के विषय में मतभेद दिखायी देता है। आरोह में उसका मनाक् प्रयोग (अल्प प्रयोग) क्षम्य माना गया है।

लक्ष्ये तु गायकाः प्रायः काफीमिश्रितरूपकम् ।

प्रदर्शयन्ति सैन्धव्या लोकरञ्जनवाञ्छिनः ॥२७॥

लोकरञ्जन चाहने वाले गायक प्रायः सैन्धवी को काफीमिश्रित प्रस्तुत करते हैं।

सिन्धोडानामका सैव सैन्धवीति परिष्फुटम् ।

रागपूर्वविबोधे स्यात्सोमनाथेन कीर्तितम् ॥२८॥

अगनिः सैन्धवी प्रोक्ता स्वप्नन्धे तेन सूरिणा ।

सोमनाथ ने रागविबोध में स्पष्ट कहा है कि सिन्धोड़ा नामक रागिनी ही सैन्धवी कही जाती है। उक्त विद्वान् ने सैन्धवी को गान्धार-निषाद रहित बताया है।

प्रतिलोमे तु सम्पूर्णा पारिजाते समीरिता ॥२९॥

सङ्गीतपारिजात में इसे सम्पूर्णविरोही बताया गया है।

काफीमेलसमुत्पन्नः सैन्धवो धैवतादिकः ।

प्रारोहे गनिवर्ज्योऽपि ह्रव्येशेन कीर्तितः ॥३०॥

हृदयनारायणदेव ने इसे काफी मेल से उत्पन्न, धैवत ग्रह स्वरयुक्त तथा आरोह में गान्धार-निषाद वर्जित वर्णित किया है।

(३) पील राग

काफीमेलसमुत्पन्नः पीलुरागो गुणिप्रियः ।

आधुनिकस्तथैवासौ पारसीकोऽपि सम्मतः ॥३१॥

३२४ : श्रीमल्लक्ष्मसङ्गीतम्

काफीमेल से उत्पन्न, गुणीजनों के प्रिय राग पीलू को भी आधुनिक तथा फ़ारसी राग माना गया है ।

गान्धारः सम्मतो वादी संवादी सप्तमो भवेत् ।

गानं चास्य समादिष्टं तृतीयप्रहरे दिने ॥३२॥

इसका वादी स्वर गान्धार तथा संवादी सप्तम स्वर (निषाद) है ।
इसका गायन-समय दिन का तृतीय प्रहर बताया गया है ।

मते केषाञ्चिदप्येष भिन्नषड्जसुमेलजः ।

प्रारोहे ऋषभत्यक्तो गनिसंवादमण्डितः ॥३३॥

कुछ विद्वानों के मतानुसार यह राग भिन्न षड्ज नामक मेल से उत्पन्न होता है, तथा जिसमें आरोह में ऋषभ वर्जित है तथा गान्धार-निषाद का संवाद है ।

यथायोगं मिलन्त्यत्र स्वरास्तीव्राश्च कोमलाः ।

सङ्कीर्णं रूपकं त्वेतन्नित्यं स्याज्जनमोहनम् ॥३४॥

सप्तक के सभी तीव्र-कोमल स्वरों का यथावश्यक मात्रा में प्रयोग पीलू राग में होता है । सङ्कीर्ण स्वरूप का यह राग सर्वदा जनमनमोहक लगता है ।

टीका—पीलू राग में गुणीजन बारहों स्वरों का प्रयोग करते हैं । अनेक रागाङ्गों से युक्त इस राग का अपना स्वतन्त्र स्वरूप नहीं है, अपितु वह उन्हीं रागाङ्गों का मिश्रित, संकरस्वरूप है ऐसी विद्वानों की मान्यता है ।

काफी गौरी तथा भीमपलासी भैरवी क्वचित् ।

रागेऽस्मिन्सम्मिलन्त्याहुर्लक्ष्यलक्षणकोविदाः ॥३५॥

लक्ष्यज्ञों ने कहा है कि इस राग में काफी, गौरी, भीमपलासी और भैरवी का मिश्रण होता है ।

प्रायस्तीव्रस्वराणां स्यात्प्रारोहे सुप्रयोजनम् ।

विलोमे कोमलानां सन्नियमो भाति मे स्फुटः ॥३६॥

इस राग के प्रचलित स्वरूप में मुझे यह नियम स्पष्ट दिखायी देता है कि तीव्र स्वरों का प्रयोग प्रायः आरोह में तथा कोमल स्वरों का प्रयोग अवरोह में होता है ।

क्षुब्रगीतार्हता पीलूरागस्य सम्मता जने ।

मिश्ररूपेण रागोज्यं नित्यं सहजसुन्दरः ॥३७॥

शाण्ड्याय : ३२५

पीलू राग को हुमरी, दादरा आदि क्षुद्र गीतों के योग्य माना गया है।
मिश्रित स्वरूप का यह राग अत्यन्त सुन्दर है।

(४) भीमपलासी राग

काफीमेलसुसञ्जाता प्रोक्ता भीमपलासिका ।

आरोहे रिषहीनं स्यादवरोहे समप्रकम् ॥३८॥

काफीमेल से उत्पन्न भीमपलासी आरोह में ऋषभ-धैवतविहीन तथा
अवरोह में सम्पूर्ण है।

मध्यमांशग्रहन्त्यासा मुक्तमध्यमसण्डिता ।

गानमस्याः समीचीनमपराह्णं सुसम्मतम् ॥३९॥

मध्यम स्वर इसमें ग्रह, अंश और न्यास है, तथा इसमें मुक्त (खुला)
मध्यम लगता है। इसका उचित गानसमय अपराह्ण है।

वादित्वान्मध्यमस्यात्र धनाधीनैव सम्भवेत् ।

पूर्णत्वं प्रतिलोमे यद्वानीशंका कुतो भवेत् ॥४०॥

वादी स्वर मध्यम होने के कारण इस घनाश्री की सम्भावना नहीं
रहती। पूर्ण अवरोह से घानी का आभास कैसे हो सकता है? (अर्थात् नहीं
हो सकता।)

मते केवाञ्चिदप्येषा रिषकोमलमण्डिता ।

केचिद्विचर्जनं प्राहुरन्ये धैवतवर्जनम् ॥४१॥

कुछ विद्वानों के अनुसार, यह राग कोमल ऋषभ-धैवत युक्त है। कुछ
इसमें ऋषभ को वर्जित मानते हैं, तो कुछ धैवत को वर्जित बताते हैं।

एकैकश्रुत्यपकृष्टौ क्वचिद्विधौ समीरितौ ।

लक्ष्यमार्गमनुसृत्य बुधः कुर्याद्यथोचितम् ॥४२॥

कहीं-कहीं इस राग के ऋषभ-धैवत एक-एक श्रुति नीचे बताये गये हैं।
लक्ष्यप्रचार के अनुसार विद्वानों को इस राग के विषय में यथोचित निर्णय
करना चाहिए।

सम्मतं श्रुतिभिन्नत्वे रक्तिभिन्नत्वमञ्जसा ।

मते मे वादिभिन्नत्वं पर्याप्तं लक्ष्यभेदकम् ॥४३॥

श्रुति-भिन्नता के कारण स्पष्टतः रक्ति-भिन्नता हो जाना सर्वसम्मत
है। मेरे मत में वादी-भिन्नता लक्षण-भिन्नता के लिए पर्याप्त है।

३२६ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

टीका—‘चतुर पण्डित’ का अभिप्राय यह है कि भीमपलासी के रे-घ को एक श्रुति नीचे मानने से वह धानी से सीधे रूप में अलग हो सकती है परन्तु लक्षणों की दृष्टि से दोनों के वादी स्वरों की भिन्नता भी राग-भेद को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त है ।

ग्रन्थेषु रागभेदास्तु श्रुत्यायत्ता न लक्षिताः ।

तद्विधानं न चावश्यं रागभेदोपलब्धये ॥४४॥

श्रुति की इयत्ता (सीमा) के कारण राग-भिन्नता का प्रमाण ग्रन्थों में नहीं मिलता । अतः राग-भेद प्राप्ति के लिए यह विधान उपादेय नहीं है ।

(५) धनाश्री राग

काफीमेलसमुद्भूता धन्याश्रीः कथिता जने ।

प्रारोहे रिधहीनाऽसौ सम्पूर्णा प्रतिलोमके ॥४५॥

काफीमेलोत्पन्न धनाश्री को ऋषभ-धैवत वर्जित आरोही तथा सम्पूर्णा-वरोही बताया गया है ।

पञ्चमः सम्मतो वादी मन्त्री षड्जः समीरितः ।

लक्ष्ये सुसम्मतं गानं तृतीयप्रहरे दिने ॥४६॥

इसका वादी स्वर पञ्चम तथा संवादी पड्ज है । दिन का तृतीय प्रहर इसका लक्ष्यसम्मत गान-समय है ।

ग्रहः प्रायो निषादः स्यान्न्यासः स्यात् पञ्चमाह्वयः ।

सङ्गतिः पण्योश्चित्रा विलोमे तद्विदां मते ॥४७॥

इस राग में प्रायः निषाद को ग्रह स्वर तथा पञ्चम को न्यास स्वर माना जाता है । विद्वानों के अनुसार, इसके अवरोह में ‘प-गु’ की सङ्गति वैचित्र्यपूर्ण लगती है ।

वादित्वे मध्यमस्यात्र लसेद् भीमपलाशिका ।

प्रारोहे रिधसन्त्यक्ता मध्यमांशसमन्विता ॥४८॥

मध्यम स्वर का वादित्व हो जाने से इस राग में भीमपलासी दिखायी देती है, जिसके आरोह में ऋषभ-धैवत वर्ज्य हैं तथा जिसमें वादीस्वर मध्यम है ।

तृतीययामगेयेषु रागेषु परिवृश्यते ।

दोर्बल्यं रिधयोः प्रायोऽनुलोमे लक्ष्यविन्मते ॥४९॥

रागाध्याय : ३२७

लक्ष्यसङ्गीत के मर्मज्ञों का मत है कि तृतीय प्रहर के रागों के आरोह में प्रायः ऋषभ-धैवत की दुर्बलता दिखायी देती है।

दुर्बलत्वात्तयोस्तत्र प्राबल्यं समपेषु तत्।

पवादित्वे धनाश्रीः स्यान्मांशत्वे स्यात्पलाशिका ॥५०॥

ऋषभ-धैवत की दुर्बलता के कारण उन रागों में षड्ज, मध्यम और पञ्चम की प्रबलता होती है। अतः धनाश्री में पञ्चम को और भीमपलासी में मध्यम को वादित्व प्राप्त होता है।

शुद्धमेलसमुत्पन्ना प्रारोहे रिधवर्जिता।

धनाश्री कीर्तिता तत्र सङ्गीतपारिजातके ॥५१॥

सङ्गीतपारिजात में धनाश्री को शुद्धमेल से उत्पन्न, ऋषभ-धैवत वर्जित आरोही रागिनी वर्णित किया गया है।

ग्रन्थेषु केषुचित्प्रोक्ता धनाश्री रिधवर्जिता।

प्रातर्गैया तथा षड्जग्रहांशा काफिमेलजा ॥५२॥

कुछ ग्रन्थों में धनाश्री को काफ़ीमेल से उत्पन्न, ऋषभ-धैवत वर्जित एवं षड्ज ग्रह, अंश और न्यास युक्त प्रातर्गैया राग कहा गया है।

नित्यं पमुद्रिता प्रोक्ता रिधोना सांशिका तथा।

धनाश्रीर्धवलाद्यासौ विबोधे रागपूर्वके ॥५३॥

रागविबोध में धवलाधनाश्री नामक राग बताया गया है, जो पञ्चम-मुद्रित (अर्थात् पञ्चम वादीयुक्त), ऋषभ-धैवत विहीन एवं षड्ज अंशयुक्त राग है।

टीका—रागविबोधकार ने धवलाधनाश्री को “पमुद्रिता” कहा है। किसी भी राजा अथवा राज्य का प्रमुख चिह्न उसकी विशिष्ट मुद्रा (सील) होता है और उस मुद्रा को देखते ही उसका नाम-परिचय प्राप्त हो जाता है। वादी स्वर रागरूपी राज्य का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण लक्षण होता है। इसी लिए यहाँ वादी स्वर को ‘मुद्रा’ मानते हुए धवलाधनाश्री को “पमुद्रिता” बताया गया है।

(६) धानी राग

हरप्रियाख्यमेलान्च धानीति संज्ञिता जने।

रागिणी स्यात्समुत्पन्ना सुरसा सार्वकालिका ॥५४॥

३२८ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

अत्यन्त ही सरस एवं सार्वकालिक धानी रागिनी काफीमेल से उत्पन्न हुई है ।

आरोहे चावरोहेऽपि वर्जितर्षभधैवता ।

गान्धारीऽत्र मतो वादी निषादोऽभात्यसन्निभः ॥५५॥

इसके आरोह और अवरोह दोनों ही में ऋषभ-धैवत वर्जित हैं । इसका वादी स्वर गान्धार एवं संवादी स्वर निषाद है ।

औडुवषाडवा चापि विलोमे ऋषभान्विता ।

क्वचित्समीक्षिता लक्ष्ये इति प्रज्ञा वदन्ति ते ॥५६॥

विद्वानों के अनुसार, प्रचार में कही-कहीं इस राग को अवरोह में ऋषभवर्जित औडुवषाडव भी माना गया है ।

रिहीना रिधहीना वा साहोबलेन कीर्तिता ।

तथैव तत्त्वबोधेऽसौ श्रीनिवासविनिर्मिते ॥५७॥

अहोबल ने तथा श्रीनिवास ने भी अपने ग्रन्थ रागतत्त्वविबोध में, धानी को ऋषभ वर्ज्य अथवा ऋषभ-धैवत वर्ज्य राग बताया है ।

रागलक्षणके ग्रन्थे शुद्धघन्नासिकेरिता ।

हरप्रियाह्वये मेले ऋषभधैवतोऽञ्जिता ॥५८॥

रागलक्षण नामक ग्रन्थ में 'शुद्ध घन्नासिका' को हरप्रियामेलजन्य ऋषभ-धैवतरहित रागिनी बताया गया है ।

कदाचित्सैव लक्ष्येऽत्र धानिसंज्ञा समीरिता ।

इत्याहुः पंडिताः केचिल्लक्ष्यलक्षणकोविदाः ॥५९॥

कदाचित् वही शुद्धघन्नासी आज लक्ष्य-सङ्गीत में 'धानी' कही जाती है, ऐसा कतिपय आधुनिक सङ्गीतशास्त्रियों ने कहा है ।

वाचमूले तथाप्यत्र विषये तत्त्वदर्शिभिः ।

लक्ष्यगतमनुलङ्घ्य कार्यं नित्यं स्ववर्तनम् ॥६०॥

तथापि, इस विवादास्पद विषय पर, लक्ष्य-प्रचलित मान्यताओं की उपेक्षा न करते हुए ही विद्वानों को राग-व्यवहार करना चाहिए ।

समपानां तु दौर्बल्ये ह्यभावे रिधयोस्तथा ।

क्रुतो गाम्भीर्यसम्प्राप्तिर्भवेन्नैव सतां मते ॥६१॥

षड्ज, मध्यम और पञ्चम की दुर्बलता एवं ऋषभ और धैवत के वर्ज्यत्व के कारण इस राग में गम्भीरता कैसे हो सकती है? विद्वानों के मतानुसार घानी में गाम्भीर्य की उपलब्धि कदापि सम्भव नहीं है।

(७) हंसकङ्कणी राग

काफीमेलसमुत्पन्ना रागिणी हंसकङ्कणी ।

लक्ष्याध्वनि बुधर्गीता तृतीयप्रहरे दिने ॥६२॥

काफी मेल से उत्पन्न हंसकङ्कणी आधुनिक पद्धति में सङ्गीतज्ञों द्वारा दिन के तृतीय प्रहर के समय गायी जाती है।

प्रारोहे रिधहीना स्यात्सम्पूर्णा प्रतिलोमके ।

धनाश्रयङ्गप्रगीतासौ भूरिरक्तिप्रदायिका ॥६३॥

धनाश्री अङ्ग से गायी जाने वाली यह ऋषभ-धैवत वर्जित आरोह तथा सम्पूर्ण अवरोह वाली रागिनी अत्यन्त ही रञ्जक है।

गान्धारद्वययोगोऽत्र कौशल्येन प्रदर्शितः ।

रोहणे तीव्रगो युक्तो विलोमे कोमलाह्वयः ॥६४॥

दोनों गान्धारों का प्रयोग इसमें अत्यन्त कुशलतापूर्वक दिखाया जाता है। तीव्र गान्धार आरोह में तथा कोमल गान्धार अवरोह में प्रयुक्त होता है।

पञ्चमः सम्मतो वादी संवादी षड्ज ईरितः ।

धनाश्रयङ्गप्रधानत्वं रागेऽस्मिन् सर्वसम्मतम् ॥६५॥

हंसकङ्कणी का वादी स्वर पञ्चम तथा संवादी षड्ज है। इसमें धनाश्री अङ्ग की प्रधानता सर्वसम्मत है।

विचित्रमप्रसिद्धं च रूपमेतदसंशयम् ।

गीयते लक्ष्यमार्गेऽत्र केवलं गायनोत्तमैः ॥६६॥

यह राग-रूप निश्चय ही वैचित्र्यपूर्ण तथा अप्रसिद्ध (अप्रचलित) है, जिसे आज केवल उत्तम गायक ही गाते हैं।

(८) प्रदीपकी राग (पटदीपकी राग)^१

१. प्रचार में पटदीप नामक जो राग है, वह प्रदीपकी से भिन्न प्रतीत होता है। पटदीप का प्रचलित स्वरूप शुद्ध निषादयुक्त भीमपलासी ही लगता है। उसमें 'गु. म . . प . . नि....सां. घ . . प....' मुख्य अङ्ग प्रतीत होता है।

३३० : ओमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

स्यात्काफिमेलसञ्जाता प्रदीपकी सुसम्मता ।

प्रोरोहे रिषहीनं स्यादवरोहे समग्रकम् ॥६७॥

प्रदीपकी काफी मेल से उत्पन्न ऋषभ-वैवत वर्ज्य आरोही तथा सम्पूर्णविरोही राग है ।

मञ्जरीं रागिणीं गीत्वा यदैषारभ्यते पुनः ।

किञ्चिदवर्णनीयं तद्वैचित्र्यमनुभूयते ॥६८॥

जब मञ्जरी (पटमञ्जरी) को गा कर इसे गाया जाता है, तब एक अवर्णनीय वैचित्र्य की अनुभूति होती है ।

मन्द्रमध्यस्वरैः सैव पलाशिकां प्रसूचयेत् ।

पलाशी मांशिका नित्यं सांशिकेयं मता जने ॥६९॥

इस राग में मन्द्र और मध्य स्वरों में विस्तार किये जाने पर भीम-पलासी का आभास मिलता है । किन्तु भीमपलासी में मध्यम वादी है जबकि इस राग में वादी षड्ज है ।

मते केषाञ्चिदप्येषा मध्यमस्वरवादिनी ।

प्रतिलोमगतो रिः स्यादसत्प्रायोऽतिदुर्बलः ॥७०॥

कुछ विद्वानों के मत में प्रदीपकी में मध्यमवादी है । इसके अवरोह में ऋषभ असत्प्राय (नहीं के समान) तथा अत्यन्त दुर्बल होता है ।

ईषन्मृदू समादिष्टौ कैश्चिदत्र रिषवन्तौ ।

एतन्मर्मपरिज्ञानं केवलं विदुषां भवेत् ॥७१॥

इसमें ऋषभ-वैवत किञ्चित् मृदु (उतरे हुए) होते हैं, ऐसा किसी विद्वान् ने बताया है । इस रहस्य का बोध केवल सुज्ञजनों को ही होता है ।

टीका—प्रदीपकी के रे-घ अपने शुद्ध स्थान से थोड़ा नीचे लगते हैं, ऐसा मत भी प्रसिद्ध है । यह प्रयोग अत्यन्त सूक्ष्मज्ञेय होता है ।

तीव्रगान्धारयोगोऽत्र कौशल्येन सुसाधितः ।

विश्लिष्टो मध्यमोऽपि स्यात्कङ्कणीभेददर्शकः ॥७२॥

इसमें तीव्र गान्धार का प्रयोग अत्यन्त कुशलता से साध्य होता है । इसमें मुक्त मध्यम का प्रयोग भी हंसकङ्कणी से इसका भेद प्रदर्शित करता है ।

(९) वागीश्वरी (बागेश्वी) राग

हरप्रियाह्वये मेले वागीश्वरी मता बुधैः ।

प्रोरोहे पवर्ज्यं स्यात्प्रतिलोमे समग्रकम् ॥७३॥

रागाध्याय : ३३१

काफी मेल से उत्पन्न वागीश्वरी को विद्वज्जनों ने आरोह में पञ्चम-वर्जित तथा सम्पूर्णवरोही बताया है ।

मध्यमः कीर्तितो वादी संवादी षड्ज ईरितः ।

गानं सुसम्मतं तस्या रात्र्यां तृतीययामके ॥७४॥

इसका वादी मध्यम तथा संवादी षड्ज कहा गया है । इसका गान-समय रात्रि का तृतीय प्रहर है ।

लङ्घनं पञ्चमस्य स्यात्समूलं लक्ष्यते क्वचित् ।

अल्पत्वं पञ्चमे युक्तं प्रतिलोमे सतां मते ॥७५॥

प्रचार में इस राग में पञ्चम का पूर्णतः लङ्घन भी कहीं-कहीं दिखायी देता है । विद्वानों ने इसको अवरोह में पञ्चम का अल्पत्व उचित माना है ।

धनाश्रीकानडायुक्ता वागीश्वरी प्रकीर्तिता ।

रागतरङ्गिणीग्रन्थे लोचनेन मनीषिणा ॥७६॥

विद्वान लोचन ने रागतरङ्गिणी में वागीश्वरी को धनाश्री तथा कानडा अङ्गों से युक्त (मिश्रित) बताया है ।

त्यक्ते पञ्चमके सद्यो ग्रन्थोक्ता रागिणी भवेत् ।

पर्वजिता तथा मांशा श्रीरञ्जनीतिनामिका ॥७७॥

वागीश्वरी में पञ्चम का त्याग कर देने से प्राचीन ग्रन्थोक्त श्रीरञ्जनी नामक रागिणी हो जाती है, जिसे पञ्चम-वर्जित तथा मध्यम अंशयुक्त बताया गया है ।

वाक्षिणात्यमते त्वेषा रीतिगौडारगिणी ।

ग्रन्थेषु केषुचित्तत्र वागीश्वरी द्विगा मता ॥७८॥

वाक्षिणात्य मत में वागीश्वरी को 'रीतिगौड़' रागिणी कहा जाता है । कुछ ग्रन्थों में वागीश्वरी को दोनों गान्धार-युक्त बताया गया है ।

(१०) बहार राग

हरप्रियाह्वयान्मेलज्जातो रागो गुणिप्रियः ।

आधुनिको बहाराख्यश्चञ्चलप्रकृतिः सदा ॥७९॥

सङ्गीतज्ञों का प्रिय बहार राग काफी मेल से उत्पन्न होता है । यह एक आधुनिक राग है । इसकी प्रकृति चञ्चल है ।

३३२ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

मध्यमः सम्मतो वादी संवादी षड्जनामकः ।

गानं नित्यं समादिष्टं वसन्ततो सुरक्तिदम् ॥८०॥

इसमें वादी मध्यम तथा संवादी षड्ज है । इसका गायन वसन्त ऋतु में अत्यन्त रक्तिकर होता है ।

मधयोः सङ्गतिश्चित्रा रिहीनत्वं तु रोहणे ।

प्रतिलोमे धहीनत्वमिति मर्मविदां मतम् ॥८१॥

सङ्गीतमर्मज्ञों के मतानुसार बहार में मध्यम-धैवत की सङ्गति वैचित्र्य-पूर्ण लगती है; एवं आरोह में ऋषभ तथा अवरोह में धैवत का अभाव इस राग में होता है ।

प्रारोहे मधसङ्गत्या वागीश्वर्यङ्गभावहेत् ।

अवरोहे धलुप्तात्वात्तदङ्गं परिमार्जयेत् ॥८२॥

आरोह में 'म-ध' सङ्गति से वागीश्वरी अङ्ग का आविर्भाव होता है । किन्तु, अवरोह में धैवत लुप्त होने के कारण उसका परिमार्जन (तिरोभाव) हो जाता है ।

संयोगः स्याद्बहारस्य नानारागेषु लक्षितः ।

यथासंज्ञं बुधः कुर्यात्तत्र स्वरप्रयोजनम् ॥८३॥

अनेक रागों के साथ बहार का योग देखा जाता है । ऐसे रागों में, राग-नाम के अनुसार स्वरों की योजना विद्वानों को करनी चाहिए ।

टीका—प्रचार में अनेक बहार अङ्गयुक्त मिश्र-राग देखे जाते हैं, यथा—वसन्त बहार, भैरव बहार, हिण्डोल बहार, वागेश्वरी बहार, अड़ाना बहार इत्यादि । ऐसे बहार-मिश्र रागों के विषय में ग्रन्थकार केवल इस सूचना के साथ कलाकारों को स्वमति से राग-रूप प्रस्तुत करने की स्वतन्त्रता देता है कि जिस राग का मिश्रण बहार के साथ राग-नाम के अनुसार है, उसके अङ्गों को यथास्थान बहार के स्वरों के साथ सम्मिश्रित करते हुए विस्तार किया जाय । वास्तव में, ऐसे मिश्र अङ्ग के रागों के विषय में नियम बना सकना कठिन भी है और अनुपयुक्त भी ।

(११) सूहा राग

काफीमेलसमुत्पन्नः सुह्रवो लोकविश्रुतः ।

आरोहे चावरोहेऽपि धैवतो वर्जितस्वरः ॥८४॥

रागाध्याय : ३३३

सुप्रसिद्ध राग सहा काफी मेल से उत्पन्न हुआ है। इसके आरोह और अवरोह दोनों में षैवत-वर्ज्य है।

मध्यमः सम्मतो वादी संवादी षड्जनामकः।

गानं समीरितं लोके तृतीये प्रहरे दिने ॥८५॥

इसका वादी स्वर मध्यम है तथा संवादी षड्ज। इसका गान-समय दिन का द्वितीय प्रहर माना गया है।

यद्यप्युत्तरभागेऽत्र रूपं सारङ्गसन्निभम्।

पूर्वाङ्गे व्यक्तगान्धारः कुर्यात्तस्य निवारणम् ॥८६॥

यद्यपि इस राग के उत्तराङ्ग का स्वरूप सारङ्ग के सदृश होता है तथापि पूर्वाङ्ग में स्पष्टतः प्रयुक्त गान्धार के कारण सारङ्ग का निवारण हो जाता है।

मुक्तत्वं मध्यमस्येह नूनं स्यादतिरक्तिदम्।

निपयोः सङ्गतिन्यासः समीचीनो हि मध्यमे ॥८७॥

मुक्त मध्यम का प्रयोग इस राग में वास्तव में अत्यन्त ही रक्तिदायक होता है। 'नि-प' की सङ्गति तथा मध्यम पर न्यास इस राग में उपयुक्त ही है।

मेघदर्बारयोर्योगाद्वागोऽयं स्यात्समुत्थितः।

वदन्ति पण्डिताः केचित्लक्ष्यलक्षणकोविदाः ॥८८॥

लक्ष्यसङ्गीत के सिद्धान्तों के मर्मज्ञ विद्वानों के मतानुसार यह राग मेघ तथा दरबारी के संयोग से उत्पन्न होता है।

सारङ्गस्य प्रकारेषु नित्यं गान्धारवर्जितम्।

न तत्कर्णादिभेदेषु ततस्तद्भिन्ना परिस्फुटा ॥८९॥

सारङ्ग प्रकारों में गान्धार सदैव वर्जित होता है, किन्तु कर्णादि (कानड़ा) प्रकारों में ऐसा नहीं होता—अतः सारङ्ग तथा कर्णादि अङ्गों का भेद इससे स्पष्ट हो जाता है।

(१२) सुघराई राग

हरप्रियाहयमेलाच्च सुघराई समुत्थिता।

आरोहे षैवतोनासौ द्वितीयप्रहरोचिता ॥९०॥

सुघराई काफी मेल से उत्पन्न है। इसके आरोह में षैवत वर्जित है। गान-समय द्वितीय प्रहर है।

३३४ : श्रीमल्लिकार्जुनसङ्गीतम्

पञ्चमः सम्मतो वादी संवादी षड्जनामकः ।

कर्णाटस्यैव भेदोऽयं सारङ्गाङ्गविभूषितः ॥९१॥

सुघराई का वादी स्वर पञ्चम माना जाता है, तथा संवादी स्वर षड्ज ।
सारङ्ग अङ्गयुक्त यह राग कर्णाट अर्थात् कानड़ा का ही एक प्रकार है ।

अडाना कानड़ा चैव वृन्दावनी तथैव च ।

मिलन्त्यत्र यथान्यायमिति केचिद्वदन्ति ते ॥९२॥

कतिपय विद्वानों के अनुसार इस राग में अडाना, कानड़ा और वृन्दावनी का योग यथास्थान होता है ।

सहाना रात्रिगेयोक्ता गेयैषा नित्यशो दिवा ।

नायकी कानड़ा रात्रौ दिनगेया तथा सुहा ॥९३॥

सहाना रात्रिगेय राग है, और सुघराई दिवसगेय । इसी प्रकार नायकी कानड़ा रात्रिकालीन राग है, और सूहा दिवसगेय है ।

टीका—तात्पर्य यह है कि सुघराई और सहाना तथा सूहा और नायकी, प्रतिमूर्ति राग हैं ।

सुहा धैवतहीना स्यादत्र धो नानुलोमके ।

वृन्दावन्यधगा नित्यं निषादद्वयमण्डिता ॥९४॥

सूहा में धैवत वर्ज्य है, जबकि इस राग में वह केवल आरोह में वर्जित है । वृन्दावनी में धैवत और गान्धार वर्ज्य हैं तथा दोनों निषाद लगते हैं ।

(१३) देशाख राग (देशाख्य या देवसाख या देवसाग राग)

हरप्रियाह्वये मेले जातो रागः सुनामकः ।

देशाख इति विख्यातो लक्ष्येऽखिलगुणिप्रियः ॥९५॥

समस्त गुणीजनों को प्रिय, सुप्रसिद्ध राग देशाख्य काफी मेल से उत्पन्न होता है ।

पञ्चमः सम्मतो वादी संवादी षड्जनामकः ।

कश्चित्संवादिनौ प्रोक्तौ तत्र षड्जकमध्यमौ ॥९६॥

इसका वादी स्वर पञ्चम तथा संवादी स्वर षड्ज है । कुछ लोग इसमें षड्ज-मध्यम संवाद मानते हैं ।

आरोहे चावरोहेऽपि धैवतो वर्जितस्वरः ।

दोर्बल्यं धगयोरत्र वर्णयन्ति पुनः क्वचित् ॥९७॥

रागाध्याय : ३३५

इस राग में धैवत आरोह-अवरोह दोनों में वर्जित है। कुछ विद्वान् इसमें धैवत-गान्धार को दुर्बल मानते हैं।

गान्धारान्दोलनं न्यासो मध्यमे रुचिरो भवेत् ।

गपयोः सङ्गतिः रम्या रागरूपं समादिशेत् ॥१८॥

देशाख राग में गान्धार पर आन्दोलन, तथा मध्यम पर न्यास अत्यन्त मधुर लगता है। गान्धार और पञ्चम की सङ्गति राग के विशिष्ट स्वरूप को व्यक्त करती है।

टीका—'न्यास' यहाँ विराम के अर्थ में प्रयुक्त है, राग-समाप्ति के स्वर के अर्थ में नहीं।

देवसाग इति ख्यातो रागोऽयं लक्ष्यवर्त्मनि ।

गानं तस्य समादिष्टं द्वितीयप्रहरे दिने ॥१९॥

लक्ष्यप्रचार में यह राग 'देवसाग' नाम से प्रसिद्ध है तथा इसका गान-समय दिन का द्वितीय प्रहर माना जाता है।

गद्वयो निद्वयद्वचापि रिहीनः परिकीर्तितः ।

केषुचिच्छास्त्रग्रन्थेषु न तत्लक्ष्येऽत्र लभ्यते ॥१००॥

कतिपय शास्त्रग्रन्थों में इसे दोनों गान्धार-निषाद युक्त और ऋषभ-वर्जित बताया गया है, परन्तु वर्तमान सङ्गीत में यह स्वरूप उपलब्ध नहीं है।

(१४) नायकी कानड़ा राग

काफीमेलसमुत्पन्नः कर्णाटो नायकी मतः ।

आरोहे चावरोहेऽपि धैवतो वर्जितस्वरः ॥१०१॥

काफी मेल से उत्पन्न नायकी कानड़ा के आरोह-अवरोह दोनों में धैवत को वर्जित माना गया है।

मध्यमो निश्चितो वादी संवादी षड्ज ईरितः ।

गानं तस्य सनीचीनं रात्र्यां तृतीययामके ॥१०२॥

इस राग में मध्यम वादी है, तथा संवादी षड्ज है। इसका गायन रात्रि के तृतीय प्रहर में उचित है।

पूर्वाङ्गे स्थान्तुहायोगः सारङ्गस्योत्तराङ्गके ।

रिपयोः सङ्गतिश्चित्रा रागभेदं प्रदर्शयेत् ॥१०३॥

३३६ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

इसके पूर्वाङ्ग में सूहा का तथा उत्तराङ्ग में सारङ्ग का योग होता है। किन्तु इस राग की विशिष्ट 'रे-प' सङ्गति सूहा और सारङ्ग से इसका भेद प्रदर्शित करती है।

देशाख्यो नायकी सूहा तथा सुध्राइसंज्ञिता ।

सारङ्गगङ्गा मता लक्ष्ये धगाल्पा गीतवेदिभिः ॥१०४॥

प्रचलित सङ्गीत में सङ्गीतज्ञों ने सारङ्ग अङ्ग के देशाख्य, नायकी सूहा तथा सुधराई नामक रागों को धैवत-गान्धार के अल्पत्व से युक्त माना है।

धकोमलं सुसम्पूर्णं वक्ररूपं तथैव च ।

वर्णयन्ति पुनः केचिदेवं लक्ष्येऽत्र नैव तत् ॥१०५॥

कुछ लोग इस राग को कोमल धैवत युक्त सम्पूर्ण-सम्पूर्ण, और वक्र स्वरूप का राग वर्णित करते हैं; किन्तु वह स्वरूप लक्ष्य में प्रचलित नहीं है।

मल्लारकानडायोगाद्रूपमेतद्विनिर्मितम् ।

इत्यनूपविलासाख्ये ग्रन्थे भावेन कीर्तितम् ॥१०६॥

भावभट्ट ने अनूपविलास में कहा है कि यह राग-रूप मल्लार और कानडा के योग से बनता है।

कानडा कौशिकश्चापि वागीश्वरी तथैव च ।

मिलन्त्यत्रेति केचिद्वं सङ्गिरन्ति मनीषिणः ॥१०७॥

कुछ विद्वान् कहते हैं कि इस राग में कानडा, कौशिक और वागेश्वरी रागों का मिश्रण होता है।

(१५) सहाना राग

हरप्रियाह्वये मेले सहाना जनुरीरिता ।

रूपमाधुनिकं चैतत्सम्पूर्णं गुणितसम्मतम् ॥१०८॥

सहाना को काफीमेलजन्य राग कहा गया है। यह आधुनिक राग गुणीजनों के मत में सम्पूर्ण है।

पञ्चमः सम्मतो वादी षड्जः स्यान्मन्त्रितुल्यकः ।

गानमभिमतं चास्या रात्र्यां तृतीययामके ॥१०९॥

इसका वादी स्वर पञ्चम और संवादी षड्ज है। गान-समय रात्रि का तृतीय प्रहर है।

प्रयोगात्तीव्रधस्यात्र ह्यडानाभित्परिस्फुटा ।

धगसंयोगतोऽप्यत्र नैव सारङ्गसम्भवः ॥११०॥

तीव्र धैवत के कारण यह अड़ाना से भिन्न है । गान्धार और धैवत के प्रयोग के कारण सहाना, सारङ्ग से भिन्न है ।

गपसङ्गत्यभावे स्याद्देवसागनिवारणम् ।

प्रतिरूपं दिवा चास्याः सुधराई मता जने ॥१११॥

इस राग में 'गु-प' सङ्गति के अभाव से देवसाग का निराकरण हो जाता है । दिवस में सुधराई को इसका प्रतिरूप माना गया है ।

कानडायाः प्रभेदोऽयमङ्गीकृतो यतो बुधैः ।

प्रयोगो धगयोरत्र भवेद्वक्तिप्रवर्धकः ॥११२॥

बुधजनों ने इसे कानड़ा का प्रकार स्वीकार किया है । गान्धार और धैवत का प्रयोग इसमें अत्यन्त मधुर लगता है ।

निधनिपधमपैः स्याद्वागल्पप्रदर्शनम् ।

धैवतस्य परित्यागात्सुहा स्यात्सुपरिस्फुटा ॥११३॥

'नि ध नि प, ध म प' इन स्वरों से सहाना का रागस्वरूप व्यक्त होता है । इसमें धैवत को छोड़ देने से सूहा राग दिखने लगता है ।

कानडाऽयं फिरोदस्तो मिलतोऽत्र यथाययम् ।

इत्यनूपविलासाख्ये ग्रन्थे भावेन कीर्तितम् ॥११४॥

भावभट्ट ने अनूपविलास में कहा है कि इस राग में कानड़ा और फिरोदस्त इन दोनों रागों का समुचित अङ्ग मिश्रण है ।

मल्लारकानडायोगादडाणायोगतोऽपि च ।

रागिणीयं समुद्भूतेत्याहुः केचिद्विशारदाः ॥११५॥

कुछ सङ्गीतज्ञ कहते हैं कि सहाना का स्वरूप मल्लार और कानड़ा के तथा अड़ाना के भी मिश्रण से उत्पन्न हुआ है ।

(१६) मध्यमादि (मध्यमादि सारङ्ग, मधमाद सारङ्ग, मधुमाद सारङ्ग) राग

काफीमेलसमुत्पन्ना मध्यमादिः प्रकीर्तिता ।

आरोहे चावरोहे च गान्धारधैवतोऽङ्गिता ॥११६॥

मध्यमादि को काफीमेलजन्य बताया गया है । इसमें गान्धार और धैवत वर्ज्य हैं ।

ऋषभः सम्मतो वादी संवादी पञ्चमो भवेत् ।

गानं चाभिमतं तस्या मध्याह्ने भूरिरक्षितम् ॥११७॥

३३८ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

इसका वादी स्वर ऋषभ है एवं संवादी स्वर पञ्चम । गान-समय मध्याह्न है ।

स्वीकृतो ह्युपभेदोऽयं सारङ्गस्यात्र लक्ष्यके ।

अभावो धगयोश्चाथ सम्मतो लक्ष्यवेदिताम् ॥११८॥

वर्तमान सङ्गीत में मध्यमादि को सारङ्ग का प्रकार स्वीकृत किया गया है एवं लक्ष्यज्ञपण्डित उसमें गान्धार और धैवत का अभाव मानते हैं ।

पूर्वाङ्गे परिसङ्गत्या निपयोत्तराङ्गके ।

रागोऽयं निश्चितः प्रायो भवेदिति सतां मतम् ॥११९॥

विद्वानों के मतानुसार पूर्वाङ्ग में 'प रे' तथा उत्तराङ्ग में 'नि प' सङ्गतियों से प्रायः इस राग का निर्णय हो जाता है—अर्थात् ये मध्यमादि की रागवाचक सङ्गतियाँ हैं ।

प्रकारा बहवो लक्ष्ये सारङ्गस्य समीरिताः ।

तेषु ये सुप्रसिद्धाः स्युस्ते मयाऽत्र प्रकीर्तिताः ॥१२०॥

वर्तमान सङ्गीत में सारङ्ग के बहुत से प्रकार बताये जाते हैं । उनमें से जो सुप्रसिद्ध सारङ्ग भेद हैं, उन्हीं का मैंने यहाँ वर्णन किया है ।

टिप्पणी

मध्याह्ने मध्यरात्रे च सारङ्गाङ्गं सुविश्रुतम् ।

तत्कालगेयरगेषु महद्वैचित्र्यकारणम् ॥१२१॥

मध्याह्न तथा मध्यरात्रि के रागों में सुप्रसिद्ध सारङ्ग अङ्ग अतीव वैचित्र्योत्पादक होता है ।

सुहामुग्राइकाद्यास्ते रागा दिने तदङ्गजाः ।

नायक्यडाणकाद्यास्ते रात्रिगेयास्तथैव च ॥१२२॥

सूहा, सुघराई आदि दिवसगेय सारङ्गाङ्गयुक्त राग हैं तथा नायकी, अड़ाना आदि उस अङ्ग के रात्रिगेय राग हैं ।

वृन्दावनी मध्यमादिः सारङ्गः शुद्धपूर्वकः ।

सामन्तो बड़हंसश्च मीयांसारङ्गनामकः ॥

लङ्कादहनसारङ्ग एते भेदा बहुश्रुताः ॥१२३॥

सारङ्ग-प्रकारों में वृन्दावनी सारङ्ग, मध्यमादि सारङ्ग, शुद्ध सारङ्ग, सामन्त सारङ्ग, बड़हंस सारङ्ग, मीयां सारङ्ग तथा लङ्कादहन सारङ्ग बहु-प्रचलित हैं ।

रागाध्याय : ३३९

(१७) वृन्दावनी सारङ्ग

काफीमेलसमुत्पन्ना वृन्दावनी मता जने ।

आरोहे चावरोहेऽपि धगोना बहुसम्मता ॥१२४॥

वृन्दावनी काफीमेल से उत्पन्न है । यह अधिकांशतः आरोह-अवरोह दोनों में धैवत-गान्धार रहित माना गया है ।

ऋषभ. कीर्तितो वादी पञ्चमो मन्त्रितुल्यकः ।

गानं तस्याः समादिष्टं मध्याह्ने लक्ष्यवर्त्मनि ॥१२५॥

इसमें वादी स्वर ऋषभ है तथा पञ्चम मन्त्रितुल्य (संवादी) है । प्रचार में इसका गान-समय मध्याह्न माना गया है ।

निषादौ द्वौ मतावत्र रागनामप्रसूचकौ ।

मध्यमादिः सदा प्रोक्ता निकोमलपरिष्कृता ॥१२६॥

दोनों निषादों का प्रयोग इसमें रागनामसूचक (रागवाचक) प्रयोग माना जाता है । मध्यमादि में केवल कोमल निषाद है ।

आदिशन्ति पुनः केचिदीषत्स्पर्शं विलोमके ।

धैवतस्य यतस्तेन मध्यमाद्याः स्फुटा भिदा ॥१२७॥

कुछ लोग इस राग में अवरोह में धैवत का ईषत्स्पर्श (अत्यल्प, स्पर्श-मात्र से प्रयोग) भी मानते हैं, जिससे यह राग मध्यमादि से स्पष्टतः भिन्न हो जाय ।

केचिद् वृन्दावनीरागे निषादं तीव्रसंज्ञकम् ।

प्राहुर्येन भवेदस्य मध्यमादिभिदा स्फुटा ॥१२८॥

कुछ लोग वृन्दावनी में तीव्र निषाद का प्रयोग निर्दिष्ट करते हैं, ताकि वह मध्यमादि से स्पष्टतः पृथक् हो जाय ।

मृदुनिमण्डिता प्रोक्ता हृदयेशेन धीमता ।

वृन्दावनी धगत्यक्तौडुवा विज्ञसुखावहा ॥१२९॥

हृदयनारायणदेव ने विद्वज्जनमोहिनी वृन्दावनी को कोमल निषाद युक्त एवं धैवत-गान्धार वर्जित औडुव रागिनी बताया है ।

रिमयोः सङ्गतिश्चित्रा रागेऽस्मिन् भूरिरस्तिदा ।

सैव स्याद्विपयोस्तत्र मध्यमाद्यां विदां मते ॥१३०॥

३४० : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

ऋषभ और मध्यम की विशिष्ट स्वर सङ्गति इस राग में अत्यन्त मधुर लगती है। मध्यमादि की विशेष सङ्गति विद्वानों के मत में 'प-रे' है।

धगयोगोपनं लक्ष्ये मुख्यं सारङ्गलक्षणम्।

यथायोग्यप्रमाणेन प्रायः सर्वत्र लक्षितम् ॥१३१॥

लक्ष्यप्रचार में सारङ्ग अङ्ग का प्रमुख लक्षण धैवत गान्धार का प्रच्छन्नत्व (वर्ज्यत्व) है। यह लक्षण यथायोग्य प्रमाण में सारङ्ग-अङ्ग के समस्त रागों में परिलक्षित होता है।

(१८) शुद्धसारङ्ग राग

हरप्रियाह्वये मेले शुद्धसारङ्गनामकः।

आरोहे चावरोहेऽपि गान्धारो वज्रितस्वरः ॥१३२॥

हरप्रियामेलजन्य शुद्ध सारङ्ग में, आरोह-अवरोह दोनों में गान्धार वर्ज्य है।

ऋषभोऽत्र मतो वादी संवादी पञ्चमो भवेत्।

द्वितीयप्रहरे गानं सर्वरक्षितप्रदं दिने ॥१३३॥

इस राग का वादी स्वर ऋषभ एवं संवादी पञ्चम है। दिन के द्वितीय प्रहर में इसका गान अतीव सुखद होता है।

धैवतस्य प्रयोगोत्र व्यक्तो यत्परिवृश्यते।

मध्यमादेः प्रसिन्नत्वमवश्यं प्रस्फुटं भवेत् ॥१३४॥

धैवत के स्पष्ट प्रयोग के कारण शुद्ध-सारङ्ग राग मध्यमादि सारङ्ग से निश्चय ही भिन्न लगता है।

मध्यमो द्वौ निषादौ द्वौ विलोमे धैवतो मनाक्।

एभिः स्याच्छुद्धसारङ्गः स्वतन्त्रो लक्ष्यवर्त्मनि ॥१३५॥

दोनों मध्यम, दोनों निषाद तथा अवरोह में धैवत के मनाक् प्रयोग के कारण लक्ष्यप्रचार में शुद्धसारङ्ग एक स्वतन्त्र राग है।*

* शुद्धसारङ्ग का जो स्वरूप आज अधिकांश गायक प्रस्तुत करते हैं, उसमें तीव्र निषाद ही प्रयुक्त होता है, कोमल निषाद प्रायः नहीं दिखायी देता। साथ ही, धैवत का आरोह-अवरोह दोनों में स्पष्ट रूप से प्रयोग किया जाता है।

रागाध्याय : ३४१

तीव्रमध्यमहीनत्वं वृन्दावन्यां सुसम्मतम् ।

शुद्धमध्यमरिक्तत्वं नूरसारङ्गलक्षणम् ॥१३६॥

वृन्दावनी में तीव्र मध्यम नहीं होता तथा शुद्धमध्यम का अभाव नूर-सारङ्ग का मुख्य लक्षण है ।

केचित्समादिशन्त्यत्र धैवतस्यैव लङ्घनम् ।

लक्ष्ये न तत्तथाप्यत्र बुधः कुर्याद्यथोचितम् ॥१३७॥

कुछ विद्वानों ने शुद्ध सारङ्ग में धैवत का लङ्घन भी बताया है । परन्तु, प्रचलित व्यवहार में ऐसा नहीं किया जाता । विद्वानों को जो योग्य प्रतीत हो वही करना चाहिए ।

हृदयकौतुके ग्रन्थे तथैव हृत्प्रकाशके ।

द्विमध्यमो धगोनश्च सारङ्गः परिकीर्तितः ॥१३८॥

हृदयकौतुक तथा हृदयप्रकाश दोनों ही ग्रन्थों में सारङ्ग राग को दोनों मध्यमों से युक्त तथा धैवत-गान्धारवर्जित वर्णित किया गया है ।

सङ्गीतपारिजाताख्ये ग्रन्थेऽहोबलसूरिणा ।

सारङ्गो वर्णितः स्पष्टं निमद्वन्द्वो धगोज्जितः ॥१३९॥

अहोबल ने सङ्गीतपारिजात में सारङ्ग राग को स्पष्टतः द्विमध्यम-निषादयुक्त गान्धार-धैवत रहित राग वर्णित किया है ।

(१९) मीयांसारङ्ग राग

हरप्रियाह्वये मेले मीयांसारङ्ग ईरितः ।

आरोहे चावरोहेऽपि गान्धारो वर्जितस्वरः ॥१४०॥

मियांसारङ्ग काफीमेल से उत्पन्न गान्धाररहित राग है ।

ऋषभः सम्मतो वादी संवादी पञ्चमो मतः ।

गानं चास्य समीचीनं द्वितीयप्रहरे दिने ॥१४१॥

इसका वादी ऋषभ और संवादी पञ्चम माना जाता है । इसका गायन-काल दिन का द्वितीय प्रहर है ।

यतः सारङ्गभेदोऽयं र्यंशत्वं युक्तमेव तत् ।

मन्द्रमध्यस्वरैर्गीतो मूरिरक्तिप्रदो भवेत् ॥१४२॥

सारङ्ग भेद होने के कारण इस राग में ऋषभ का अंशत्व उचित ही है । मन्द्र तथा मध्य स्वरों में गाया जाने वाला यह राग अत्यन्त रञ्जक है ।

३४२ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

रिपयो रिमयोश्चाथ सङ्गत्या नित्यशो जने ।

सारङ्गाङ्गं भवेत्स्पष्टमित्याहुर्लक्ष्यवेदिनः ॥१४३॥

लक्ष्यज्ञों के मतानुसार 'रे-प' तथा 'रे-म' सङ्गतियों से इस राग में भी सारङ्ग अङ्ग सर्वदा स्पष्ट हो जाता है ।

सङ्गतिनिधयोरत्र रागभेदं प्रदर्शयेत् ।

मीयांमल्लारिकाच्छाया तत्रैव प्रकटीभवेत् ॥१४४॥

किन्तु अन्य सारङ्ग-प्रकारों से इस राग का भेद 'नि घ' सङ्गति से प्रदर्शित होता है, तथा उसी स्वर-सङ्गति से मियांमल्लार की छाया भी इस राग में प्रकट होती है ।

सनिधनिधसैः प्रायो रागस्य मण्डनं भवेत् ।

गान्धाराभावतो नित्यं मल्लाराङ्गं निवारयेत् ॥१४५॥

इस राग की स्थापना 'सा नि घ नि घ सा' स्वरों के द्वारा होती है अर्थात् यह इस राग की विशिष्ट स्वर-सङ्गति है । गान्धार के वर्ज्यत्व के कारण मल्लार अङ्ग का निराकरण हो जाता है ।

मृदुनिषादसंयुक्ता मध्यमादिभञ्जेद्भुवाम् ।

वृन्दावनी धगोनाऽसौ निषादद्वयसंयुता ॥१४६॥

द्विमध्यमप्रभिन्नः स्यात्सारङ्गः शुद्धपूर्वकः ।

एकेन तीव्रमेव स्यान्नूरसारङ्गसंज्ञितः ॥१४७॥

मध्यमादि केवल कोमल निषाद युक्त होने के कारण इससे भिन्न है । इसी प्रकार धैवत-गान्धार के विहीनत्व तथा दोनों निषादों के द्वारा वृन्दावनी भी इस राग से भिन्न है । शुद्धसारङ्ग दोनों मध्यमों के कारण तथा नूरसारङ्ग केवल तीव्र मध्यम से युक्त होने के कारण इस राग से भिन्न हैं ।

(२०) सामन्तसारङ्ग राग

काफीमेलसमुत्पन्नः सामन्तो गुणिसम्मतः ।

आरोहे चावरोहेऽपि गान्धारो वर्जितस्वरः ॥१४८॥

गुणीजनों ने सामन्त राग को काफीमेलजन्य माना है । सामन्त राग के आरोह और अवरोह दोनों में गान्धारवर्जित है ।

सारङ्गस्य प्रभेदोऽयं रिपसंवादमण्डितः ।

गानं तस्य समीचीनं द्वितीयप्रहरे दिने ॥१४९॥

सारङ्ग का यह प्रकार ऋषभ-पञ्चम के संवाद से युक्त है। इसका उप-युक्त गान-समय दिन का द्वितीय प्रहर है।

धैवतस्यात्र संस्पर्शो विलोमेऽनुमतो मनाक्।

देससारङ्गयोगेन रूपमेतत्समुद्भवेत् ॥१५०॥

सामन्त के अवरोह में धैवत का मनाक्स्पर्श, अर्थात् स्वल्प प्रयोग मान्य किया गया है। इस राग-स्वरूप का उद्भव देस और सारङ्ग के संयोग से होता है।

आरोहे चावरोहेऽपि धगहीनः प्रकीर्तितः।

हृत्प्रकाशाह्वये ग्रन्थे हृदयेशेन धीमता ॥१५१॥

विद्वान् हृदयनारायणदेव ने हृत्प्रकाश नामक ग्रन्थ में सामन्त राग को गान्धार-धैवतरहित राग बताया है।

गान्धारद्वयसंयुक्तो न्यासोप्राहांशषड्जकः।

सामन्तः कीर्तितो ग्रन्थे सङ्गीतपारिजातके ॥१५२॥

सङ्गीतपारिजात में सारङ्ग राग को दो गान्धारयुक्त, एवं षड्ज ग्रह, अंश, न्यासयुक्त वर्णित किया है।

कर्णाटाख्यसुमेले च सामन्तः परिकीर्तितः।

मञ्जर्या पुण्डरीकेण काकल्यन्तरभूषितः ॥१५३॥

रागमञ्जरीकार पुण्डरीक विट्ठल ने सामन्त को काकलीनिषाद तथा अन्तरगान्धारयुक्त कर्णाटमेलजन्य राग कहा है।

(२१) बड़हंससारङ्ग

काफीमेलसमुत्पन्नो बड़हंसो बुधैर्मतः।

कंश्चिदन्यैर्वर्णितोऽसौ शङ्कराभरणस्वरः ॥१५४॥

विद्वज्जनों ने बड़हंस राग को काफीमेल से उत्पन्न माना है। कतिपय अन्य ग्रन्थकारों ने इस राग को शङ्कराभरणमेल के स्वरों से युक्त वर्णित किया है।

ऋषभः सम्मतो वादी संवादी पञ्चमो मतः।

गानमस्य समीचीनं द्वितीयप्रहरे दिने ॥१५५॥

इसमें वादी स्वर ऋषभ और संवादी पञ्चम है। दिन के द्वितीय प्रहर में इस राग का गायन समीचीन माना है।

सारङ्गस्य प्रभेदोऽयं सम्मतः सर्वतोऽधुना।

ततो गान्धारलोपोऽत्र समादृतो विचक्षणैः ॥१५६॥

३४४ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

वर्तमान सङ्गीत में इसे सारङ्ग का प्रकार माना गया है। अतएव विद्वानों ने इस राग में गान्धार का लोप (वर्ज्यत्व) मान्य किया है।

बड़हंसे मतं प्रायो धगस्वरप्रलोपनम्।

'मुक्तत्वं मध्यमेऽभीष्टमपन्यासस्तु निस्वरे ॥१५७॥

बड़हंस राग में प्रायः धैवत तथा गान्धार का लोप माना जाता है। मध्यम का मुक्त प्रयोग इसमें वाञ्छनीय है तथा निषाद पर अपन्यास किया जाना चाहिए।

टीका—यहाँ अपन्यास का अर्थ है—विराम। अभिप्राय यह है कि इस राग में नि पर भी बार-बार विराम होता है।

सारङ्गनामके मेले रागोऽयं कीर्तितः स्फुटम्।

लोचनेन तथैवापि हृदयेऽनेन धीमता ॥१५८॥

लोचन ने तथा हृदयनारायणदेव ने इस राग को सारङ्ग मेल में वर्णित किया है।

तीव्रमध्यमप्रयोगोऽत्र वर्णितो हृत्प्रकाशके।

यतो लक्ष्यविरोध्येतन्नतत्सम्मानमर्हयेत् ॥१५९॥

हृदयनारायणदेव ने इस राग में तीव्रमध्यम के प्रयोग का उल्लेख अपने ग्रन्थ हृत्प्रकाश में किया है किन्तु वह स्वरूप प्रचलित मान्यता के विपरीत होने के कारण स्वीकार्य नहीं है।

प्रयोगस्तीव्रधस्याऽत्र विलोमे दृश्यते क्वचित्।

लक्ष्यमार्गमनुलङ्घ्य कुर्यात्तत्र प्रवर्तनम् ॥१६०॥

बड़हंससारङ्ग में कभी-कभी अवरोह में तीव्र (शुद्ध) धैवत का प्रयोग दिखायी देता है। राग-स्वरूप का व्यवहार प्रचार का उल्लंघन न करते हुए करना चाहिए।

(२२) पटमञ्जरी राग

हरप्रियाह्वये मेले मञ्जरी पटपूर्विका।

रागिणी श्रूयते लक्ष्ये सम्पूर्णा बहुसम्मता ॥१६१॥

पटमञ्जरी रागिणी काफीमेल से उत्पन्न है। अधिकांश लक्ष्यज्ञ विद्वानों ने इसे सम्पूर्णस्वरीया माना है।

आरोहे धगदौर्बल्यात्सारङ्गाङ्गं प्रसूचयेत्।

सारङ्गे लङ्घनं प्रोक्तं समूलं स्वरयोस्तयोः ॥१६२॥

रागाध्याय : ३४५

आरोह में धैवत-गान्धार की दुर्बलता से इस राग में सारङ्ग अङ्ग का भास होता है। किन्तु सारङ्ग में इन स्वरों का पूर्णतः लङ्घन (वर्ज्यत्व) होता है।

वादित्वं षड्जके निष्ठं संवादित्वं तु पञ्चमे ।

सारङ्गानन्तरं गानं भवेदस्याः सुरक्तिवम् ॥१६३॥

इस राग में वादित्व षड्ज को तथा संवादित्व पञ्चम को प्राप्त होता है। सारङ्ग के पश्चात् इस राग का गायन अत्यन्त रक्तिदायक होता है।

सरिमपस्वरैर्व्यक्तं सारङ्गाङ्गं प्रदर्शयेत् ।

धगयोः सुप्रयोगात्तद्गायनः परिमार्जयेत् ॥१६४॥

‘सा रे म प’ स्वरों से सारङ्ग अङ्ग इस राग में प्रदर्शित किया जाता है, जिसका निराकरण धैवत और गान्धार के सुसङ्गत प्रयोग से किया जाता है।

सङ्गतिर्धगयोरत्र भवेद्रक्तिप्रवर्धनी ।

रिगमगस्वरैश्चहं देसीरूपं भिदां भजेत् ॥१६५॥

धैवत-गान्धार की सङ्गति इसमें रञ्जकतावर्धक होती है। ‘रे ग म ग’ स्वरों से यह राग देसी से भिन्न प्रतीत होता है।

दुर्लभं रूपमेतद्यदवश्यं सम्भवेत्ततः ।

लक्ष्याध्वनि मतानैक्यं बुधः कुर्यात्स्वनिर्णयम् ॥१६६॥

उपर्युक्त प्रयोग के कारण यह राग-रूप निःसन्देह दुर्लभ रञ्जकत्वयुक्त लगता है। लक्ष्य मार्ग (पद्धति) में इस राग के विषय में व्याप्त मत-वैमिश्र्य की स्थिति में धीमान् को स्वनिर्णय के अनुसार ही राग-व्यवहार करना चाहिए।

मते केषाञ्चिदप्यत्र द्विगान्धारप्रयोजनम् ।

पञ्चमस्यापि वादित्वं न तन्मे भाति सङ्गतम् ॥१६७॥

कुछ लोगों के मत में, यह राग दोनों गान्धारों से युक्त है, तथा इसमें वादित्व भी पञ्चम को प्राप्त है, किन्तु यह मत मुझे तर्कसङ्गत नहीं लगता।

मेले शुद्धस्वराणां तां केचिदन्ये विदो विदुः ।

न तद्विसङ्गतं भाति मतं लक्ष्यानुसारतः ॥१६८॥

कुछ अन्य विद्वानों ने इस राग को शुद्धमेल (बिलावल) के स्वरों से युक्त बताया है, जो लक्ष्य-प्रचार के अनुसार विसङ्गत प्रतीत नहीं होता।

३४६ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

शुद्धस्वरयुतं रूपं रात्रिगेयं भवेत्प्रियम् ।

मया प्रपञ्चितं त्वत्र तृतीयप्रहरे दिने ॥१६९॥

शुद्धस्वरों से युक्त रात्रिगेय रूप अत्यन्त रञ्जक लगता है । किन्तु, मैंने यहाँ इस स्वरूप को दिन के तृतीयप्रहर समय में गेय बताया है ।

टीका—यहाँ अभिप्राय यह है कि शुद्धस्वरयुक्त राग प्रायः रात्रोचित लगते हैं । किन्तु पटमञ्जरी का समय 'चतुर पण्डित' के मत में दिन का तृतीय प्रहर उचित है । यह राग सारङ्ग अङ्ग युक्त है तथा सारङ्ग-भेदों से इसकी काफी से समानता भी देखी जा सकती है । इसी कारण से पटमञ्जरी का गान सारङ्ग-भेदों के पश्चात् रञ्जक लगता है (श्लोक १६३), ऐसी ग्रन्थकार की मान्यता है ।

(२३) शुद्धमल्लार राग

काफीमेलसमुत्पन्नः शुद्धमल्लारनामकः ।

आरोहेऽप्यवरोहे च गनिहीनौडुवो मतः ॥१७०॥

काफीमेलोत्पन्न शुद्धमल्लार आरोह-अवरोह दोनों में गान्धार-निषाद के वर्ज्यत्व के कारण औडुव राग माना जाता है ।

मध्यमः सम्मतो वादी संवादी षड्ज ईरितः ।

गानमस्य समीचीनं वर्षाकाले मतं बुधैः ॥१७१॥

इसका वादी षड्ज और संवादी मध्यम है । विद्वान् वर्षाऋतु में इस राग का गायन समीचीन मानते हैं ।

मुक्तत्वान्मध्यमस्यात्र तथैव पधसैः स्वरैः ।

रागोऽयं लक्ष्यते स्पष्टमिति सर्वत्र सम्मतम् ॥१७२॥

मुक्त मध्यम से एवं 'प घ सां' स्वर-सङ्गति से यह राग स्पष्ट हो जाता है, ऐसा सभी मानते हैं ।

रागविबोधके ग्रन्थे सोमनाथेन धीमता ।

मल्लारिमेलने प्रोक्तो रागोऽयं गनिर्वजितः ॥१७३॥

विद्वान् सोमनाथ ने रागविबोध में इस राग को मल्लारिमेलजन्य गान्धार-निषाद-वर्जित राग बताया है ।

मेघरागस्य संस्थाने प्रोक्तो हृदयकौतुके ।

निद्वन्द्वतीव्रगोपेतो न तल्लक्ष्येऽत्र दृश्यते ॥१७४॥

रागाध्याय : ३४७

हृदयकौतुक में इस राग को मेघ राग के संस्थान (मेल या थाट) में दोनों निषाद और तीव्र गान्धार युक्त बताया है किन्तु वह रूप प्रचार में दिखायी नहीं देता ।

सङ्गत्या धमयोस्तत्र दुर्गा स्यात्सुपरिस्फुटा ।

जलधारो भवेद्भिन्नः केदाराङ्गेन प्रस्फुटम् ॥१७५॥

मध्यम और धैवत की सङ्गति से दुर्गा राग स्पष्ट होता है तथा केदार अङ्ग से जलधार केदार शुद्धमल्लार से स्पष्टतः भिन्न हो जाता है ।

टीका—अभिप्राय यह है कि दुर्गा और जलधार भी शुद्धमल्लार के निकटवर्ती राग होते हुए भी उससे पृथक् हैं ।

(२४) गौडमल्लार राग

हरप्रियाह्वये मेले गौडमल्लार ईरितः ।

मतान्तरे पुनश्चासौ शङ्कराभरणे स्मृतः ॥१७६॥

गौडमल्लार राग काफी मेल से उत्पन्न है । मतान्तर में इसे शङ्कराभरण (विलावल) मेलजन्य भी माना है ।

सम्पूर्णो मध्यमांशोऽपि गीयते लक्ष्यवर्त्मनि ।

गानं तस्य समीचीनं वर्षाकाले मुनिश्चितम् ॥१७७॥

लक्ष्यप्रचार में यह राग सम्पूर्ण तथा मध्यमवादी माना जाता है । वर्षाकाल में इसका गायन समीचीन है ।

रिगरिमगरिसैः स्याद् गौडाङ्गं लोकविश्रुतम् ।

मपधसैस्तथैव स्यान्मल्लाराङ्गं परिस्फुटम् ॥१७८॥

गौड़ का सुपरिचित अङ्ग 'रे ग रे म ग रे सा' है । इसी प्रकार, 'म प ध सा' से मल्लार अङ्ग स्पष्ट होता है ।

टीका—आशय यह कि ये दोनों ही अङ्ग गौड़मल्लार में दिखायी देते हैं ।

परित्यागे तु निगयोः शुद्धमल्लारको भवेत् ।

मध्यमादृषभे पातो विशिष्टां रक्तिमावहेत् ॥१७९॥

गौड़मल्लार में गान्धार और निषाद का त्याग कर देने पर शुद्धमल्लार हो जाता है । गौड़मल्लार में मध्यम से ऋषभ पर पात विशेष माधुर्यकारक होता है ।

३४८ : श्रीमल्लक्ष्मसङ्गीतम्

रिपयोः सङ्गतिः प्रायो रागेऽस्मिन् गुणिसम्भता ।

प्रारोहे दुर्बलो निः स्यादिति मर्मज्ञसम्मतम् ॥१८०॥

इस राग में 'रे प' सङ्गति को अधिकांश गुणीजनों ने मान्य किया है । विद्वज्जन इसके आरोह में निषाद को दुर्बल मानते हैं ।

यदा गृह्णाति गान्धारं कोमलं निमृदुं तथा ।

सधनिपमपगमरिसैर्भवेत्सुमण्डनम् ॥१८१॥

जब इस राग में कोमल गान्धार और निषाद लिये जाते हैं तब इसके स्वरूप की स्थापना 'सां घ नि प म प ग म रे सा' स्वरों से की जाती है ।

(२५) मिर्यामल्लार राग

हरप्रियाभिधे मेले जायते विबुधप्रियः ।

मीर्यामल्लाररागोऽसौ वर्षासु सुखदायकः ॥१८२॥

सङ्गीतज्ञों का प्रिय मिर्यामल्लार राग काफीमेल से उत्पन्न है । इसका गान वर्षा-ऋतु में सुखद होता है ।

संवादिनौ सपौ प्रोक्तौ गान्धारे दोलनं भवेत् ।

निषयो रिपयोश्चैव सङ्गती रागवाचिके ॥१८३॥

इसमें षड्ज-पञ्चम संवादी हैं (अर्थात्, षड्ज वादी और पञ्चम संवादी है), तथा गान्धार पर आन्दोलन किये जाते हैं । 'नि घ' तथा 'रे प' इसकी रागवाचक सङ्गतिर्या हैं ।

मन्द्रस्थानगतं गानं नित्यं स्याद् हृदयङ्गमम् ।

विलम्बितलयालापः कस्य नो हर्षयेन्मनः ॥१८४॥

इस राग में मन्द्र स्वरों में गायन सर्वदा हृदयहारी होता है । विलम्बित लय के आलापों से किसका मन हर्षित नहीं होता ।

निषादद्वयसंयोगो दृश्यते लक्ष्यके क्वचित् ।

प्रच्छन्नधैवतः कुर्याद्विहारपरिमार्जनम् ॥१८५॥

कभी-कभी इसमें दोनों निषादों का संयोग दिखायी देता है । इसमें धैवत को प्रच्छन्न (वक्र) रख कर बहार का निराकरण किया जाता है ।

गान्धारान्दोलने स्पष्टं कानडाङ्गं परिस्फुटम् ।

मध्यमादृषभे पातो मल्लाराङ्गं सुनिर्णयेत् ॥१८६॥

रागाध्याय : ३४९

आन्दोलित गान्धार से इसमें कानड़ा अङ्ग स्पष्ट होता है, तथा मध्यम से ऋषभ पर पात से मल्लार अङ्ग का बोध होता है।

मल्लारकानडायोगाद्वागोऽयं परिकल्पितः ।

तानसेनकृतिश्रेयमिति लोके सुसम्मतम् ॥१८७॥

मल्लार तथा कानड़ा के मिश्रण से यह राग निर्मित है। यह राग तानसेन द्वारा रचित है, ऐसा माना जाता है।

टीका—लोक-प्रसिद्ध आख्यानों में 'मियाँ की मल्लार' को जगद्विख्यात गायक तानसेन का आविष्कार बताया जाता है। कानड़ा और मल्लार रागाङ्गों का समुचित सम्मिश्रण इस राग-स्वरूप में परिलक्षित होता है।

मपनिधनिसैरस्य विशिष्टाङ्गं भवेत्स्फुटम् ।

मपधसधपैलैके गौडाङ्गं विशदं भवेत् ॥१८८॥

मियाँमल्लार का विशिष्ट रागाङ्ग 'म..प....., नि....ध.नि....सा....' स्वरों से स्पष्ट होता है। गौड़ अङ्ग 'म..प...ध.सां....ध.प....' स्वरों में व्यक्त होता है।

(२६) सूरमल्लार राग

काफीमेलसमुत्पन्नः सूरमल्लार ईरितः ।

निर्मितः सूरदासेनेत्याहुलक्ष्ये विचक्षणाः ॥१८९॥

काफी मेल से उत्पन्न सूरमल्लार को लक्ष्यन्न पण्डित सूरदास द्वारा निर्मित राग मानते हैं।

टीका—सूरमल्लार के आविष्कारक भक्त सूरदास हैं, या अकबर के दरबारी गायक सूरदास, जो बाबा रामदास के पुत्र थे—इस विषय पर विद्वानों में मतभेद है।

आरोहे चावरोहेऽपि धगयोर्लोपनं मतम् ।

समथोरेव संवादो व्यस्तत्वं मध्यमे शुभम् ॥१९०॥

इस राग के आरोह और अवरोह दोनों में वैवत-गान्धार का लुप्तत्व (प्रच्छन्नत्व, वक्रत्व) माना जाता है। इसमें षड्ज-मध्यम का संवाद (अर्थात् सा वादी, म संवादी) होता है, तथा मध्यम पर व्यस्तत्व, अर्थात् मध्यम का बारम्बार प्रयोग एवं उस पर न्यास सुखद होता है।

दौर्बल्याद्वागयोरत्र सारङ्गाङ्गस्य सम्भवः ।

अतो मनाङ्मतः स्पर्शो धैवतस्य न बाधकः ॥१९१॥

३५० : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

धैवत-गान्धार के अल्पत्व से इस राग में सारङ्ग अङ्ग की सम्भावना होती है। अतः धैवत का मनाक् स्पर्श इस राग में बाधक नहीं माना जाता।

मध्यमादृषभे पातः -सोरटीं दर्शयेद्यदि।

निपयो रिपयोश्चात्र सङ्गत्या तां निवारयेत् ॥१९२॥

इस राग में मध्यम से ऋषभ पर पात के द्वारा सोरटी (सोरठ) का आमास आदि होने लगे तो 'नि प' और 'रे प' सङ्गतियों से उसका निवारण करना चाहिए।

निमपनिधपंश्चापि रागाङ्गं विशदीभवेत्।

मध्यमान्तस्वरस्थायो मल्लाराङ्गं प्रसूचयेत् ॥१९३॥

'नि म प नि ष प' से भी इस राग का विशिष्ट अङ्ग सुव्यक्त होता है। मध्यम पर समाप्त होने वाले स्वरसमूहों से इसमें मल्लार अङ्ग का ज्ञान होता है।

केचिद् गान्धारकं प्राहुः कोमलमत्ररागके।

न तवग्राह्यमित्यूचुर्लक्ष्यलक्षणकोविदाः ॥१९४॥

कुछ लोगों ने इस राग में गान्धार कोमल बताया है किन्तु लक्ष्यसङ्गीत के विद्वानों के अनुसार यह मत ग्राह्य नहीं है।

मल्लारो मध्यमादिश्च रागेऽस्मिन्मिलतो भृशम्।

इति लक्ष्यविदां तावन्मतं भाति सुसङ्गतम् ॥१९५॥

लक्ष्यविदों का यह मत सुसङ्गत प्रतीत होता है कि इस राग में मुख्यतः मल्लार और मध्यमादि का मिश्रण है।

शुद्धपूर्वकमल्लारे गनिवर्ज्यं समीरितम्।

वगग्राही पुनगाडो (? पुनगौडो) नित्यं लक्ष्ये भिदां भजेत् ॥१९६॥

शुद्धमल्लार में गान्धार-निषाद वर्ज्य हैं। पुनः गौड़ मल्लार में गान्धार धैवत लगते हैं। अतः वे दोनों राग आधुनिक सङ्गीत में इस राग से भिन्न हैं।

कानडागौडसंयोगान्मिर्यामल्लारको भवेत्।

मध्यमादिस्तथा गौडो मिलतः सूरनामके ॥१९७॥

मिर्यामल्लार राग कानडा और गौड़ अङ्गों से निर्मित होता है। सूर-मल्लार में मध्यमादि तथा गौड़ का मिश्रण होता है।

रागाध्याय : ३५१

गम्भीरप्रकृतिमैघो विलम्बितलयोद्धृतः ।

उत्तालस्वरसङ्गीतो वर्षासु जनयेत्सुखम् ॥१९८॥

गम्भीर प्रकृति वाला मेघ राग विलम्बित लय-प्रधान है; एवं प्रखर, भरावदार ताल-स्वर से गाया जाने पर वर्षा-ऋतु में सुखदायी लगता है ।

(२७) रामदासी मल्लार राग

हरप्रियाह्वये मेले जातो रागः सुनामकः ।

रामदासीति विख्यातः सम्पूर्णो लोकविश्रुतः ॥१९९॥

काफी मेल से रामदासी मल्लार नामक विख्यात राग उत्पन्न होता है, जो सम्पूर्ण है ।

मध्यमः सम्मतो वादी संवादी षड्ज ईरितः ।

गानं तस्य समीचीनं वर्षाकाले सुनिश्चितम् ॥२००॥

इस राग का वादी मध्यम तथा संवादी षड्ज कहा जाता है । यह वर्षाकालोचित राग है ।

गान्धारस्तीव्र आरोहेऽवरोहे कोमलाभिधः ।

अप्रसिद्धमिदं रूपं नूनं रक्तिप्रदायकम् ॥२०१॥

इसके आरोह में गान्धार तीव्र (शुद्ध) तथा अवरोह में कोमल है । यह अप्रचलित राग-स्वरूप सचमुच अत्यन्त रञ्जक है ।

द्विगान्धारप्रयोगात्स्यादन्यमल्लारभित्स्फुटा ।

रिमयोनिपयोश्चापि सङ्गतिर्भूरिरक्तिदा ॥२०२॥

दोनों गान्धारों के कारण रामदासी अन्य मल्लार-प्रकारों से स्पष्टतः भिन्न लगता है । 'रि-म' और 'नि-प' की सङ्गतियाँ भी इसमें रक्तिवर्षक लगती हैं ।

सहानागौडसंयोगाद्रूपमेतद्विनिमितम् ।

धीमता रामदासेनेत्याहुः केचिद्विपश्चितः ॥२०३॥

रामदास नामक किसी सङ्गीतज्ञ ने सहाना तथा गौड़ रागाङ्गों के मिश्रण से यह राग-रूप बनाया है, ऐसा किसी विद्वान् ने कहा है ।

मतान्तरे तु मृदुग एक एवाऽत्र सम्मतः ।

लक्ष्यमार्गमनुलङ्घ्य कुर्यात्तत्र स्वनिर्णयम् ॥२०४॥

३५२ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

मतान्तर में इसमें केवल कोमल गान्धार का प्रयोग मान्य किया गया है। लक्ष्य मार्ग के अनुकूल राग-स्वरूप का निर्णय किया जाना चाहिए।

(२८) नटमल्लार राग

काफीमेलसमुत्पन्नो नटमल्लार ईरितः।

आरोहे चावरोहेऽपि सम्पूर्णस्तद्विदां मते ॥२०५॥

नटमल्लार को काफीमेलोत्पन्न कहा गया है। विद्वानों के मतानुसार यह सम्पूर्ण-सम्पूर्ण राग है।

मध्यमः कीर्तितो वादी संवादी षड्ज ईरितः।

गानं चास्य समीचीनं वर्षाकाले सुनिश्चितम् ॥२०६॥

इसका वादी स्वर मध्यम है, तथा संवादी षड्ज। यह पावसऋतुगेय राग है।

नटमल्लारसंयोगाद्रागोऽयं निमित्तो बुधः।

पूर्वाङ्गे स्यान्तच्छाया मल्लारस्योत्तराङ्गके ॥२०७॥

विद्वानों के मत में यह राग नट और मल्लार के संयोग से निर्मित हुआ है, जिसमें नट की छाया पूर्वाङ्ग में तथा मल्लार की छाया उत्तराङ्ग में है।

रिमयो रिपथोऽचात्र सङ्गतिः सुखदायिनी।

ईषन्तिकोमलस्पर्शः प्रतिलोमेऽत्र क्षम्यते ॥२०८॥

इस राग में 'रे-म' और 'रे-प' की सङ्गतियाँ अतीव मधुर लगती हैं। इसमें अवरोह में कोमल निषाद का ईषत्-स्पर्श क्षम्य है।

मतान्तरे द्विगान्धारो गीयते लक्ष्यवर्त्मनि।

नित्यं लक्ष्यमनुलङ्घ्य कुर्यात्तत्र स्ववर्तनम् ॥२०९॥

प्रचलित सङ्गीत में, अन्य मतानुसार इसमें दोनों गान्धार प्रयुक्त होते हैं। लक्ष्य-प्रचार की उपेक्षा न करते हुए ही इस राग के स्वरूप को 'बरता' जाना चाहिए।

टिप्पणी

ग्रन्थकार ने यहाँ काफी मेल के अन्तर्गत वर्णित समस्त रागों को पुनः संक्षेपतः उल्लिखित किया है।

काफीरागः सदा पूर्णः पीलुद्विदशस्वरा।

प्रारोहे गतिहीनासौ सिन्धूरा शास्त्रसम्भता ॥२१०॥

टीका—कभी-कभी इस राग में ऋषभ-पञ्चम का स्वल्प-स्पर्श-प्रयोग भी किया जाता है। यह कृत्य रञ्जक होने के साथ ही, अत्यन्त कुशलतापूर्ण भी लगता है। रे-प का प्रमाण आवश्यकता से अधिक हो जाने पर कौंसी-कानड़ा का आभास हो सकता है। कुछ लोग मालकौंस को सम्पूर्ण भी मानते हैं।

तरङ्गिण्याह्वये ग्रन्थे रागोऽयं स्यात्प्रकीर्तितः ।

कर्णाटमेलने स्पष्टं तीव्रधगस्वरान्वितः ॥१७॥

रागतरङ्गिणी नामक ग्रन्थ में यह स्पष्टतः कर्णाट मेल में तथा तीव्र ध-ग से युक्त बताया गया है।

स एव रागमञ्जरीं पुण्डरीकविपश्चिता ।

अधगः सन्निकः प्रोक्तः काफिरागाध्यमेलने ॥१८॥

विद्वान् पुण्डरीक विट्ठल ने रागमञ्जरी में इसी राग को काफ़ीमेल-जन्य, धैवत-गान्धार रहित और षड्ज ग्रह, अंश, न्यास युक्त राग बताया है।

केषुचिच्छास्त्रग्रन्थेषु रागो मङ्गलकौशिकः ।

गौरीमेलसुसञ्जातः स चास्माद्भूदेवमर्हयेत् ॥१९॥

कुछ शास्त्रग्रन्थों में वर्णित, गौरीमेलोत्पन्न मङ्गलकौशिक नामक राग मालकौंस से भिन्न है।

प्राचीनग्रन्थकारैर्यो हिन्दोलः सम्प्रकीर्तितः ।

मालकोशः स एवात्र लक्ष्य इति विदां मतम् ॥२०॥

विद्वानों के मतानुसार, प्राचीन ग्रन्थकारों द्वारा वर्णित हिन्दोल ही लक्ष्य में मालकोश है।

टीका—प्राचीन ग्रन्थों में हिन्दोल का जो स्वरूप दिखायी देता है, वह प्रचलित मालकौंस का-सा लगता है। दाक्षिणात्य हिन्दोल भी मालकौंस जैसा ही है।

टिप्पणी

भैरवी स्यात्सदा पूर्णा मालकोशोऽरिपो मतः ।

तोड़ी बिलासखान्याद्या तोड्यङ्गभैरवी स्वयम् ॥२१॥

भैरवी सम्पूर्ण है। मातकौंस ऋषभ-पञ्चम विहीन है। बिलासखानी तोड़ी तोड़ी अङ्ग की भैरवी ही है।

३७० : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

तोड़ीमेलजन्य राग

(१) तोड़ी राग

वराटीतोड़िकामेलो यो ग्रन्थेषु निरूपितः ।

समावृतः स एवात्र तोड़ीति लक्ष्यवेदिभिः ॥१॥

प्राचीन ग्रन्थों में जिस मेल को वराटीतोड़ी निरूपित किया गया है, उसे ही आधुनिक विद्वान् 'तोड़ी मेल' के नाम से व्यवहृत करते हैं ।

अस्मान्मेलोत्समुत्पन्ना रागिणी तोड़िकाह्वया ।

आरोहे चाह्वरोहे च सम्पूर्णा लोकविश्रुता ॥२॥

इसी मेल से तोड़ी नामक पूर्णारोहावरोहयुक्त रागिणी उत्पन्न है, जो अत्यन्त प्रसिद्ध है ।

धैवतः सम्मतो वादी गान्धारो मन्त्रितुल्यकः ।

गानमस्याः समीचीनं द्वितीयप्रहरेऽहनि ॥३॥

इसका वादी धैवत है तथा संवादी गान्धार । इसके गायन का उचित समय दिवस का द्वितीय प्रहर है ।

सङ्गतिर्धगधोरत्र भवेद्रक्तिप्रदायिनी ।

आरोहे स्याद्विपात्पत्वं वैचित्र्यमवरोहणे ॥४॥

धैवत और गान्धार की सङ्गति तोड़ी में अत्यन्त रञ्जक लगती है । इसके आरोह में ऋषभ का अल्पत्व होता है । अवरोह वैचित्र्यपूर्ण होता है ।

प्रातःकालोचितं नैव तीव्रमस्य प्रयोजनम् ।

लोके प्रतीयमानत्वात् स्वीकृतमपवादकम् ॥५॥

प्रातःकालीन रागों में तीव्र मध्यम का उपयोग कदापि उचित नहीं है, तथापि श्रोताओं में अत्यन्त प्रसिद्धि के कारण इस राग को अपवाद के रूप में स्वीकृत किया जाता है ।

टीका—यद्यपि सामान्य नियमानुसार केवल एक तीव्रमध्यमयुक्त राग प्रातःकालोचित नहीं लगते, तथापि तोड़ी (गुर्जरी तोड़ी भी) इस नियम का अपवाद है, यह अभिप्राय है ।

ग्रन्थोक्ततोड़िकामेलोऽसौ लक्ष्ये भैरविनामकः ।

इति मया पुरैर्वोक्तं पुनरुक्तिनिरर्थिका ॥६॥

रागाध्याय : ३७१

मैं यह पहले ही बता चुका हूँ कि ग्रन्थों में वर्णित तोड़ी नामक मेल ही वर्तमान सङ्गीत का भैरवी नामक मेल है, अतः यहाँ इसकी पुनरुक्ति निरर्थक ही है।

बरबारी तथा लक्ष्मी लाचारी च बहादुरी।

हुसेनीनामिका तोड़ी तोड़ी बिलासखानिका ॥७॥

एवं बहुविधास्तोड्यो रागान्तरविमिश्रिता।

प्रसिद्धि च समानीता लोके यवनगायकैः ॥८॥

मुस्लिम गायकों ने तोड़ी तथा अन्य रागों को मिश्रित कर दरबारी तोड़ी, लक्ष्मी तोड़ी, लाचारी तोड़ी, बहादुरी तोड़ी, हुसेनी तोड़ी, बिलासखानी तोड़ी आदि विविध तोड़ी-प्रकार लोकप्रिय बनाये हैं।

(२) गुर्जरीतोड़ी

तोड़ीमेलसमुत्पन्ना गुर्जरी कीर्त्यन्ते बुधैः।

आरोहे चावरोहेऽपि नित्यं स्यात्प्रविचजिता ॥९॥

तोड़ीमेल से उत्पन्न गुर्जरी तोड़ी विद्वानों के द्वारा आरोह तथा अवरोह में पञ्चमवर्जित मानी जाती है।

धैवतः सम्मतो वादी रिगो वा मन्त्रिसन्निभः।

गानं सुनिश्चितं तस्या द्वितीयग्रहरेऽहनि ॥१०॥

इस राग का वादी स्वर धैवत है एवम् संवादी ऋषभ या गान्धार। इसका गान-समय दिवस का द्वितीय ग्रह है।

मध्यतारविज्जिज्ञासौ सन्यते गायनैः क्वचित्।

मते तेषां पुनस्तोडी मन्द्रमध्यप्रचारिणी ॥११॥

कुछ गायकों का मत है कि गुर्जरी तोड़ी का वैशिष्ट्य मध्य एवं तार स्वरों में दिखाई देता है, जबकि तोड़ी का विस्तार मन्द्र एवं मध्य स्वरों में होता है।

ग्रन्थेषु गुर्जरी प्रोक्ता स्पष्टं भैरवमेलने।

रित्रिका पेन हीना साऽथवा पूर्णा प्रभातगा ॥१२॥

पूर्वयुगीन ग्रन्थों में गुर्जरी को स्पष्टतः भैरवमेलजन्य सम्पूर्ण अथवा पञ्चमवर्ज्य रागिनी बताया गया है, जिसमें ऋषभ ग्रह, अंश तथा न्यास स्वर है।

३७२ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

अद्यापि गीयते चासौ सम्पूर्णा कुत्रचिज्जने ।

तोडीमेलसमुत्पन्ना न तल्लक्ष्येऽत्र सम्मतम् ॥१३॥

कुछ लोग आज भी इसे तोड़ीमेलजन्य सम्पूर्ण राग मान कर गाते हैं ।
परन्तु यह लक्ष्य में सम्मत नहीं है ।

(३) मुलतानी

तोडीमेलसमुत्पन्ना मूलतानी निरूपिता ।

प्रारोहे रिधहीनाऽसौ पञ्चमांशा जनप्रिया ॥१४॥

तोडी मेल से उत्पन्न लोकप्रसिद्ध मुलतानी आरोह में ऋषभ-धैवत-विहीन तथा पञ्चम अंश स्वर युक्त निरूपित की गयी है ।

मगयोः सङ्गतिश्चित्रा तयोरेव सुदोलनम् ।

भवेद्वक्षितप्रदं नित्यं तृतीयप्रहरोत्तरम् ॥१५॥

इसमें मध्यम-गान्धार की मींड ('सुदोलन') युक्त सङ्गति अत्यन्त रक्तिदायक होती है । इसका गान-समय तृतीय प्रहर दिन है ।

टीका—यहाँ 'सुदोलन' का अर्थ हमारे मतानुसार 'मींड' है । मुलतानी में प....मं ग....मं...मं ग, रे, सा इस प्रकार 'मं-ग' को प्रायः मींड से लिया जाता है । 'दोलन' का सामान्य अर्थ झूला है । मुलतानी में 'मं ग' सङ्गति के प्रयोग में सूक्ष्मज्ञों को 'दोलन' का यह अर्थ भी स्पष्ट ज्ञात हो सकता है ।

आरोहे रिधहीनत्वमपराह्णसूचकम् ।

प्रतिद्वो नियमो ह्येष सूरिणां पूर्ववर्तिनाम् ॥१६॥

पूर्ववर्ती सङ्गीताचार्यों का यह नियम प्रसिद्ध ही है कि आरोह में ऋषभ-धैवत का अल्पत्व अपराह्ण-समय का द्योतक होता है ।

मध्याह्नार्हान् धगाल्यान्तान् रागान् गीत्वा यथोचितम् ।

प्रवर्तते रिषत्यक्तान् गातुं गातुर्मनः स्वयम् ॥१७॥

मध्याह्नोचित अल्प धैवत-गान्धार वाले रागों को यथोचित रूप से गाने के पश्चात् गायकों के मन में स्वयं ही ऋषभ-धैवत वर्ज्य रागों को गाने की इच्छा होती है ।

मुलतानीगते ने तु तीव्रत्वारोपणे पुनः ।

ऋदित्युत्पत्स्यते तत्र पूर्वोरागस्य मेलनम् ॥१८॥

मुलतानी के गान्धार में तीव्रत्व का आरोपण करने मात्र से पूर्वमिल उत्पन्न हो जाता है ।

टीका— मुलतानी में ऋषभ और धैवत तो अल्पप्रयुक्त हैं ही; कोमल गान्धार का भी अल्पत्व उसमें स्पष्ट है । केवल एक कोमल गान्धार के अतिरिक्त अन्य सभी स्वर पूर्वमिल में भी हैं, अतएव केवल एक कोमल गान्धार को शुद्ध कर देने से पूर्वमिल हो सकता है । अभिप्राय यह कि मुलतानी के पश्चात् पूर्वमिलजन्य सान्ध्यकालीन रागों का गान सुगम एवं सुखद होता है ।

शेषयामे दिने प्रायः समपाः प्रबलाः स्मृताः ।

निरवद्यं रहस्यं तत्को न वेत्तीह मर्मवित् ॥१९॥

दिवस के अन्तिम प्रहर के रागों में प्रायः सा-म-प प्रबल माने जाते हैं । यह निर्दोष-नियम कौन मर्मज्ञ नहीं जानता ।

धन्याः खलु पण्डितास्ते यैरिदं कौतुकं महत् ।

निर्मितं बुद्धिसामर्थ्यात् सन्ततं विश्वमोहनम् ॥२०॥

वे पण्डित धन्य हैं, जिन्होंने अपने बुद्धिसामर्थ्य से यह सतत सकलजन-रञ्जक कौतुकपूर्ण सिद्धान्त निर्मित किया है ।

निसमगपमधपमगपमगरिसप्ताः ।

स्वररेतः स्वरूपं स्थान्मूलतान्याः परिस्फुटम् ॥२१॥

मुलतानी का स्वरूप “नि..सा....., मं..गु, प....मं..ध्र..प....., मं...गु, प..मं..गु..रे सा..सा” इन स्वरों से स्पष्ट होता है ।

भावभट्ट के मतानुसार तोड़ी के भेद

प्रथमा शुद्धतोड़ी स्याद्देशीतोड़ी द्वितीयिका ।

बहादुरी तृतीया स्याद् गुर्जरी च चतुर्थिका ॥२२॥

छायातोड़ी पञ्चमी स्यात् षष्ठी तोड़ी वराटिका ।

हुसेनी सप्तमी प्रोक्ता जौनपुरी तथाष्टमी ॥

आसातोड़ी च नवधा प्रकारा कीर्तिता बुधैः ॥२३॥

शुद्ध तोड़ी, देशी तोड़ी, बहादुर तोड़ी, गुर्जरी तोड़ी, छाया तोड़ी; वराटिका तोड़ी, हुसैनी तोड़ी, जौनपुरी तोड़ी तथा आसातोड़ी ये नवविध तोड़ी-प्रकार विद्वानों ने वर्णित किये हैं ।

३७४ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

टिप्पणी

तोड़ी लोके सदा पूर्णा गुर्जरी पञ्चमोच्चिता ।

मूलतान्यां रिधौ न स्तः प्रारोहे गीतविन्मते ॥२४॥

तोड़ी सम्पूर्ण राग है । गुर्जरी में पञ्चम वर्जित है । मूलतानी के आरोह में ऋषभ-धैवत नहीं लगते ।

वाग्गेयकार के लक्षण

सङ्गीतरत्नाकर में उल्लिखित वाग्गेयकारलक्षण

वाङ्मातुरुच्यते गेयं धातुरित्यभिधीयते ।

वाचं गेयं च कुरुते यः स वाग्गेयकारकः ॥१॥

‘वाक्’ को ‘मातु’ एवं ‘गेय’ को ‘धातु’ कहते हैं । जो ‘वाक्’ और ‘गेय’ दोनों की रचना करता है, उसे ‘वाग्गेयकार’ कहा जाता है ।

टीका—‘गीत’ में काव्य एवं स्वर दोनों ही का समन्वय होता है । वस्तुतः स्वरबद्ध काव्य ही ‘गीत’ है । इसी लिए, काव्य तथा स्वर को गीत के प्राणतत्त्व कहते हैं । सङ्गीत की पारिभाषिक शब्दावली में इन्हें क्रमशः ‘मातु’ एवं ‘धातु’ कहा गया है । रागतरङ्गिणी के अनुसार—

“धातुमातुसमायुक्तं गीतमित्युच्यते बुधैः ।

तत्र नादात्मको धातुर्मातुरक्षरसम्भवः ॥”

मात्र कवि को ‘मातुकार’ एवं मात्र स्वर-रचयिता को ‘धातुकार’ कहते हैं । ‘धातु’ एवं ‘मातु’ दोनों ही की रचना करने वाले व्यक्ति को ‘वाग्गेयकार’ कहा गया है ।

उत्तम कोटि का गीत काव्य तथा सङ्गीत दोनों ही दृष्टिकोणों से उत्तम होता है । श्रेष्ठ काव्य उचित स्वर-संयोजन के अभाव में, तथा उत्कृष्ट स्वर-रचना तदनुकूल समस्तरीय काव्य के अभाव में, सफल ‘गीत’ नहीं बन पाते । गीत का साफल्य काव्य और स्वर के सुन्दर साहचर्य पर अवलम्बित होता है । अतएव, सफल गीत-रचना के लिए काव्य-कौशल तथा सङ्गीत-कौशल दोनों वाञ्छित हैं । मनोगत भावों की सफल अभिव्यञ्जना सिद्ध कवि के लिए ही

सम्भव है। उसी प्रकार, हृद्गत की स्वरमय प्रस्तुति एवं गेय पद में व्यंजित कोमलकान्त भाव-छटाओं की सानुकूल साङ्गीतिक अभिव्यक्ति भी केवल सिद्ध सङ्गीतज्ञ ही कर सकता है। इसी लिए, सफल वाग्गेयकार के लिए कवि-कर्म तथा गान-कला दोनों का अशेष ज्ञान नितान्त आवश्यक है।

भारतीय सङ्गीत में गायन को आधारभूत माना गया है। वैदिक युग से लेकर सङ्गीतरत्नाकर काल और उसके भी कुछ समय पश्चात् तक भारतीय सङ्गीत-कला में काव्य का अनिवार्य स्थान रहा। इस काल-खण्ड में गायन का आधारभूत विषय पद ही होता था, एवं पद में निहित भावों को ही, पदगत शब्दों को रागोचित स्वरों के विभिन्न स्थायों द्वारा गुम्फित करते हुए, गायन में प्रस्तुत किया जाता था। ध्रुवपद तक भी गायकी काव्यमूलक रही। किन्तु, परवर्ती युगों में गायन में काव्य का महत्त्व न्यून हो गया है। कालान्तर में ध्रुवपद-गायन भी स्वर-प्रधान होता गया। 'खयाल' में काव्य प्रायः अत्यन्त ही संक्षिप्त, एवं काव्यत्व से वञ्चित भी, लगता है—उसमें प्रायः गायन की, और गायक-विशेष की, और घराना-विशेष की, सुविधा और रुचि की दृष्टि से ही शब्द प्रयुक्त किए गए प्रतीत होते हैं, काव्य की दृष्टि से नहीं! न ही, खयाल गायकी में वर्तमान युग में शब्दों का समुचित व्यवहार ही दिखायी देता है! इसी प्रकार, 'ठुमरी' जैसी भाव-प्रवण शैली में भी शब्द स्वर का बाह्यावरण मात्र रह गया है; उसकी आत्मा नहीं! वीत गया वह युग जिसमें गायन में काव्य आत्मा था, तो स्वर मन; काव्य हृदय था, तो स्वर उसका स्पन्दन; स्वर देह था, तो शब्द उसकी त्वचा! आज तो गायन में शब्द का स्थान कोट-कमीज-जैसा लगता है, जिसे, चाहा तो पहन-ओढ़ लिया, और जब चाहा, उतार दिया!

आज के स्वर-प्रधान सङ्गीत में गायन में काव्य का महत्त्व भले ही स्थलित हो चला है, तथापि यह तथ्य चिरन्तन है कि 'गीत' में काव्य और स्वर, दोनों ही पक्षों की उत्कृष्टता एवं पारस्परिक सहयोगिता हो तो वह अत्यन्त ही मर्मस्पर्शी, अत्यन्त ही प्रभावी हो जाता है।

सङ्गीतरत्नाकरकार ने गीत में इन दोनों पक्षों के समान महत्त्व को स्वीकार कर वाग्गेयकार में मातु-रचना एवं धातु-रचना दोनों के ही श्रेष्ठ गुणों की आवश्यकता प्रतिपादित की है। उत्तम वाग्गेयकार के जो लक्षण आचार्य शाङ्गदेव ने निर्दिष्ट किए हैं, वे आगे बताए जा रहे हैं।

३७६ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

शब्दानुशासनज्ञानमभिधानप्रवीणता ।
 छन्दःप्रभेदवेदित्वमलङ्कारेषु कौशलम् ॥२॥
 रसभावपरिज्ञानं देशस्थितिषु चातुरी ।
 अशेषभाषाविज्ञानं कलाशास्त्रेषु कौशलम् ॥३॥
 तुर्यत्रितयचातुर्यं हृद्यशारीरशालिता ।
 लयतालकलाज्ञानं विवेकोऽनेककाकुषु ॥४॥
 प्रभूतप्रतिभोद्भेदभावत्वं सुभगगेयता ।
 देशीरागेष्वभिज्ञत्वं वाक्पटुत्वं सभाजये ॥५॥
 रागद्वेषपरित्यागः सार्द्रत्वमुचितज्ञता ।
 अनुच्छिष्टोक्तिनिर्वन्धो नूतनघातुविनिर्मितिः ॥६॥
 परचित्तपरिज्ञानं प्रबन्धेषु प्रगल्भता ।
 द्रुतगीतविनिर्माणं पदान्तरविदग्धता ॥७॥
 त्रिस्थानगमकप्रौढिर्विविधालप्तिनैपुणम् ।
 अवधानं गुणैरेभिर्वरो वाग्गेयकारकः ॥८॥

श्रेष्ठ वाग्गेयकार इन गुणों से सम्पन्न होता है—शब्दानुशासनज्ञान, अभिधानप्रवीणता, छन्दःप्रभेदवेदित्व, अलङ्कारकौशल, रसभावपरिज्ञान, देशस्थितिचातुर्य, अशेषभाषाविज्ञान, कला-शास्त्रकुशलता, तुर्यत्रितयचातुर्य, हृद्यशारीरशालिता, लयतालकलाज्ञान, अनेककाकुविवेक, प्रभूतप्रतिभोद्भेदभावत्वं, सुभगगेयता, देशीरागअभिज्ञता, वाक्पटुत्व, रागद्वेषपरित्याग, सार्द्रत्व, उचितज्ञता, अनुच्छिष्टोक्तिनिर्वन्धक्षमता, नूतनघातुविनिर्मितिक्षमता, परचित्तपरिज्ञान, प्रबन्धप्रगल्भता, द्रुतगीतविनिर्माणयोग्यता, पदान्तरविदग्धता, त्रिस्थानगमकप्रौढत्व, आलसिनैपुण्य, तथा अवधान ।

टीका—यहाँ उत्तम वाग्गेयकार के २८ लक्षणों का वर्णन किया गया है :—

१. शब्दानुशासनज्ञान—अर्थात्, शब्दों के अनुशासन का ज्ञान । भाषा में शब्दों का अनुशासन व्याकरण के सिद्धान्तों के अनुसार होता है । दोषरहित काव्य-रचना के लिए व्याकरणशास्त्र का ज्ञान अनिवार्य है ।
२. अभिधानप्रवीणता—‘अभिधान’ का अर्थ है—नाम या संज्ञा या शब्द । भावों की सफल अभिव्यक्ति के लिए उचिततम शब्दों का चयन किया जाना चाहिए । इसके लिए शब्द-ज्ञान का विस्तार करना कवि के

लिए आवश्यक होता है, जो शब्द-कोशों के द्वारा सम्भव है। संस्कृत के कवि अपने शब्द-भण्डार को समृद्ध करने के लिए अमरकोश आदि का अध्ययन करते हैं, जिनमें प्रत्येक शब्द के अनेकानेक तत्सम शब्दों का सङ्कलन होता है। वाग्गेयकार के लिए शब्द-बाहुल्य की आवश्यकता को लक्ष्य करके ही 'अभिधान-प्रवीणता' गुण का उल्लेख यहाँ किया गया है। 'अभिधान-प्रवीणता' का अर्थ है—शब्द-चयन की कुशलता।

३. छन्दःप्रभेदवेदित्व—छन्दः (= छन्द) + प्रभेद (= प्रकार) + वेदित्व (= ज्ञान)। कविता लिखने के लिए मात्रिक तथा वर्णिक छन्दों और उनके प्रकारों का ज्ञान होना चाहिए। इसी लिए, वाग्गेयकार लक्षणों में छन्दःशास्त्र अथवा पिङ्गल के ज्ञान का उल्लेख किया गया है।
४. अलङ्कारकौशल—सुन्दर काव्य साहित्यिक अलङ्कारों से भूषित होता है। 'गीत' का काव्य पक्ष साहित्यिक दृष्टि से श्रेष्ठ हो सके, इसके लिए वाग्गेयकार को अलङ्कारशास्त्र का ज्ञान तथा अलङ्कारयोजना में कुशल होना चाहिए।
५. रसभावपरिज्ञान—“वाक्यं रसात्मकं काव्यम्” रसात्मक वाक्य (अर्थात्, भाषा) ही काव्य है। 'रस' काव्यकला का प्राणतत्व है। रससिद्धि में ही काव्य का साफल्य निहित है। अस्तु, उत्तम काव्य-रचना के लिए रस शास्त्र का ज्ञान सहायक होता है। वाग्गेयकार में विभिन्न रस-भेदों तथा भाव-भेदों का समग्र ज्ञान काव्यात्मक सृजन-हेतु आवश्यक माना गया है।
६. देशस्थितिचातुर्य—कवि के लिए अपने वर्ण्य पात्रों, स्थितियों तथा स्थानों के सम्बन्ध में पूर्ण ज्ञान आवश्यक होता है, क्योंकि उसी के कारण पात्र, स्थितियाँ और स्थान सजीव तथा वास्तविक बन पाते हैं। देश-काल-परिस्थिति का व्यावहारिक ज्ञान सफल काव्य-रचना की दृष्टि से वाग्गेयकार के लिए वाञ्छनीय है।^१

१. क्रमिक पुस्तक, भाग ४, पृ० ५४ पर इसका अर्थ “विभिन्न देशों के रीति-रिवाजों का ज्ञान” दिया गया है।

३७८ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

७. अशेषभाषाज्ञान—भाषा का समग्र ज्ञान होना वाग्गेयकार के लिए अनिवार्य है। भाषा पर पूर्ण अधिकार होने पर ही काव्य निर्देश हो सकता है।^१
८. कलाशास्त्रकुशलता—समस्त कलाओं तथा शास्त्रों में कुशलता प्राप्त वाग्गेयकार की गीत-रचना काव्य एवं सङ्गीत दोनों दृष्टियों से दोष-रहित हो सकती है। अतएव वाग्गेयकार में विविध कलाओं एवं शास्त्रों में कौशल अपेक्षित है।
९. तुर्यत्रितयचातुर्य—‘तुर्यत्रितय’ का अर्थ है, जिसमें गान, वादन तथा नर्तन तीनों कलाओं का समावेश है। सङ्गीत के इन तीनों अङ्गों का ज्ञान वाग्गेयकार के लिए आवश्यक है।
१०. हृद्यशारीरशालिता—‘शारीर’ एक पारिभाषिक शब्द है, जिसका सामान्य अर्थ है—कण्ठ स्वर का वह स्वाभाविक गुण-धर्म जिसके द्वारा राग-स्वरूप की अभिव्यक्ति अत्यन्त सरलता से हो सके। ‘शारीर’ की व्याख्या ‘श्रीमल्लक्ष्य सङ्गीतम्’ में ही अन्यत्र की गयी है। ‘हृद्य’ का अर्थ है—मधुर अथवा चित्ताकर्षक। ‘हृद्यशारीरशालिता’ से तात्पर्य है—मधुर कण्ठ-स्वर से सम्पन्नत्व, जिसमें सहज ही रागरूप को प्रस्तुत करने की क्षमता हो। स्वयं गा कर गीत के रागगत स्वरूप को अत्यन्त मधुरता से, सरलतापूर्वक प्रस्तुत किया जा सके, ऐसी योग्यता वाग्गेयकार के कण्ठ-स्वर में होनी चाहिए। ऐसा ही वाग्गेयकार ‘हृद्यशारीरशाली’ कहा जाता है।
११. लयतालकलाज्ञान—लय, ताल, मात्रा, कला आदि तालगत विषयों का ज्ञान गीत-रचना के लिए अनिवार्य है।
१२. अनेककाकुविवेक—शास्त्रोक्त षड्काकुभेदों का ज्ञान वाग्गेयकार के लिए अपेक्षित है। ‘काकु’ पारिभाषिक शब्द है, जिसका साधारण अर्थ है—विशेष ढङ्ग से प्रयुक्त कण्ठ-स्वर या आवाज। विविध प्रकार से आवाज निकालना काकुप्रयोग कहलाता है। भावों की गेय-अभिव्यक्ति में भाव के अनुकूल कण्ठ-स्वर में परिवर्तन करना पड़ता है।
१३. प्रभूतप्रतिभोद्भेदभावत्व—राग आदि साङ्गीतिक विषयों के नवोन्मेष हेतु अतिशयशक्तिमत्ता वाग्गेयकार में अपेक्षित है। राग के स्वरूप

१. वहीं, इसका अर्थ “देश की सब भाषाओं का ज्ञान” किया गया है।

- को अपनी सौन्दर्यदर्शी कल्पना द्वारा विविध रूपों में प्रस्फुटित कर गीत की वृन्दिशें बना सकने की योग्यता वाग्गेयकार में वाञ्छनीय है।
१४. सुभगगेयता—सुन्दर, मधुर गान करने की योग्यता को 'सुभगगेयता' कहा गया है। वाग्गेयकार स्वयं अपनी रचनाओं का गान कर लोगों का मनोरञ्जन कर सके, इसके लिए उसमें सुभगगेयता होनी चाहिए।
१५. देशीरागाभिज्ञत्व—समस्त प्रचलित रागों का ज्ञान वाग्गेयकार को होना चाहिए। सङ्गीत-रचना के लिए विविध प्रचलित रागों का समग्र ज्ञान आवश्यक होता है।
१६. वाक्पटुत्व—वाग्गेयकार में वाक्चातुर्य या भाषणशक्ति होनी चाहिए। ग्रन्थों में इस गुण का अर्थ—“सभा में विजय पाने योग्य वाक्-चातुर्य” किया गया है। किन्तु यह अर्थ बहुत ठीक नहीं लगता। पूर्वकाल में सम्भवतः वाग्गेयकारों को भी कवियों के समान ही राज-सभाओं में काव्यप्रतिद्वन्द्विता तथा वाद-विवादों में भाग लेना पड़ता रहा हो। तब शायद वाक्पटुत्व गुण का यह अर्थ ठीक रहा हो। हमारे विचार से, वाग्गेयकार के सन्दर्भ में इसका अर्थ भाषा पर पूर्ण अधिकार तथा अभिव्यक्ति-क्षमता होना चाहिए। अपने भावों को अभिव्यक्त करने के लिए कवि में भाषाधिकार तथा अभिव्यक्ति-क्षमता आवश्यक है।
१७. रागद्वेषपरित्याग—वाग्गेयकार को वैयक्तिक स्तर के राग-द्वेषों से मुक्त रहना चाहिए। क्षुद्र-विकारों से युक्त कवि-मानस की काव्यात्मक प्रस्तुति उचित प्रमाण में रसमयी तथा सर्वजनाह्लादक होना कठिन है। इसी लिए रागद्वेषविहीनता सफल कवि में वाञ्छनीय है।
१८. सार्द्रत्व—‘सार्द्रत्व’ का अर्थ है—सरसता। वाग्गेयकार में यह गुण इसी लिए अपेक्षित है कि सरसहृदयकवि और कलाकार की रचना ही रसोत्पादक हो सकती है।
१९. उचितज्ञता—औचित्य का ज्ञान काव्य तथा सङ्गीत दोनों ही रचना के लिए आवश्यक है। औचित्य ज्ञान के अभाव में गीत निर्दोष नहीं हो पाता।
२०. अनुच्छिष्टोक्तिनिर्वन्ध-क्षमता—‘अनुच्छिष्ट’ का अर्थ है—जो उच्छिष्ट न हो, अर्थात् अन्य किसी का न हो, अर्थात् सर्वथा मौलिक हो। सर्वथा मौलिक काव्य की रचना की क्षमता वाग्गेयकार में अपेक्षित है ताकि सर्वथा नवीन गीत वह रच सके।

३८० : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

२१. नूतनधातुविनिमिति-क्षमता—‘धातु’ का अर्थ है स्वर रचना जिस प्रकार नितान्त नवीन काव्य-रचना की शक्ति वाग्गेयकार में होनी चाहिए, उसी प्रकार नयी-नयी स्वर-रचनाएँ निर्मित करने की योग्यता भी उसमें होनी चाहिए ।
२२. परचित्तपरिज्ञान—वाग्गेयकार को मनोवैज्ञानिक भी होना चाहिए । यह दो प्रकार से आवश्यक लगता है । एक तो कवि के रूप में उसे अपने वर्ण्य पात्र या चरित्र की मनःस्थितियों का वास्तविक के समान ही वर्णन करना होता है; दूसरे, गीतकार के रूप में श्रोताओं को सुगम कर सकने के लिए भी मनोवैज्ञानिक तथ्यों का परिचय सहायक होता है । दूसरी तरह से कहा जाय तो वाग्गेयकार में ‘सामाजिक’ (अर्थात् श्रोता और दर्शक से सम्बन्धित) मनोविज्ञान (Audience psychology) को समझने की क्षमता होनी चाहिए ।
२३. प्रबन्धप्रगल्भता—विभिन्न गीत-प्रकारों—यथा, ध्रुवपद, ख्याल आदि की रचना करने की शक्ति वाग्गेयकार में होनी चाहिए ।
२४. द्रुतगीत विनिर्माणयोगता—वाग्गेयकार में तत्क्षण गीत रचना की योग्यता भी होनी चाहिये ।
२५. पदान्तरविदग्धता—भाँति-भाँति की कविताओं और गीतों के भेदों का ज्ञान वाग्गेयकार को होना चाहिए, ताकि वह विभिन्न प्रकार के गीत सफलतापूर्वक रच सके । ‘पदान्तरविदग्धता’ का अर्थ “भिन्न-भिन्न गीतों की छाया का अनुकरण करने की सामर्थ्य” भी किया जाता है ।
२६. त्रिस्थानगमकप्रौढत्व—मन्द्र, मध्य और तार तीनों सप्तकों में गमकों का गायन कर सकने की क्षमता । यह गुण उस वाग्गेयकार से सम्बन्धित है, जो अपनी रचनाओं का गायन स्वयं भी करता हो ।
२७. आलप्तिनपुण्य—आलापों के रागालाप, रूपकालाप आदि विभिन्न प्रकारों को प्रस्तुत कर सकने की निपुणता वाग्गेयकार में होनी चाहिए ।
२८. अवधान—मन की एकाग्रता कवि और कलाकार के लिए अत्यन्त आवश्यक है ।

विदधानोऽधिकं धातुं मातुमन्दस्तु मध्यमः ।

धातुमातुविदप्रौढः प्रबन्धेष्वपि मध्यमः ॥१॥

रम्यमातुविनिर्माताऽप्यधमो मन्दधातुकृत् ।

‘घातु’ अर्थात् गेय अङ्ग की सम्यक् रचना में योग्य, किन्तु ‘मातु’ अर्थात् वाक् अङ्ग में मन्द (दुर्बल) वाग्गेयकार मध्यम कोटि का माना जाता है। जो ‘घातु’ और ‘मातु’ दोनों का ज्ञाता हो, परन्तु प्रबन्ध-रचना में परिपक्व न हो, ऐसे वाग्गेयकार को भी मध्यम कहते हैं। जो वाग्गेयकार सुन्दर ‘मातु’ रचना कर सकने पर भी ‘घातु’ रचना में दुर्बल हो, उसे अधम माना गया है।

टीका—गीत-रचना में काव्य तथा स्वर-ताल दोनों पक्षों का सर्वोत्तम सन्तुलन जिस वाग्गेयकार में हो, उसे श्रेष्ठ वाग्गेयकार कहा गया है। यहाँ पर वाग्गेयकारों की मध्यम और अधम कोटियों का निरूपण किया गया है, जो घातु और मातु दोनों अङ्गों के असन्तुलन के आधार पर बनती हैं। सङ्गीत अङ्ग में अधिक प्रबल, किन्तु काव्य की दृष्टि से अपेक्षाकृत दुर्बल वाग्गेयकार मध्यमकोटि का होता है। सङ्गीत तथा काव्य दोनों अङ्गों के यथेष्ट ज्ञान से सम्पन्न, किन्तु विभिन्न प्रकार के प्रबन्धों की सफल रचना में असमर्थ अपरिपक्व वाग्गेयकार भी मध्यम कोटि का होता है। सङ्गीत अङ्ग की रचना में समर्थ, किन्तु काव्य-रचना में दुर्बल वाग्गेयकार को अधम कोटि का कहा गया है।

बरो वस्तुकविर्वर्णकविर्मध्यम उच्यते।

कुट्टिकारोऽन्यघातौ तु मातुकारः प्रकीर्तितः ॥१०॥

वस्तुकवि श्रेष्ठ कहा जाता है तथा वर्णकवि मध्यम। अन्य व्यक्ति द्वारा रचित ‘घातु’ में ‘मातु’ की रचना करने वाले को ‘कुट्टिकार’ कहते हैं।

टीका—यहाँ कवियों की कोटियाँ बतायी गयी हैं। उत्तम कोटि का कवि वस्तुकवि होता है, जिसके काव्य में ‘वस्तु’ अर्थात् कथ्य या अमिधेय अत्यन्त सम्यक् एवं रमणीय होता है। कथ्य रमणीय या सुन्दर न हो, किन्तु वर्ण या शब्द-योजना (वर्णन, भाषा और शैली) के कारण जिसके काव्य में रमणीयता प्रतीत हो, उसे वर्णकवि कहते हैं, और ऐसा कवि मध्यम कोटि का माना जाता है। कुट्टिकार निम्नतम कोटि का कवि माना जाता है, जो किसी अन्य व्यक्ति द्वारा रचित धुन के लिए काव्य-लेखन करता है।

गायकों के गुणावगुण

उत्तम गायकों के लक्षण

सङ्गीत-कला को उसके वास्तविक मोहक स्वरूप में प्रस्तुत करने के लिए स्वरों तथा रागों आदि का अभ्यास मात्र पर्याप्त नहीं, अपितु अन्य कई बातों का प्रयत्नपूर्वक साधा जाना भी आवश्यक है। सङ्गीत प्रत्यक्ष प्रदर्शन

३८२ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

की कला है। इसमें कलाकार और उसके गुणग्राहक के बीच सीधा, प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित होता है। अतएव उत्तम कलाकार उसे ही कहा जा सकता है, जो कला में पारङ्गत होने के साथ ही कला-प्रदर्शन में भी पारङ्गत हो।

इसी तत्त्व को लक्ष्य कर शास्त्रकारों ने गायकों, वादकों तथा नर्तकों के गुण-दोषों का विशद विवेचन किया है। इनमें सङ्गीत-कला के ज्ञान-पक्ष, क्रिया-पक्ष, बौद्धिक पक्ष, प्रभावकता, प्रदर्शन-पक्ष आदि सभी दृष्टिकोणों से कलाकार में आवश्यक हैं, अथवा त्याज्य हैं। ये गुण-दोष प्राकृतिक भी होते हैं, तथा अभ्यास द्वारा विकसित भी। जो गुण प्राकृतिक रूप से कलाकार में विद्यमान हों, उन्हें अभ्यास द्वारा विकसित किया जाना चाहिए, तथा अन्य गुणों को सतत साधना द्वारा स्वयं में संगृहीत किया जाना चाहिए। स्वगत दोषों का तटस्थ समीक्षक दृष्टि से अन्वेषण कर उनके निराकरण एवं गुणों के संग्रह का प्रयास कलाकारों को अवश्य करना चाहिए।

यहाँ सङ्गीतरत्नाकर से गायक-गुणावगुणविषयक अंश श्रीमल्लक्ष्य-सङ्गीतम् में उद्धृत हैं। सङ्गीतरत्नाकर के अनुसार उत्तम गायकों के गुण इस प्रकार हैं :

हृद्यशब्दः सुशारीरो ग्रहमोक्षविचक्षणः ।

रागरागाङ्गभाषाङ्गक्रियाङ्गोपाङ्गकोविदः ॥१॥

प्रबन्धगाननिष्णातो विविधालप्तिरत्नवित् ।

सर्वस्थानोच्चगमकेष्वनायासलसवृत्तिः ॥२॥

आयत्तकण्ठस्तालज्ञः सावधानो जितभ्रमः ।

शुद्धच्छायालग्नः सर्वकालविशेषवित् ॥३॥

अपारस्थायसञ्चारः सर्वदोषविवर्जितः ।

क्रियापरो व्यक्तलयः सुघटो धारणान्वितः ॥४॥

स्फूर्जन्निर्ज्वनो हारिरहःकुञ्जनीदुरः ।

सुसम्प्रदायो गीतज्ञर्गीयते गायनान्रणीः ॥५॥

विद्वानों ने उस गायक को श्रेष्ठ माना है, जो 'हृद्यशब्द' हो, 'सुशारीर' हो, 'ग्रहमोक्षविचक्षण' हो, 'रागरागाङ्गभाषाङ्गक्रियाङ्गोपाङ्गकोविद' हो, 'प्रबन्धगाननिष्णात' हो, 'विविधालप्तिरत्नवित्' हो, 'सर्वस्थानोच्चगमकेष्वना-
 १. सङ्गीतरत्नाकर, ३।१३-१७

नायासलसद्गति' हो, 'आयत्तकण्ठ' हो, 'तालज्ञ' हो, 'सावधान' हो, 'जितश्रम' हो, 'सर्वदोषविवर्जित' हो, 'शुद्धच्छायालगाभिज्ञ' हो, 'सर्वकाकुविशेषवित्' हो, 'अपारस्थायसञ्चार' हो, 'क्रियापर' हो, 'व्यक्तलय' हो, 'सुघट' हो, 'वारणान्वित' हो, 'स्फूर्जन्निर्जवन' हो, 'हारिरहःकृद्भजनोद्भुर' हो, एवं 'सुसम्प्रदाय' हो ।

टीका—गायकों के गुणों को यहाँ विशेषणों के द्वारा बताया गया है । इनकी व्याख्या हम कर रहे हैं—

१. हृद्यशब्द—(हृद्य=मधुर, चित्ताकर्षक, शब्द=कण्ठ स्वर) मधुर कण्ठ स्वर वाले गायक को 'हृद्यशब्द' कहा गया है । हृद्यशब्दता नैसर्गिक गुण है, किन्तु स्वर-साधना की उचित विधि से अभ्यास करने पर साधारण कण्ठ-स्वर में भी माधुर्य उत्पन्न हो सकता है ।
२. सुशारीर—'सुशारीर' उस गायक को कहा गया है जिसके कण्ठ में विना विशेष प्रयत्न के ही सहज रूप से राग की अभिव्यक्ति का नैसर्गिक गुण हो । इसी गुण को 'शारीर' कहते हैं । कण्ठ-माधुर्य एक गुण है, और यह दूसरा । मधुर आवाज होते हुए भी प्रत्येक गायक के लिए राग-स्वरूप की अनायास, सहज अभिव्यञ्जना सम्भव नहीं हो पाती । यद्यपि यह गुण नैसर्गिक होता है तथापि अभ्यास के द्वारा भी गायक रागमिव्यक्ति कर सकता है ।
३. ग्रहमोक्षविचक्षण—राग के ग्रह, अंश, न्यास आदि दशलक्षणों का ज्ञाता 'ग्रहमोक्षविचक्षण' कहलाता है । राग के निर्दोष, शास्त्रसम्मत स्वरूप की अभिव्यक्ति के लिए गायक को राग-नियमों का अशेष, सूक्ष्म ज्ञान होना चाहिए ।
४. रागरागाङ्गभाषाङ्गक्रियाङ्गोपाङ्गलोचिद—इसका अर्थ है, रागों के रागाङ्ग, भाषाङ्ग, क्रियाङ्ग तथा उपाङ्ग नामक देशी सङ्गीत में प्रचलित भेदों का ज्ञाता । यह गुण गायक के व्यापक राग-ज्ञान का परिचायक है ।
५. प्रबन्धगाननिष्णात—अर्थात्, विविध प्रकारों के प्राचीन तथा वर्तमान गीत-भेदों के गायन में निष्णात गायक, ध्रुवपद, ख्याल आदि आधुनिक गालन-शैलियों तथा एला इत्यादि प्राचीन प्रबन्धों के गायन की योग्यता गायक की बहुज्ञता तथा संग्रह-वैविध्य की द्योतक है ।

३८४ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गोतम्

६. विविधालप्तिस्त्ववित्—अर्थात्, आलप्तियों के तत्त्वों का ज्ञाता। 'आलप्ति' राग के विस्तार का एक विशिष्ट अङ्ग है किन्तु यहाँ उसका अर्थ राग-विस्तार मानना अधिक उचित है। राग-विस्तार में रागालाप, रूप-कालाप, आलप्ति, आलपन आदि जो प्रकार हैं, उन्हें अच्छी तरह समझने वाले गायक के लिए यह विशेषण प्रयुक्त हुआ है।
७. सर्वस्थानोच्चगमकेष्वनायासलसद्गति—(सर्वस्थान = मन्द्र, मध्य और तार तीनों स्थानों की + उच्चगमकेषु = उच्च या उत्तम गमकों में + अनायास = सरलतापूर्वक या बिना विशेष परिश्रम के + लसद्गतिः = विलास करने अर्थात् गाने की योग्यता वाला)। यह उस गायक का विशेषण है, जो तीनों सप्तकों में अच्छी से अच्छी गमक आसानी से गा सकता हो। गमक में स्वरों को उनके नियत स्थान से यथावश्यक आगे-पीछे हिला कर या कम्पित करते हुए बलपूर्वक लगाया जाता है। गमक गायन का एक अत्यन्त वैचित्र्यपूर्ण, साथ ही श्रमसाध्य अङ्ग है।
८. आयत्तकण्ठ—जिस गायक की आवाज पूरी तरह से उसके अधिकार में हो, उसे 'आयत्तकण्ठ' कहते हैं। 'मक्खन' और पानी जैसी आवाज होना आयत्तकण्ठत्व ही है! सतत अभ्यास से आवाज में इच्छित 'हरकतें' पैदा करने का यह गुण विकसित हो सकता है।
९. तालज्ञ—अर्थात्, ताल-शास्त्र का ज्ञाता। तालों एवं तालगत लय, मात्रा, कला आदि विषयों का ज्ञाता 'तालज्ञ' कहलाता है। ताल वह तल अथवा भूमि है, जिस पर सङ्गीत प्रतिष्ठित है। सङ्गीत के कल्पना-लोक की घुरी ताल ही है! अतः ताल-विषय का सम्यक् ज्ञान कलाकार में आवश्यक माना गया है।
१०. सावधान—'अवधान' सहित गायन करने वाले को 'सावधान' कहते हैं। 'अवधान' का अर्थ है—बुद्धि और मन की एकाग्रता। कला-सृजन में एकाग्रता अनिवार्य है। बुद्धि, तथा मन की समस्त वृत्तियों को केन्द्रीभूत करके गाने पर ही गायन-साफल्य प्राप्त होता है। कलाजन्य 'ब्रह्मानन्दसहोदर' कहे जाने वाले 'रस' की अनुभूति इसी योग-सदृश अवस्था में सम्भव है।
११. जितश्रम—'जितश्रम' का अर्थ है—जिसने श्रम पर विजय प्राप्त कर ली हो। गायन में मानसिक तथा शारीरिक दोनों ही श्रम होते हैं।

शारीरिक श्रम कण्ठ से गाने में, तथा मानसिक श्रम राग-स्वरूप के प्रस्तुतीकरण, स्वर-संयोजन, विशिष्ट गानालङ्कारों के यथास्थान प्रयोग, भावों की अभिव्यक्ति के प्रयत्न आदि में होता है। इस द्विविध श्रम से यदि गायक क्लान्ति का अनुभव करे, तो गायन रुक, रसहीन, विखण्डित-सा होने लगता है। इसी लिए, अभ्यास द्वारा श्रम को जीतना आवश्यक है। साथ ही, ललितकला के सृजन की प्रक्रिया में अपेक्षा से अधिक शारीरिक शक्ति का व्यय भी नहीं होना चाहिए।

१२. शुद्धछायालगाभिज्ञ—यह उस गायक का विशेषण है, जो रागों के शुद्ध, छायालग एवं संकीर्ण नामक भेदों का पूर्ण ज्ञाता हो। राग के स्वरूप तथा उसमें स्थित रागाङ्गों एवं उन रागाङ्गों के उचित प्रयोग का सूक्ष्म ज्ञान गायक के लिए आवश्यक है।

१३. सर्वकाकुविशेषवित्—शास्त्रोक्त षड्विधकाकु प्रयोग को अच्छी तरह जानने वाले गायक को सर्वकाकुविशेषवित् कहते हैं। भावाभिव्यक्ति के लिए आवाज का मित्र-भिन्न ढङ्ग से प्रयोग काकु कहलाता है।

१४. अपारस्थायसञ्चारी—स्वर-समूह को स्थाय कहते हैं। राग के मूल, अन्तस्थ, भावमय स्वरूप का प्रकाशन उसके नादमय स्वरूप में होता है। नादमय स्वरूप राग-स्वरों के विशिष्ट संयोजन से निर्मित होता है। राग-गायन में इस विशिष्ट स्वरूप का विस्तार गायक अपनी राग-धारणा तथा कल्पना के अनुसार विविध स्वर-गुच्छों द्वारा करता है। कल्पना जितनी उर्वर हो और राग-धारणा जितनी सूक्ष्म और व्यापक हो, उतनी ही वैविध्यपूर्ण स्वरों की योजना होती है। इसी लिए अपार, अगणित, नवनवीन स्थायों द्वारा राग में संचरण करना उत्तम गान-गुण माना गया है, तथा ऐसा गायक 'अपारस्थायसञ्चारी' कहलाता है।

१५. सर्वदोषविवर्जित—सर्वथा दोषमुक्त गायक को 'सर्वदोषविवर्जित' कहते हैं।

१६. क्रियापर—'क्रिया,' अर्थात् अभ्यास में रत रहने वाले गायक को 'क्रियापर' कहते हैं। नित्य अभ्यास गायक के लिए आवश्यक है। साधना से कण्ठ-गुणों के विकास के साथ ही कलात्मक सूक्ष्मता भी गायन में आती है, तथा गायक सिद्धकण्ठ बनता है।

१७. व्यक्तलय—जिस गायक की लयकारी व्यक्त अथवा स्पष्ट होती है, उसे व्यक्तलय कहा गया है। सङ्गीत में लय का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

३८६ : श्रीमल्लक्यसङ्गीतम्

लय समस्त साङ्गीतिक क्रियाओं का आधार तो है ही; चमत्कारपूर्ण लय-प्रयोग सङ्गीत में रञ्जकता-वृद्धि का भी साधन है।

१८. सुघट—सुन्दर, सुमधुर कण्ठ स्वर वाला गायक, जिसके गायन में स्वर, वर्ण (अर्थात्, पद या शब्द) और ताल—ये तीनों ही सुप्रमाणता से घटित प्रतीत होते हैं, 'सुघट' गायक कहा जाता है। सङ्गीतसमय-सार के अनुसार—“स्वरो वर्णश्च तालश्च व्यक्तं घटयति त्रयम्। शोभनघ्वनिसंयुक्तः सुघटं तं प्रचक्षते ॥”

वस्तुतः, कण्ठ-माधुर्य के साथ ही स्वरप्रयोग, भाषाप्रयोग एवं ताल-प्रयोग की सुप्रमाणता से ही गायन 'सुघट' प्रतीत होता है। 'सुघटत्व' गायन के सौन्दर्य का प्रतीक है, न कि गायक के; जैसा स्व० भातखण्डे ने इसका अर्थ किया है।^१

१९. धारणान्वित—रागों की अत्यन्त स्पष्ट, व्यापक एवं गहनतायुक्त धारणा से युक्त गायक इस विशेषण से शोभित होता है। विशुद्ध एवं आत्मविश्वासपूर्ण गायन के लिए राग-स्वरूप की समस्त वारीकियों, विविधता और अन्य रागों से उसके साम्य-भेद आदि की पूर्ण धारणा अपेक्षित होती है।

२०. स्फूर्जन्निर्ज्वन—'निर्ज्वन' एक विशेष स्थाय-प्रकार है, जिसका गायन सुनियन्त्रित श्वासोच्छ्वास के साथ अत्यन्त वेगपूर्ण, गर्जनयुक्त स्वरों द्वारा किया जाता है। इस स्थाय-प्रकार के गायन को दक्षतापूर्वक करने वाले गायक के लिए यह विशेषण प्रयुक्त होता है।

२१. हारिरहःकृद्भजनोद्धरः—अत्यन्त ही मनोहारि तथा तन्मयता से युक्त गायन में रत गायक के लिए यह विशेषण है। गायन के माध्यम से स्वयं भी तथा अपने श्रोताओं को भी भाव-समाधि की स्थिति में ले जा कर 'रस' की अखण्डानन्दमयी अनुभूति प्राप्त करने-कराने वाला गायक ही श्रेष्ठ कलाकार कहा जा सकता है। (यहाँ 'रहस्' एकाग्रता या एकतानता अथवा तन्मयता के अर्थों में प्रयुक्त है)।

२२. सुसम्प्रदाय—अच्छे एवं सुविख्यात गुरुओं से शिक्षाप्राप्त गायक को सुसम्प्रदाय गायक कहते हैं। सङ्गीत में सम्प्रदाय और घराना का

१. द्रष्टव्य—क्रमिक पुस्तक मालिका-भाग ३, पृ० १९, जहाँ सुघट का अर्थ—“सुघट (सुन्दर) हो” किया गया है।

अत्यधिक सम्मानपूर्ण स्थान है। गुरुमुखज्ञेय कला होने के कारण सङ्गीत कला का शिक्षार्थी बहुतांश में गुरु की कला का अनुकारक होता है। अच्छी परम्परा में शिक्षित कलाकार इसी लिए प्रतिष्ठित होता है। लोग गायक से उसकी विशिष्ट परम्परा का गायन सुनने की अपेक्षा रखते हैं। सङ्गीत में 'नायकी' अङ्ग में गुरु-परम्परा से प्राप्त कला का प्रदर्शन किया जाता है, तथा उसी में कलाकार की 'तालीम' दिखलायी देती है।

मध्यम तथा अधम गायकों के लक्षण

गुणः कतिपर्यह्येनो निर्दोषो मध्यमो मतः ।

महामाहेश्वरेणोक्तः सदोषो गायनोऽधमः ॥६॥^१

जिस गायक में उपर्युक्त गुणों में कुछ गुण कम हों, किन्तु दोष न हों, उसे मध्यम गायक माना जाता है। दोषों से युक्त गायक को श्रीमहामाहेश्वर ने अधम गायक कहा है।

टीका—मध्यम श्रेणी का गायन अथवा गायक यद्यपि पूर्वोक्त सभी गुणों से युक्त नहीं होता, तथापि सर्वथा दोषरहित होता है। आचार्य शाङ्गदेव के पूर्ववर्ती शास्त्रकार महामाहेश्वर के अनुसार दोषयुक्त गायक को अधम कोटि का माना जाता है।

गायकों के पञ्च-भेद

शिक्षाकारोऽनुकारश्च रसिको रञ्जकस्तथा ।

भावुकश्चेति गीतज्ञाः पञ्चधा गायनं जगुः ॥७॥

अन्यूनशिक्षणे दक्षः शिक्षाकारो मतः तताम् ।

अनुकार इति प्रोक्तः परमङ्ग्यानुकारकः ॥८॥

रसाधिष्ठस्तु रसिको रञ्जकः श्रोतुरञ्जकः ।

गीतस्यातिशयाधानाद् भावुकः परिकीर्तितः ॥९॥^२

गीतज्ञों ने पाँच प्रकार के गायन (गायक) बताये हैं—शिक्षाकार, अनुकार, रसिक, रञ्जक तथा भावुक। वीमानों के मतानुसार शिक्षाकार वह है, जो सङ्गीत के अन्यून अथवा सम्पूर्ण, सर्वाङ्ग शिक्षण में दक्ष हो। दूसरे की

१. सङ्गीतरत्नाकर, ३।१८-१९।

२. वही, श्लोक, १९-२२।

३८८ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

‘मङ्गी’-अर्थात्, शैली-का अनुकरण करने वाले को अनुकार कहते हैं। जो रस से ओत-प्रोत हो उसे रसिक कहते हैं, तथा श्रोतृसमाज जिसे रञ्जक मानता है, उसे रञ्जक कहते हैं। गायन में गीत को अत्यधिक महत्त्व देने के कारण गायक को भावुक कहते हैं।

टीका—सङ्गीतसमयसार में गायक-भेदों का जो निरूपण है, उसके अनुसार शिक्षाकार वह गायक है जो शुद्ध और छायालग रागों में विषम तथा शुद्ध अर्थात् जटिल या क्लिष्ट तथा सरल गीतों की शीघ्र तथा सम्यक् शिक्षा देने में कुशल हो। जो सुमधुर, सुश्राव्य गीत से रोमाञ्चित हो उठता है, तथा आनन्दाश्रु जिसके नेत्रों में भर आते हैं, वह रसिक है। नीरस को सरस तथा भावरहित गीत को भी भावसिक्त बना कर, तथा श्रोताओं की चित्तवृत्ति या अभिरुचि को समझ कर, गाने वाले को भावुक कहते हैं। श्रोताओं के आशय या अभिरुचि या ‘परमाइश’ को जान कर चित्ताकर्षक गायन से जो अपने श्रोताओं को मुग्ध कर सकता है, उसे रञ्जक कहते हैं। गीत में शारीर अर्थात् कण्ठ-गुण तथा बालसि अर्थात् राग-विस्तार में अन्य गायक का अनुकरण करने वाले, उत्तम गुणों से युक्त गायक को पररीतिज्ञ अथवा अनुकार कहते हैं।^१

एकल, यमल और वृन्द गायन

एकलो यमलो वृन्दगायनश्चेति ते त्रिधा ।

एक एव तु यो गायेदसावेकलगायनः ॥१०॥

सद्वितीयो यमलकः सवृन्दो वृन्दगायनः ।^२

गायन एकल, यमल तथा वृन्द—तीन प्रकार के होते हैं। जब एक गायक गाता है, तब उसे ‘एकल गायन’ कहते हैं। दो गायकों का एक साथ गायन ‘यमल गायन’ (युगल गायन) कहलाता है। गायक-समूह द्वारा किया गया गायन वृन्दगायन कहा जाता है।

१. द्रुतं यः शिक्षते गीतं विषमं प्राञ्जलं तथा । शुद्धे छायालगे सम्यक् शिक्षा-कारः स कथ्यते ॥ सुश्रवं गीतमाकर्ण्य भवेद् यः पुलकान्वितः । आनन्दाश्रु-कणाकीर्णः सोऽयं रसिकगायकः ॥ निरसं सरसं कुर्वन् निभावं भावसं-युतम् । श्रोतुश्चित्तं परिज्ञाय यो गायेत् स तु भावकः ॥ चेतोहरेण गीतेन विदित्वा श्रोतुराशयम् । रङ्गं गीते विधत्ते यो रञ्जकः सोऽभिधीयते ॥

(सङ्गीतसमयसार, अष्टम अधिकरण, श्लोक ६१-६३)

२. सङ्गीतरत्नाकर, ३-२२-२३ ।

शर्गाध्याय : ३८९

टीका—पाश्चात्य संज्ञीत में इन्हें क्रमशः सोलो सिंगिंग (Solo singing), ड्युएट सिंगिंग (Duet singing) तथा कोरस (chorus) कहते हैं ।

गायिका लक्षण

रूपयौवनशालिन्यो गायन्त्यो गानुबिम्बता ॥

माधुर्यधुर्यध्वनयश्चतुराश्चतुरप्रियाः ॥११॥^१

संज्ञीतज्ञों के मतानुसार रूप-यौवनसम्पन्ना, अत्यन्त मधुर कण्ठवाली दक्ष गायिकाएँ गुणीजनों की प्रिय होती हैं ।

दोषयुक्त गायकों के लक्षण

सन्दष्टोद्घुष्ट^२ सूतकारिश्रोतशङ्कितकम्पिताः ।

कराली विकलः काकी वितालकरभोद्भटाः^३ ॥१२॥

शोम्बस्तुम्बकी वक्त्री प्रसारो विनिमीलकः ।

विरसापस्वराव्यक्तस्थानज्जटाव्यवस्थिताः ॥१३॥

मिश्रकोज्ज्वधानश्च तथान्यः सानुनासिकः ।

पञ्चविंशतिरित्येते गायनाः निन्दिता मताः ॥१४॥^४

टीका—यहाँ गायकों के २५ दोष बता गये हैं :—

१. सन्दष्ट—दाँत पीस-पीस कर गाने वाले को सन्दष्ट कहते हैं । यह एक मुद्रा-दोष है ।
२. उद्घुष्ट—व्यर्थ ऊँची आवाज में चिल्लाते हुए रुक्ष, कठोर गायन करने वाले को उद्घुष्ट कहते हैं । ऐसा गायन रञ्जक कदापि नहीं हो सकता । यह कण्ठ-दोष भी है और मुद्रा-दोष भी ।
३. सूतकारी—सूँ-सूँ की ध्वनि नाक से करते हुए गायन करने वाले को सूतकारी कहा गया है । गायन में श्वसन-क्रिया का पर्याप्त नियन्त्रण न होने पर ऐसी ध्वनि सुनायी देती है । इससे गायन खण्डित-सा प्रतीत

१. संज्ञीत रत्नाकर श्लोक २४ ।

२. ३. श्रीमल्लक्ष्यसंज्ञीतम् में यहाँ क्रमशः 'सन्दष्टोद्घुष्ट' तथा 'वितालकरभोद्भटाः' दिया है ।

४. संज्ञीतरत्नाकर, ३।२५-२७ ।

३९० : श्रीमल्लक्ष्मणसङ्गीतम्

होता है। विकृत श्वसन-क्रिया कण्ठ-ध्वनि को बिगाड़ देती है, तथा उससे स्वर-यन्त्र के रोगग्रस्त होने की भी सम्भावना रहती है। सूत्कारी गायक प्रायः श्वास-पूर्ति मुँह से श्वास लेकर भी करते हैं, जो 'टॉन्सिल्स' पर बुरा प्रभाव करता है।

४. भीत—भयभीत हो कर गाने वाले को भीत कहते हैं। आत्म-विश्वास की न्यूनता अथवा अभाव से, या प्रदर्शन-भीरता (Stage fright) के कारण यह दोष होता है। निरन्तर अभ्यास तथा संकोच-त्याग से यह दोष दूर किया जा सकता है।
५. शंकित—व्यर्थ ही शङ्का करके गाने वाले को शङ्कित कहते हैं। यह दोष भी अपर्याप्त आत्मविश्वास, अपर्याप्त ज्ञान और अभ्यास, तथा सङ्कोच के कारण होता है। जो स्वयं अपने गायन के प्रति शङ्कित हो, वह श्रोताओं को कैसे प्रभावित कर सकता है ?
६. कम्पित—कंपती हुई आवाज़ में गाने वाला कम्पित कहलाता है। यह दोष शङ्का या भय के कारण भी हो सकता है, और स्वर पर नियन्त्रण न होने से भी। उचित विधि से स्वर-साधना करने पर—विशेषकर मन्द्र स्वरों के अभ्यास से—स्वर-कम्प दूर किया जा सकता है।
७. कराली—मुख को विकराल रूप से फाड़ कर गाने वाले गायक को कराली कहा जाता है। यह भयंकर मुद्गा-दोष है। गायन में "आ-" कार का आकार अनावश्यक रूप से बढ़ा करना व्यर्थ ही है !
८. विकल—जो गायक अपेक्षित से कम या अधिक श्रुतियों (ध्वनियों) का प्रयोग करता है, उसे विकल कहते हैं। स्वरों का ठीक स्थान पर न लगना, अनावश्यक स्वरों का लग जाना, वाञ्छित स्वर का न लग पाना—ये विकलत्व के लक्षण हैं। विकलत्व को साधारण भाषा में 'विसुरापन' कहते हैं। यह दोष स्वर-साधन से तथा गुणीजनों के समक्ष गा कर दूर किया जा सकता है।
९. काकी—काक-सदृश क्रूर, कर्कश स्वर में गायन करने वाले को 'काकी' कहा गया है। यह 'हृद्यशब्द' नामक पूर्वोल्लिखित गुण के ठीक विरुद्ध सङ्गीत के माधुर्य को न समझ कर केवल गलाबाजी करने वाले गायक श्रोताओं को चकित भले कर दें, सुगंध नहीं कर सकते। गलाबाज गायकों में ही प्रायः यह दोष दिखता है।

१०. **बिताल**—ताल-च्युत गायक को बिताल कहा गया है। लय-ताल का पर्याप्त अभ्यास न होने के कारण गायक ताल-भ्रष्ट हो जाता है। यह दोष निरन्तर तबला-मृदंग संगत के साथ गाने से दूर हो जाता है।
११. **करभ**—ऊँट के समान गर्दन को ऊँची करके गाने वाले को करभ कहते हैं। करभ-सदृश मुद्रा दोषयुक्त मानी जाती है।
१२. **उद्भट**—भेड़ के समान मुँह और गर्दन को ऊँचा करके गाने वाला उद्भट कहलाता है। यह भी मुद्रादोष है।
१३. **झोम्बक**—मुख और गर्दन की शिराओं को फुला कर गाने वाला झोम्बक कहलाता है। यह मुद्रादोष और स्वरदोष दोनों है। गायन में अनावश्यक परिश्रमपूर्ण स्वरोच्चार से मुँह और गले की नसें तन जाती हैं। ऐसा गायन कण्ठस्वर-यन्त्र को खराब कर सकता है।
१४. **तुम्बकी**—तुम्बी के समान मुख को फुला कर गाने वाले को तुम्बकी कहते हैं। यह मुख और स्वर दोनों की विकृति का द्योतक है।
१५. **वक्की**—मुँह और गर्दन को टेढ़ा करके गाने वाले को 'वक्की' कहा जाता है। वक्रतायुक्त मुद्रा में स्वरोत्पत्ति भी विकारयुक्त हो जाती है।
१६. **प्रसारी**—गाते हुए शरीर और हाथ-पैर फैलाने और पटकने वाले को प्रसारी कहते हैं।
१७. **निमीलक**—नेत्र बन्द कर गाने वाला गायक निमीलक कहलाता है। वैसे, एकाग्रता की दृष्टि से अनेक गायक प्रायः नेत्रों को बन्द कर स्वर लगाते हैं, और हमारे विचार से इसे दोष नहीं मानना चाहिए। परन्तु प्रदर्शन के समय आँखें बन्द किये हुए ही गाना अच्छा नहीं, क्योंकि इससे गायक श्रोताओं की प्रतिक्रियाओं को नहीं देख पाता, और श्रोताओं को भी यह अच्छा नहीं लगता। नेत्र मूंद कर ध्यानस्थ हो कर अभ्यास करना ठीक है, किन्तु कला-प्रदर्शन मञ्च और साधना-कक्ष का अन्तर भी कलाकार को समझना चाहिए।
१८. **विरस**—नीरस या रञ्जकतारहित गायन करने वाले गायक को 'विरस' कहा जाता है।
१९. **अपस्वर**—वर्ज्य स्वरों का प्रयोग जिस गायक के गायन में होता हो उसे अपस्वर कहते हैं। अपस्वरता दो कारणों से हो सकती है। एक तो, राग के उचित ज्ञान के अभाव से; और दूसरे, अभ्यास की कमी

३९२ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गातम्

से । वर्ज्य स्वरों का विवादी के रूप में प्रयोग भी किया जाता है, परन्तु उसके लिए अत्यन्त कौशल एवं राग-स्वरूप का सूक्ष्म ज्ञान चाहिए । विवादी का अकुशल प्रयोग अपस्वरत्व दोष ही कहा जायगा ।

२०. अव्यक्त—स्पष्ट शब्दोच्चार न करने वाले को अव्यक्त कहते हैं ।
२१. स्थानभ्रष्ट—मन्द्र, मध्य तथा तार इन तीनों स्थानों के स्वरों को अपने कण्ठ से ठीक से लगा सकने में असमर्थ गायक को स्थानभ्रष्ट कहते हैं । अपर्याप्त अभ्यास के कारण तीनों सप्तकों में आवाज सरलतापूर्वक नहीं लगती ।^१
२२. अव्यवस्थित—स्वर स्थानों को प्राप्त करने में (अर्थात्, अपनी आवाज से निकालने में) जो अव्यवस्थित या कण्ठयुक्त दिखायी दे, उस गायक को अव्यवस्थित कहते हैं ।^२
२३. मिश्रक—शुद्ध और छायालग और अन्य रागों को मिश्रित करके गाने वाले को मिश्रक कहते हैं । राग के स्वरूप-ज्ञान के अभाव और नियमों के सूक्ष्म में मिश्रकत्व दोष आ जाता है ।
२४. अनवधान—एकाग्रता या सावधानी से न गाने वाला गायक अनवधान कहा जाता है । यह 'सावधान' गुण का विरुद्धार्थी अवगुण है ।
२५. सानुनासिक—नाक की आवाज से गाने वाले को सानुनासिक कहते हैं ।



१. 'स्थानभ्रष्ट' का अर्थ पण्डित भातखण्डे ने हि० सं० प० क्र० पु० मा०; भाग, ३; (पृष्ठ २१) में "जिसकी आवाज योग्य स्थानों तक न पहुँच सकती हो" इस प्रकार किया है । यहाँ 'स्थान' का अर्थ 'सप्तक' है, न कि स्वरों के पिच (Pitch) । हमने यह व्याख्या सं० २० (३-३६) के अनुसार की है, जहाँ कहा गया है—

“स्थानभ्रष्टः सः यः प्राप्तुमशक्यः स्थानत्रयम्” ।

२. पण्डित भातखण्डे ने इसका अर्थ "अव्यवस्थित तरह से गाने वाला" किया है, जो न तो सं० २० से ही, न रत्नाकर टीकाओं से ही, समर्थित है । हमारी व्याख्या सं० २० ३-३६ के अनुसार है ।

शारीर-लक्षण

सुशारीर के लक्षण

रागामिव्यक्तशक्तत्वमनभ्यासेऽपि यद्ध्वनेः ।

तच्छारीरमितिप्रोक्तं शरीरेण सहोद्भवात् ॥१॥

जिस कण्ठ-ध्वनि में, अभ्यास के बिना भी, रागामिव्यक्ति कर सकने की क्षमता हो, उसे 'शारीर' कहते; क्योंकि उसका उद्भव शरीर के साथ ही होता है।

टीका—रागस्वरूप की सुन्दर अभिव्यञ्जना अभ्यास के बिना भी कण्ठ-स्वर के नैसर्गिक गुण से कर सकने का सामर्थ्य 'शारीर' कहा जाता है। उपरि-लिखित पंक्तियों में "उसका उद्भव शरीर के साथ ही होता है" इस अंश में वस्तुतः 'शारीर' शब्द का अन्वय बताया है। यह अंश 'शारीर' की नैसर्गिक उत्पत्ति को ध्वनित करता है। कण्ठ ध्वनि तथा 'शारीर' में, सङ्गीतरत्नाकर की कल्लिनाथ-टीका के अनुसार, धर्म-वर्णिभाव होता है। तात्पर्य यह कि शब्द सामान्य कण्ठध्वनि है, और 'शारीर' कण्ठध्वनि का गुण।^१

तारानुध्वनिमाधुर्यंरक्तिगाम्भीर्यंमार्दवंः ।

घनतास्निग्धताकान्तिप्राचुर्यादिगुणैर्युतम् ॥२॥

तत्सुशारीरमित्युक्तं लक्ष्यलक्षणकोविदैः ।

विद्वानों के मतानुसार सुशारीर इनसे युक्त होता है—तार, अनुध्वनि, माधुर्य, रक्ति, गाम्भीर्य, मार्दवं, घनता, स्निग्धता, कान्ति, प्राचुर्य आदि।

टीका^२—सुशारीरता किन गुणों के कारण होती है, यह यहाँ बताया गया है। तार का अर्थ तार व्याप्ति याने तार स्वरों में गा सकने की योग्यता है। अनुध्वनि से अनुरणन या गूँज से युक्त कण्ठस्वर का बोध होता है। माधुर्य का अर्थ रमणीयता या मधुरता है। रञ्जकत्व-योग्यता कण्ठ का रक्ति गुण कहा जाता है। मार्दवं या मार्दवत्व कण्ठ-स्वर की सुकुमारता या कोमलता को कहते हैं। घनता का तात्पर्य भरावदार, ठोस आवाज है; स्निग्धता रुक्षता का विरुद्धार्थी है। कान्ति ओज या प्रखरता के अर्थ में एक कण्ठ-गुण है। 'प्राचुर्य'

१. सङ्गीतरत्नाकर-३, ८३ पर कल्लिनाथ टीका के आधार पर।

२. सङ्गीतरत्नाकर-३, ८४-८५ पर ,, "

३९४ : श्रोमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

यहाँ सम्भवतः कण्ठ स्वर की प्रचुर गायन क्षमता और विस्तृत सीमा (Range) के अर्थ में प्रयुक्त है ।^१

रागस्वरूप की सूक्ष्मतम अभिव्यक्ति बिना अभ्यास के भी, नैसर्गिक रूप से ही कर सकना 'शारीर' का प्रमुख गुण है, किन्तु रागाभिव्यक्ति का यह गुण जिन अन्य गुणों के कारण कण्ठ में होता है उन पर यहाँ प्रकाश डाला गया है। तारत्व गुण के कारण राग के तार स्वरों का चलन व्यक्त करना सम्भव होता है। यदि यह गुण निसर्गतः न हो, तो सतत अभ्यास के बाद ही तार स्वरों में गायन सम्भव हो पाता है। अनुरणन या गूँज के कारण राग के स्वर एक-दूसरे से अच्छी तरह सम्बद्ध संश्लिष्ट प्रतीत होते हैं, अन्यथा एक से दूसरे स्वर के बीच बद्धता (Continuity) लाने के लिए काफी परिश्रम करना पड़ता है। माधुर्य के कारण रागस्वरूप अत्यन्त मधुर प्रतीत होता है। माधुर्य के अभाव में रागस्वरूप की अभिव्यक्ति शास्त्रानुसार शुद्ध भले ही हो जाय, 'रागत्व' से वंचित रहेगी। माधुर्य निसर्गजन्य होता है, और अभ्याससिद्ध भी। शारीर के सन्दर्भ में माधुर्य नैसर्गिक ही मानना चाहिए। 'रक्ति' को हम कण्ठ-स्वर द्वारा प्रस्तुत राग-स्वरूप की श्रोताओं के लिए अपील (appeal) कह सकते हैं। रिव्रतत्व से तात्पर्य आकर्षकता भी लिया जा सकता है। गम्भीर ध्वनि का प्रभाव भी गम्भीर होता है। कोमल कण्ठ स्वर द्वारा प्रस्तुत गायन ही रंजक और मधुर हो सकता है, इसलिए मार्दव या मृदुता भी सुशारीर के लिए वाञ्छित है। कर्कश आवाज में किया गया राग गायन प्रभावित नहीं कर सकता। सघन या भरावदार आवाज अत्यन्त प्रभावोत्पादक होती है। श्रोता गहराईयुक्त स्वरों से आकृष्ट होते हैं। गम्भीर प्रकृति के रागों के स्वरूपों की अभिव्यक्ति कण्ठ के गाम्भीर्य और घनता के बिना अच्छी तरह नहीं हो सकती। स्निग्ध आवाज का गायन आकर्षक होता है। कण्ठ-स्वर कान्तिपूर्ण हो, तभी श्रोताओं पर अभीष्ट प्रभाव पड़ता है। मन्द्र से लेकर तार स्वरों तक सरलतापूर्वक गायन, विभिन्न प्रकार के आलंकारिक प्रयोगों (यथा :—खटके, मुरकी, मीड़, कण, गमक) का प्रस्तुतीकरण, द्रुत तानों का गायन, काफी लम्बी अवधि तक बिना थके हुए गा सकना इत्यादि कण्ठ के प्राचुर्य गुण के द्वारा सम्भव होता है।

अनुध्वानविहीनत्वं रूक्षत्वं त्यक्तरक्तिता ॥३॥

निःसारता विस्वरता काकित्वं स्थानविच्युतिः ।

काश्यं कार्कश्यमित्याद्यैः कुशारभैः कुद्वेषणैः ॥४॥

१. 'प्राचुर्य' की व्याख्या न तो कल्लिनाथ टीका में ही उपलब्ध है, और न सुधाकर टीका में।

कुशारीर इन दोषों से युक्त होता है :—अनुध्वानविहीनता, रूक्षत्व, रक्तिहीनता, निःसारता, विस्वरता, काकित्व, स्थानविच्युति, काश्यं, कार्कश्य आदि।

टीका—यहाँ स्वर-दोषों का उल्लेख है, जिनके कारण कुशारीरता आती है :—

१. अनुध्वानविहीनता—अनुध्वनि या अनुरणन या गूँज का अभाव।
२. रूक्षत्व—रूक्षता; या स्निग्धता का अभाव।
३. त्यक्तरक्तिता या रक्तिहीनता—रक्तिगुण का अभाव।
४. निःसारता—रसहीनता।
५. विस्वरता—वेसुरापन।
६. काकित्व—काक सदृशकठोरतायुक्त क्रूर ध्वनि।
७. स्थानविच्युति—मन्द्र, मध्य तथा तार स्थानों में आवाज ठीक तरह न लगना और स्वरों का ठीक स्थानों पर न लगना।
८. काश्यं—दुर्बलता।
९. कार्कश्य—कर्कशता।

—०००—

प्रस्तुतसङ्गीतस्थिति

भारतीय सङ्गीत की वर्तमान दशा

श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम् के इस उपसंहारात्मक अंश में ग्रन्थकार ने भारतीय सङ्गीत की वर्तमान दशा एवं उसमें व्याप्त विकृतियों और दोषों का मार्मिक विश्लेषण किया है, तथा उसके सन्दर्भ में प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना के उद्देश्य को स्पष्ट किया है। अन्तिम तीन श्लोकों में संस्कृत की शास्त्रीय ग्रन्थ-पद्धति के अनुसार ग्रन्थ-समाप्ति की गयी है, एवं ग्रन्थ की रचना-तिथि भी बतायी गयी है।

अस्मत्सङ्गीतं स्वायत्तीकृतमशिक्षितंजनैः।

अतोऽत्र दोषबाहुल्यं स्वभावादुपलभ्यते ॥१॥

हमारा सङ्गीत अशिक्षित जनों के आधिपत्य में है, अतः उसमें स्वभावतः अनेक दोष अथवा विकृतियों के दर्शन होते हैं।

३९६ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

टीका—जैसा पूर्वपृष्ठों में निवेदित किया जा चुका है, अपने इतिहास के मध्ययुग में भारतीय सङ्गीत कला अपने उदात्त आध्यात्मिक लक्ष्य से च्युत हो कर राज-दरबारों में विलास-क्रीड़ा का अङ्ग बन चली। ऋचाओं के पावन-गान से प्रस्फुटित यह सरिता दरबारों और कोठों में कैद हो कर गन्दी भी होने लगी। दुर्भाग्य से अभिजात एवं सुशिक्षित जन भी इसे 'अस्पृश्य' मानने लगे। यही कारण था कि सामन्तयुगीन सङ्गीत कला पर अशिक्षित जनों का, विशेषतः मुसलमान कलाकारों का वर्चस्व स्थापित हो गया। शिक्षा के अभाव में ये सङ्गीतजीवी जन संस्कृत शास्त्रग्रन्थों में प्रतिपादित कला-सिद्धान्तों से तो अपरिचित थे ही, भारतीय सङ्गीत की मूल परम्परा के अनुकूल औचित्य-बोध से भी वे वञ्चित ही रहे। ऐसे कलाकारों की शिष्य-परम्पराएँ स्वामाविक रूप से गुरुमुखाश्रयी रहीं, तथा अपने-अपने गुरुओं के दोषों के प्रति भी उनमें अन्ध श्रद्धा थी। इसी लिए वैयक्तिक दूषण भूषण बनते चले! शिक्षा के अभाव में कलाकार सङ्गीत-कला में ऐसे अशास्त्रीय, दुष्ट तत्वों का समावेश करते रहे। परिणामतः हमारे अपने युग तक भारतीय सङ्गीत में अगणित विकृत-प्रथाओं का प्रचलन हो गया, एवं सङ्गीत के शास्त्रपक्ष और क्रियात्मक स्वरूप के बीच तारतम्य का नितान्त अभाव हो गया।

सङ्गीतस्य सुशिक्षितशिक्षकाभावतोऽधुना ।

तारतम्यपरिज्ञानसाधनं नैव विद्यते ॥२॥

सम्यक्तयाज्यथा वेतदत एवाभिमन्यते ।

ऐसा माना जाता है कि सुशिक्षित सङ्गीत-शिक्षकों के अभाव के कारण सङ्गीत कला के शास्त्र और व्यवहार के तारतम्य को ठीक-ठीक, अथवा किसी भी तरह से, समझ पाने का कोई भी साधन आज उपलब्ध नहीं है।

टीका—सङ्गीत कला में बलात् प्रविष्ट विकृत प्रथाओं का अन्त केवल तर्कमूलक विश्लेषणात्मक अध्ययन-अध्यापन से सम्भव है। परन्तु, दुर्भाग्य-वशात् स्वयं 'उस्ताद' भी प्रायः ऐसे तर्कों से दूर ही रहे, तब उनकी शिष्य-परम्पराओं से इसकी अपेक्षा कैसे की जा सकती है? परिणाम यह हुआ कि शास्त्र और व्यवहार के बीच, सङ्गीत के शुद्ध और अशुद्ध स्वरूपों के बीच, निरन्तर बढ़ती हुई खाई को पाटने वाले कलाकार अलम्य हो गये। 'सुशिक्षित' सङ्गीतज्ञ वही कहा जा सकता है, जिसने क्रियात्मक सङ्गीत के साथ ही सङ्गीत के शास्त्र-ग्रन्थों में निहित सैद्धान्तिक ज्ञान को भी सम्यक् रूप से शिक्षा में प्राप्त किया हो। शास्त्र-पक्ष से सर्वथा अनभिज्ञ, केवल व्यावहारिक सङ्गीत

रागाध्याय : ३९७

की शिक्षा प्राप्त किए हुए लोगों को 'अर्धशिक्षित' ही कहा जायगा ! राग के प्रत्यक्षतः व्यवहृत स्वरूप एवं उसके शास्त्रीय सिद्धान्तों के मध्य सामञ्जस्य स्थापित कर पाना सुशिक्षित सङ्गीतवेत्ता के ही लिए सम्भव है। ऐसे सुशिक्षित जनों के अभाव में इस तारतम्य को पूर्णतः, अथवा यत्किञ्चित् भी, समझ सकना सम्भव नहीं हो पाता ।

सङ्गीतं मोहिनीरूपमित्याहुः सत्यमेव तत् ॥३॥.

योग्यरसभावभाषारागप्रभृतिसाधनैः ।

गायकः श्रोतृमनसि नियतं जनयेत् फलम् ॥४॥

यह उक्ति सत्य ही है कि सङ्गीत मोहिनीस्वरूप है। उचित रस, भाव, भाषा, राग इत्यादि साधनों के द्वारा गायक श्रोताओं के मन पर अभिलषित प्रभाव उत्पन्न कर सकता है।

टीका—भगवान् विष्णु के भुवनमोहिनी स्वरूप की भाँति ही सङ्गीत कला भी विलक्षण मोहिनी शक्तिमयी कला है। वह प्राणिमात्र को मुग्ध करती है, इसमें सन्देह नहीं। जिस प्रकार भगवान् विष्णु ने मोहिनी स्वरूप धारण कर देव-दानव दोनों को वशीभूत कर अमृत-कलश की सम्प्राप्ति का अपना अभीष्ट सिद्ध किया था, उसी प्रकार सङ्गीतज्ञ भी सङ्गीत का भुवनमोहन स्वरूप निर्मित कर रसामृत की सम्प्राप्ति कर सकता है, तथा अपने रस-पिपासु श्रोताओं को उस अमृतोपम सङ्गीत-रस का पान करा सकता है। यही तो कलाकार का लक्ष्य भी होता है ! कलाकार जिस प्रभाव को निर्मित करना चाहता है, उसके अनुकूल रस और भावों तथा भाषा से युक्त गीत तथा तदनुसार उचित राग का चुनाव यदि वह करे तो कोई कारण नहीं कि श्रोताओं के मन पर वांछित परिणाम उत्पन्न न हो।

अस्मदीयेष्वाधुनिकगायकेषु समन्ततः ।

यथोक्तनियमान् ज्ञात्वा गायन्तो विरला जनाः ॥५॥

किन्तु, हमारे समस्त वर्तमान गायकों में ऐसे विरले ही लोग हैं जो इन नियमों को पूर्णतः जान कर गायन करते हैं।

टीका—गायन का अभिवांछित परिणाम तभी उत्पन्न हो सकता है जब गायक सङ्गीत के सुस्थापित शास्त्र-रहस्यों से भी परिचित हो, तथा स्वयं बुद्धिमान् भी हो। अशिक्षित गायक इसी लिए अपने श्रोताओं को प्रभावित नहीं कर पाते। इतना ही नहीं, इसके विपरीत वे श्रोताओं में गायन के प्रति रुचि जाग्रत करने के स्थान पर अरुचि ही उत्पन्न करते हैं।

३९८ . श्रीमल्लक्ष्म्यसङ्गीतम्

भाषाऽव्यक्ता हावभावाः प्रतीयन्ते विसङ्गताः ।

व्यस्ताश्चेष्टास्तथाऽऽक्रोशाः केवलं कर्कशा मताः ॥६॥

एतादृग्गायनान्न स्यात्परिणामो ह्यभीप्सितः ।

ततो हास्यरसस्यैव केवलं स्यात्समुद्भवः ॥७॥

हमारे अधिकांश गायकों के गायन में, भाषा अथवा शब्दों का उच्चारण अस्पष्ट या अव्यक्त होता है; उनके हाव-भावों तथा गीत के भावों में विसङ्गति दिखायी देती है; उनकी समस्त चेष्टाएँ अत्यन्त परिश्रमजन्य प्रतीत होती हैं और उनके गायन आक्रोशपूर्ण, कर्कश, तीखे ही लगते हैं ! ऐसे गायन से केवल हास्य-रस की सृष्टि होती है, वांछित परिणाम की नहीं ।

टीका—अशिक्षित गायकों में साङ्गीतिक सुवचिसम्पन्नता का अभाव भी प्रायः देखा जाता है । परिणामस्वरूप, सङ्गीत का अभीप्सित प्रभाव उत्पन्न करने के लिए जिन बातों की आवश्यकता होती है उनके प्रायः ठीक विपरीत उन गायकों का सङ्गीत-प्रदर्शन प्रतीत होता है । गायन में गीत के शब्दों का उच्चारण वे कुछ ऐसा विकृत कर देते हैं, तथा शब्दों का ऐसा अन्वय बना कर गाते हैं कि शब्द की तो हत्या ही हो जाती है ! वे सङ्गीत के काव्य-पक्ष के प्रति पूर्णतः उदासीन प्रतीत होते हैं । काव्य के सहयोग से स्वरगत रस-भाव की अभिव्यञ्जना अधिक सुगम और सुग्राह्य हो सकती है; किन्तु आज तो गायन में प्रायः शब्दों का प्रयोग केवल गायन की सुविधा की दृष्टि से होता है, रस-भावामिव्यक्ति के लिए नहीं ।

इसी प्रकार, गीत के भाव के साङ्गीतिक सम्प्रेषण हेतु गायक के हाव-भाव, मुद्राएँ आदि भी सहायक होते हैं । प्रायः गायकों को यह ज्ञात भी नहीं है कि गीत के द्वारा भावों की अभिव्यक्ति एवं रस-निष्पत्ति के लिए किस प्रकार के हाव-भाव बताए जाने चाहिए, कैसी मुद्राएँ प्रदर्शित करनी चाहिए ! वे ऐसे गाते हैं जैसे अखाड़े में व्यायाम कर रहे हों ! तान-वाजी में हाथों को इस प्रकार उठाते-पटकते हैं, मानों मल्ल-युद्ध कर रहे हों ! गाते समय उनके चेहरे पर आनन्द के भाव नहीं झलकते—परिश्रम और कष्ट की वेदना का-सा उनका श्रीमुख दिखायी देता है ! ऐसे 'उस्ताद' सङ्गीत-कला-मन्त्र के 'उस्ताद' नहीं, बल्कि अखाड़े के 'उस्ताद' ही अधिक लगते हैं ! कला से कहीं अधिक कौशल के प्रदर्शन में वे प्रवृत्त प्रतीत होते हैं ! उनकी कण्ठ-ध्वनि में कला-योग्य कोमलता और कमनीयता की जगह कटु-कर्कशता का अनुभव श्रोता को होता है । ऐसी आवाज, ऐसे हाव-भाव, ऐसे अङ्ग-सञ्चालन और ऐसे शब्दोच्चारण

को देख कर श्रोताओं का प्रायः मनोरञ्जन ही होता है, कलाजन्य गहन आनन्द की प्राप्ति उन्हें नहीं हो पाती ! ऐसे कलाकार केवल हास्य-रस की सिद्धि ही कर सकते हैं !

अर्थहीना हावभावा वीररसस्य ये सदा ।

दृश्यन्ते गायने तेभ्यः कथं स्यादुत्तमं फलम् ॥८॥

ऐसे गायकों के गायन में हाव-भाव गेय कविता के अर्थ से रहित वीर रस-सदृश अर्थात् रोपयुक्त हाव-भाव ही प्रतीत होते हैं । तब सङ्गीत का उत्तम परिणाम कैसे हो सकता है ?

अनुसृत्यैव शब्दार्थं ध्वनेः सङ्क्रमणं भवेत् ।

गायकास्तादृशा दृष्टाः स्वपदार्थं न ये विदुः ॥९॥

कथमेते विजानीयू रसभावरहस्यकम् ।

तथैव ते कथं विद्युः सङ्गीतस्वरसङ्क्रमम् ॥१०॥

गायन में गीत के शब्दों के अर्थ का अनुसरण करते हुए ही ध्वनियों अथवा स्वरों का संक्रमण अर्थात् संयोजन होता है । किन्तु, आज ऐसे गायक दिखायी देते हैं जो उस गीत का अर्थ तक नहीं जानते जिसे वे गाते हैं ! ऐसे लोग रसभाव के गूढ़ रहस्य को कैसे जान सकते हैं तथा वे स्वरों के अर्थानुकूल संक्रमण को भी कैसे समझ सकते हैं ?

टीका—गायन में गीत के शब्दों की सार्थक सत्ता होती है । शब्द के अर्थ-भाव को समझ कर ही उसमें स्वरों की योजना की जानी चाहिए तथा समस्त स्वर-विस्तार गीतार्थ का अनुगामी होना चाहिए । ऐसा होने पर ही गायन रस-व्यञ्जक बन पाता है । केवल स्वरों से पूर्ण एवं स्पष्ट रस-परिपाक कठिन है, इसी लिए गायन में शब्द-काव्य को ग्रहण किया जाता है । 'राग' के भाव और प्रकृति के अनुकूल गीत को ले कर राग के स्वरों का संयोजन करने पर ही राग का 'भावमय' स्वरूप साकार हो पाता है । एक के बाद दूसरा स्वर कौन सा और किस प्रकार लिया जाय, यह इस बात पर निर्भर है कि वहाँ कैसा भाव या अर्थ व्यक्त किया जाना है । इस प्रकार, गीत के शब्दों को स्वरों के विविध समूहों के द्वारा सूक्ष्मभाव छटाओं के रूप में प्रस्तुत किया जाता है । किन्तु इसकी अपेक्षा उन गायकों से कैसे की जा सकती है जो शिक्षा के अभाव में काव्य का अर्थ ही नहीं समझ पाते ? जब वे साधारण शब्दार्थों से ही अनभिज्ञ हों तो गीत का मर्म और उसमें स्थित रस को समझ

४०० : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

पाना तो उनके लिए असम्भव ही है। इसी लिए उनसे यह आशा रखना व्यर्थ ही है कि उनके गायन में स्वर-प्रयोग अर्थानुकूल और रसानुकूल हो। वे तो बस राग के 'नादमय' स्वरूप मात्र का स्वेच्छया विस्तार कर सकते हैं।

भिक्षतेऽनेकधा देशीसङ्गीतमिति विश्रुतम् ।

ययोः कयोरपि भवेद् ग्रन्थयोर्नैकवाक्यता ॥११॥

अत एवातिकठिनं तादृग्ग्रन्थस्य लेखनम् ।

यः सर्वत्रोपयुज्येत समभावेन केवलम् ॥१२॥

यह सर्वविदित है कि देशी सङ्गीत बहुविध होता है। साथ ही, देशी सङ्गीतविषयक किन्हीं भी दो ग्रन्थों में मूल्य नहीं मिलता। इस लिए ऐसे किसी भी ग्रन्थ का प्रणयन कठिन ही है जो सभी के लिए समानरूप से उपयोगी हो।

टीका—पूर्व पंक्तियों में सङ्गीत की वर्तमान दशा का विश्लेषण करते हुए 'चतुरपण्डित' ने दो बातों पर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया है—अशिक्षित कलाकारों के हाथों में पड़ जाने के कारण सङ्गीत कला का स्वरूप भ्रष्ट हो जाना और सङ्गीत-शास्त्र और सङ्गीत-व्यवहार का तारतम्य न रह जाना एवं वर्तमान गायन में रसोद्रेकक्षमता का अभाव और उसके कारण। प्रस्तुत दो श्लोकों में यहाँ ग्रन्थकार ने वर्तमान सङ्गीत से सम्बन्धित एक तीसरी समस्या का सङ्केत किया है। वह है, किसी सर्वमान्य ग्रन्थ का अभाव।

देशी सङ्गीत लोकरुचि से आवद्ध होने के कारण उसमें वैविध्य अत्यन्त स्वाभाविक है। जनरुचि की विविधता के फलस्वरूप उसमें अनेकों गेय-वाद्य प्रकारों के एवं शैलियों के दर्शन होते हैं। शास्त्रीय सङ्गीत (जो स्वयं देशी सङ्गीत का ही सुबद्ध नियमों से युक्त स्वरूप ही है) में भी अनेक गीत प्रकारों और शैलियों का अस्तित्व है। उसमें यदि मत-वैमत्य दिखायी दें तो यह आश्चर्य की बात नहीं है। परन्तु 'चतुर पण्डित' के युग की स्थिति (जिसका विस्तृत विवेचन पहले किया जा चुका है) तो यह थी कि सङ्गीत-जगत् में प्रचलित मान्यताएँ प्रायः शास्त्राधारविहीन, व्यक्तिगत मान्यताएँ थीं। ग्रन्थ-कार प्रायः अपने-अपने घरानों या सम्प्रदायों में प्रचलित मतों का मण्डन ही अपने ग्रन्थों में करते थे; अपने मतों को शास्त्रीय आधारों पर परीक्षित कर युगीन शास्त्र-निर्माण के प्रति वे प्रायः उदासीन रहे। ऐसी स्थिति में, रागरूपों के विषय में क्या, सङ्गीतविषयक गूढ़ तत्त्वों के विषय में क्या, किसी भी बात में दो ग्रन्थों या दो ग्रन्थकारों में मत-साम्य नहीं दिखायी देता था।

इसी लिए; आधुनिक युग के सङ्गीत के स्वरूप को एवं हमारी गौरवशाली सङ्गीत-परम्परा से इस युग के सङ्गीत के सम्बन्ध को समझना-समझाना बड़ा ही कठिन कार्य था। इस परिस्थिति में कोई ऐसा ग्रन्थ लिखा जा सकना भी अत्यन्त कठिन था जिसे सभी मतों और परम्पराओं के अनुयायी मान्य कर सकें।

ऐसे ग्रन्थ की आवश्यकता के विषय में दो मत नहीं हो सकते, क्योंकि युगीन सङ्गीत का प्रतिपादक ग्रन्थ तो कोई होना ही चाहिए ! परन्तु इस प्रकार के ग्रन्थ के लेखन का दुष्कर कार्य कौन करे—यह भी समस्या उस समय थी। ऐसे कार्य को वही व्यक्ति सम्पादित कर सकता है जो स्वयं उच्च शिक्षाप्राप्त हो, जिसने शास्त्रग्रन्थों का सम्यक् अध्ययन किया हो, जो शास्त्रार्थों को व्यापक सन्दर्भ में घटित कर सकता हो, जिसने प्रचलित और पूर्वकालीन परम्पराओं का सूक्ष्म अध्ययन किया हो, जिसने स्वयं भी सुयोग्य गुरुओं से सङ्गीत का क्रियात्मक ज्ञान प्राप्त किया हो, जो स्वयं किसी भी सम्प्रदाय या मत के प्रति पूर्वाग्रह न रख कर सभी मतों का निष्पक्ष विश्लेषण कर सकता हो, जो विभिन्न मतानुयायियों को एक विचार-मन्त्र पर एकत्र कर पारस्परिक चर्चाओं के माध्यम से विवादमूलक तथ्यों का सर्वग्राह्य समाधान निष्पन्न कराने में रुचि रखता हो और जिसमें इस कार्य को करने की क्षमता भी हो तथा जो सङ्गीत के द्वारा अथवा ग्रन्थ-प्रकाशन के द्वारा अर्थ-प्राप्ति की कामना न करता हो; अपितु विशुद्ध सङ्गीत-सेवा ही जिसका जीवन-लक्ष्य हो ! ये सभी गुण 'चतुर पण्डित' उपाख्य पण्डित विष्णु नारायण भातखण्डे में विद्यमान थे। इसी लिए इस महत् कार्य को वे सम्पन्न कर सके। इसी लिए वे युग-प्रतिनिधि एवं युग-प्रवर्तक शास्त्रकार माने गये ! उनके समस्त साहित्य में वर्तमानयुग के सङ्गीत के सामान्य, सर्वमान्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन है, जिसे उन्होंने अत्यन्त परिश्रमपूर्वक शोध कर शास्त्रीय आधारों से पुष्ट किया है।

आगामी पाँच श्लोकों में श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम् के उद्देश्य को ग्रन्थकार ने स्पष्ट किया है :—

नैव ब्रव्यार्जनोद्देशः शङ्कनीयोऽत्र कश्चन ।

सङ्गीतेष्टाध्वशिक्षार्थं यत्नस्त्वेव मया कृतः ॥१३॥

इस ग्रन्थ के माध्यम से ग्रन्थकार द्वारा अर्थोपार्जन की शङ्का किसी भी प्रकार से नहीं की जानी चाहिए। यह प्रयत्न मैंने सङ्गीत की अभीष्ट, उचित शिक्षा-पद्धति की दृष्टि से किया है।

४०२ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

नूनं पद्धत्यनुगुणशिक्षणाभ्यासतः सताम् ।

आवश्यकतया तादृशग्रन्थापेक्षाऽपि विद्यते ॥१४॥

वास्तव में, सङ्गीत की पारम्परिक शिक्षा का ही अभ्यास होने के कारण विद्वानों को इस प्रकार के ग्रन्थ की अपेक्षा भी आवश्यकतावशात् है ।

कीदृशग्रन्था इष्टा इति प्रतीयेत सतां यदा ।

तदापि स्यान्मदायाससाफल्यमिति मे मतिः ॥१५॥

इस ग्रन्थ के अवलोकन से जब विद्वानों को प्रतीत होने लगे कि हमें किस प्रकार के ग्रन्थों की आवश्यकता है तभी मैं अपने इस प्रयास को सफल मानूँगा ।

टीका—अभिप्राय यह है, कि यह ग्रन्थ विद्वानों की, नव-शिक्षापद्धत्यनुकूल अपेक्षा की पूर्ति में सहायक होगा, ऐसी ग्रन्थकार की मान्यता है ।

नूतनशिष्याऽपेक्षयादौ स्युरिष्टा योग्यशिक्षकाः ।

अध्यापयिष्यन्ति तेऽमुं विषयं सम्यगेव हि ॥१६॥

नये विद्यार्थियों की अपेक्षा पहले ऐसे सुयोग्य शिक्षकों की आवश्यकता है जो भविष्य में इस विषय का सम्यक् अध्यापन कर सकें ।

ग्रन्थस्योद्देश आदौ स्यादस्य शिक्षकनिर्मितिः ।

शिष्यानध्यापयिष्यन्ति तादृशाः शिक्षकास्ततः ॥१७॥

इस ग्रन्थ का उद्देश्य प्रथमतः ऐसे ही सुयोग्य शिक्षकों का निर्माण करना है जो भविष्य में अपने शिष्यों को सङ्गीत की सम्यक् शिक्षा दे सकेंगे ।

टीका—इन पाँच श्लोकों में ग्रन्थकार ने श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम् का प्रयोजन बताया है ।

यह ग्रन्थ, अथवा भातखण्डे का कोई भी ग्रन्थ, अर्थ-लाभ की दृष्टि से नहीं लिखा गया है, यह कहने की आवश्यकता नहीं । ग्रन्थकार के अनुसार, इस ग्रन्थ का सृजन सङ्गीत की उचित शिक्षापद्धति की दृष्टि से किया गया है ।

यह सर्वविदित है कि सङ्गीत की नवीन शिक्षापद्धति का सूत्रपात विष्णु दिगम्बर पलुस्कर एवं भातखण्डे के प्रयासों से हुआ । सङ्गीत की पुरानी शिक्षापद्धति कई दृष्टिकोणों से दोषपूर्ण थी । उसमें प्रायः केवल क्रियात्मक पक्ष का अध्ययन-अध्यापन किया जाता था, तथा शास्त्र-अङ्ग पूरी तरह से अछूता रह जाता था । इस गुरुमुखी शिक्षापद्धति में शिष्य पूर्णतः अपने गुरु पर आश्रित

रहता था, इसलिए उसके ज्ञान का क्षेत्र व्यापक नहीं हो पाता था। गुरु की कला पर अश्रद्धा या शङ्का को इस पद्धति में घोरपातक, जघन्य अपराध-मुल्य माना जाता था। शिष्य से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह अपने गुरु का 'चेहरा' लेकर उतरे, उसकी सत्य प्रतिच्छवि, 'कार्बन कॉपी', बन कर निकले। गुरुकलागत गुण और दोष भी, वह अपनी कला में पूरी तरह उतारने के लिये बाध्य किया जाता था। उसकी स्वतन्त्र कल्पना, योग्यता, रुचि, जिज्ञासा, सभी कुछ शिक्षा-काल में महत्वहीन, यहाँ तक कि त्याज्य भी था। और यह शिक्षा-काल कितना लम्बा होगा, और उसमें उसे कितनी शिक्षा मिल सकेगी यह जानने का अधिकार भी वेचारे शिष्य को नहीं था ! इसमें सन्देह नहीं कि घरानों की इस शिक्षापद्धति में कठोर साधना कर अनेक तपःपूत सिद्ध कलाकार उत्पन्न हुए। तथापि यह सर्वसाधारण सङ्गीत प्रेमीजनों को ज्ञानलाभ करा सके, ऐसी पद्धति नहीं थी। इससे सामान्य जनता में सङ्गीत का प्रचार हो सकना कठिन था। इसमें कलाकार निमित्त करने की क्षमता तो थी, किन्तु कला-रसिकों की संख्या-वृद्धि के लिए वहाँ अवकाश नहीं था। इस शिक्षापद्धति के प्रति वे ही लोग आकृष्ट हो सकते थे, जो समस्त सांसारिक-व्यापारों को तिलाञ्जलि देकर 'सङ्गीत संन्यासी' बन सकते थे। ऐसे लोगों के लिए यह पद्धति अनुकूल नहीं थी, जो, दुनियादारी निभाते हुए भी, 'नून-तेल-लकड़ी' का प्रबन्ध करने के लिए जीविकोपार्जन करते हुए भी, सङ्गीत का ज्ञान प्राप्त करने तथा सङ्गीत को समझते हुए उसका रसास्वादन करने की इच्छा रखते थे। इन्हीं कारणों से यह शिक्षा-पद्धति अधिक लोकप्रिय तथा सङ्गीत के प्रचार-प्रसार के दृष्टिकोण से अधिक लाभदायक नहीं थी।

सङ्गीत की नूतन शिक्षाप्रणाली की कल्पना प्रस्तुत करने वाले दोनों ही महापुरुषों ने उपर्युक्त प्राचीन प्रणाली में शिक्षा प्राप्त की, तथा उसके गुण-दोषों को अत्यन्त निकट से देखा-समझा था। जिस नवीन शिक्षापद्धति का प्रवर्तन उन्होंने किया, उसका लक्ष्य था, सङ्गीत का इतना क्रियात्मक और शास्त्रीय ज्ञान वैज्ञानिक ढङ्ग से विद्यार्थियों को करा देना कि वे सङ्गीत-कला के अच्छे समझदार श्रोता बन सकें, तथा आगे के अधिक गहन, सूक्ष्म अध्ययन के लिए उनके पास एक सुनिश्चित, ठोस भूमि हो। कलाकार-निर्माण का उद्देश्य उनके समक्ष नहीं था। जैसा कि विष्णु दिगम्बर पलुस्कर ने कहीं कहा है, वे-और भातखण्डे भी—'तानसेन' नहीं, 'कानसेन' निर्मित करना चाहते थे; कलाकार नहीं, सुज्ञ, मर्मज्ञ, रसज्ञ श्रोता निर्मित करना चाहते थे ! नयी शिक्षापद्धति

४०४ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

वैज्ञानिक, बुनियादी, सरल, सुलभ, विविध एवं युगस्थित्यनुकूल बन पड़े, इस दिशा में दोनों महापुरुषों ने अपने समस्त प्रयास किये ।

यह नवीन पद्धति सामूहिक शिक्षण (Mass Education) की पद्धति है । इसमें पाठ्यक्रम की सुवद्ध रूपरेखा होती है । पाठ्यक्रम में सङ्गीत के प्रायोगिक एवं शास्त्रीय दोनों ही पक्षों के अध्ययन का समावेश किया गया है । ऐतिहासिक अध्ययन के माध्यम से सङ्गीत की परम्परा को समझ सकने का प्रावधान इसमें है । शास्त्र-ग्रन्थों का यथावश्यक परिचय भी इस पद्धति की शिक्षा से प्राप्त होता है ।

इस अधुनातन सङ्गीत-शिक्षणप्रणाली की आवश्यकता और औचित्य को उस युग के अनेक विद्वानों ने स्वीकार किया, तथा उसे अपनाया भी ! किन्तु, समस्या यह थी कि इस पद्धति के अनुकूल ग्रन्थ अप्राप्य थे । उपलब्ध ग्रन्थ (जैसा पहले कहा जा चुका है) मत-विशेष या सम्प्रदाय-विशेष का प्रतिपादन मात्र करते थे । ऐसे ग्रन्थ तुलनात्मक अध्ययन के लिए उपयोगी भले ही हों, उनसे सङ्गीत के मूलभूत सिद्धान्तों का ज्ञान नहीं हो पाता । दूसरी ओर, उनमें अन्य मतों की छीछालेदर कुछ इस ढङ्ग से की गयी थी कि अध्येता के लिए किसी सही निष्कर्ष पर पहुँच पाना कठिन ही था ! अतएव, ऐसे ग्रन्थ नवीन शिक्षापद्धति के लिए उपयोगी नहीं थे । इसी लिए, इस पद्धति के समर्थक सज्जनों को ऐसे ग्रन्थों की तीव्र आवश्यकता का अनुभव होता था जिनमें मण्डनात्मक शैली में युगीन सङ्गीत का निष्पक्ष प्रतिपादन हो तथा जो पूर्ववर्ती शास्त्रों के ज्ञेय और उपादेय विषयों को यथातथ्य तथा सरल रीति से स्पष्ट करते हों ।

पण्डित भातखण्डे ने ऐसे ग्रन्थों के प्रणयन का दायित्व स्वीकार किया । उनका सम्पूर्ण लेखन इसी उद्देश्य से प्रेरित है । समकालीन भारतीय सङ्गीत के स्वरूप तथा उसकी परम्परा को समझने के लिए वे लेख अत्युत्तम साधन सिद्ध हुए हैं ।

‘श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्’ एक तरह से उनके विशाल साहित्य का नवनीत है । इसमें अत्यन्त संक्षिप्त वचनों में गूढ़ातिगूढ़ भावों का ग्रथन किया गया है । यह ग्रन्थ भातखण्डे-साहित्य का सारभूत होने के कारण सङ्गीतशास्त्राध्येताओं के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है ।

यह ग्रन्थ उन लोगों के लिए विशेष उपयोगी है जिन्होंने समग्र भातखण्डे-साहित्य पढ़ा है, क्योंकि सूत्रवत् प्रतिपादित तत्त्वों को सविस्तार समझना-

रागाध्याय : ४०५

समझाना उनके लिए सम्भव है। इस ग्रन्थ का महत्व सङ्गीत-शिक्षकों के लिए अधिक है। ग्रन्थकार ने स्वयं भी इसकी रचना का उद्देश्य शिक्षक-निर्मिति बताया है। अमिप्राय यह है कि सङ्गीत का अध्यापन करने वाले लोग इस ग्रन्थ के अध्ययन और मनन से अपने विषय को अधिक सुस्पष्ट और अधिक सही ढङ्ग से हृदयङ्गम कर सकते हैं। ऐसे ही शिक्षक सुयोग्य तथा 'सुशिक्षित' शिक्षक कहे जा सकते हैं। वे छात्रों का, नवीन शिक्षाप्रणाली में, अधिक उचित रीति से मार्गदर्शन कर सकते हैं। प्रथमतः ऐसे शिक्षकों की ही आवश्यकता होती है जिनसे शिष्यों की आने वाली पीढ़ियाँ सच्चे अर्थों में सङ्गीतज्ञ, अर्थात् सङ्गीत को सही ढङ्ग से समझने वाली बन सकें।

इति श्रीलक्ष्यसङ्गीतद्वितीयाध्याय ईरितः ।

चतुराख्येन

भरतपूर्वखण्डनिवासिना ॥१८॥

'चतुर पण्डित' नामक भारतीय लेखक द्वारा लिखित श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम् का द्वितीय अध्याय यहाँ पूर्ण हुआ।

एवं श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतनामा—

यत्नंनूलो निर्मितोऽयं प्रबन्धः ।

प्राचीनार्वाचीनसङ्गीतभक्त—

प्रीत्यं यातः पूर्णतामत्र सद्यः ॥१९॥

शाके शशाङ्कुगुणनागमहीमिताब्दे ।

मासे मघौ सितदले प्रयमेऽह्नि सोमे ।

लक्ष्याद्यकारि चतुराह्वयपण्डितेन ।

सङ्गीतकं भरतखण्डनिवासिनेदम् ॥२०॥

इस प्रकार, प्राचीन तथा अर्वाचीन सङ्गीत के भक्तों की प्रसन्नता के लिए, प्रयत्नपूर्वक निर्मित, 'श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्' नामक यह नूतन ग्रन्थ, भारत-वर्षनिवासी 'चतुर पण्डित' आज सोमवार, तिथि चैत्र (मधुमास), शुक्ला प्रतिपदा, वर्ष १८३१ शक को पूर्ण करता है।

टीका—ग्रन्थ-रचना की यहाँ बतायी गयी तिथि ईस्वी सन् के अनुसार २२ मार्च, १९०९ है।



परिशिष्ट

पुष्पिणी

प्रमुख प्राचीन सङ्गीत ग्रन्थों में प्रतिपादित राग-वर्गीकरण

(१) सङ्गीतरत्नाकरोक्त राग-वर्गीकरण

(अ) शुद्धा आदि पाँच गीतियों के आश्रित ३० ग्रामराग

शुद्धा गीति में ७—(१) षड्जग्राम, (२) मध्यमग्राम, (३) शुद्धकैशिक, (४) शुद्ध पञ्चम, (५) शुद्धकैशिक मध्यम, (६) शुद्धसाधारित, (७) शुद्धषाडव ।

मिम्बा गीति में ५—(१) मिम्बाषड्ज, (२) मिम्बापञ्चम, (३) मिम्बाकैशिक, (४) मिम्बातान, (५) मिम्बाकैशिक मध्यम ।

गौडी गीति में ३—(१) गौडकैशिक, (२) गौडपञ्चम, (३) गौडकैशिक मध्यम ।

वेसरा गीति में ८—(१) सौवीर, (२) टक्क, (३) बोट्ट, (४) मालवकैशिक, (५) टक्ककैशिक, (६) हिन्दोल, (७) मालवपञ्चम, (८) वेसरषाडव ।

साधारणी गीति में ७—(१) रूपसाधार, (२) शेक, (३) भम्माणपञ्चम, (४) नर्त, (५) गान्धारपञ्चम, (६) षड्जकैशिक, (७) कुकुम ।

(आ) उपर्युक्त ग्रामरागों में से भाषा, विभाषा और अन्तरभाषा रागों के जनक

(१) सौवीर, (२) ककुम, (३) टक्क, (४) पञ्चम, (५) मिम्बापञ्चम, (६) टक्ककैशिक, (७) हिन्दोल, (८) बोट्ट, (९) मालवकैशिक, (१०) गान्धारपञ्चम, (११) मिम्बाषड्ज, (१२) वेसरषाडव, (१३) मालवपञ्चम, (१४) तान; (१५) पञ्चमषाडव ।

(इ) ग्रामरागजन्य भाषा आदि रागों के नाम

(१) सौवीर में—४ भाषाराग—(१) सौवीरी, (२) वेगमध्यमा, (३) साधारिता, (४) गान्धारी ।

(२) ककुम में—६ भाषाराग—(१) मिम्बापञ्चमी, (२) काम्बोजी, (३) मध्यमग्राम, (४) रगन्ती, (५) मधुरी, (६) शकमिश्रा ।

३ विभाषा राग—(१) भोगवर्धनी, (२) आभीरिका, (३) मधुकरी ।

१ अन्तर भाषा राग—(१) शालवाहनिका ।

४१० : श्रीमल्लक्ष्मसङ्गीतम्

(३) टक्क में—२१ भाषा राग—(१) त्रवणा, (२) त्रवणोद्भवा, (३) वैरञ्जी,
(४) मध्यमग्रामदेहा, (५) मालवकेसरी, (६)
छेवाटी, (७) सैन्धवी, (८) कोलाहका, (९)
पञ्चमलक्षिता, (१०) सौराष्ट्री, (११) पञ्चमी
(१२) वेगरञ्जी, (१३) णान्धारपञ्चमी, (१४)
मालवी, (१५) तानवल्लिता, (१६) ललिता,
(१७) रविचन्द्रिका, (१८) ताना, (१९)
बाहेरिका, (२०) दोह्या, (२१) वेसरी ।

४ विभाषा राग—(१) देवारवर्धनी, (२) आन्ध्री, (३) गुर्जरी
(४) भावनी ।

(४) पञ्चम में—१० भाषा राग—(१) कैशिकी, (२) त्रावणी, (३) तानोद्भवा,
(४) आभीरी, (५) गुर्जरी, (६) सैन्धवी,
(७) दाक्षिणात्या, (८) आन्ध्री, (९) माङ्गली,
(१०) भावनी ।

२ विभाषा राग—(१) भम्माणी, (२) आन्धालिका ।

(५) भिन्नपञ्चम में—४ भाषा राग—(१) वैवतभूषिता, (२) शुद्धभिन्ना, (३)
वराटी, (४) विशाला ।

१ विभाषा राग—(१) कौशली ।

(६) टक्ककैशिक में—२ भाषा राग—(१) मालवा (२) भिन्नवल्लिता

१ विभाषा राग—(१) द्राविडी ।

(७) हिन्दोल में—९ भाषा राग—(१) वेसरी, (२) चूतमञ्जरी, (३) षड्ज-
मध्यमा, (४) मधुरी, (५) भिन्नपौराली,
(६) गौडी, (७) मालववेसरी, (८) छेवाटी,
(९) पिञ्जरी ।

(८) बोट्ट में—१ भाषा राग—(१) माङ्गली ।

(९) मालवकैशिक में—१३ भाषा राग—(१) बङ्गाली, (२) खञ्जनी, (३)
माङ्गली, (४) हर्षपुरी, (५) मालव-
वेसरी, (६) गुर्जरी, (७) गौडी, (८)
पौराली, (९) अर्धवेसरी, (१०) शुद्धा,

परिशिष्ट : ४११

(११) मालवरूपा, (१२) सैन्धवी,
(१३) आभीरी ।

२ विभाषा राग—(१) काम्बोजी, (२) देवारवर्धनी ।

(१०) गान्धारपञ्चम में—१ भाषा राग—(१) गान्धारी ।

(११) भिन्नपङ्क में—१७ भाषाराग—(१) गान्धारवल्ली, (२) कच्छेली, (३) स्वरवल्ली, (४) निषादिनी, (५) ब्रवणा, (६) मध्यमा, (७) शुद्धा, (८) दाक्षिणात्या, (९) पुलिन्दिका, (१०) तुम्बुरा, (११) पङ्कभाषा, (१२) कालिन्दी, (१३) ललिता, (१४) श्रीकण्ठी, (१५) वङ्गाली, (१६) गान्धारी, (१७) सैन्धवी ।

४ विभाषा राग—(१) पौराली, (२) मालवा, (३) कालिन्दी,
(४) देवारवर्धनी ।

(१२) वीसरषाडव में—२ भाषा राग—(१) बाह्या, (२) बाह्यषाडवा ।

२ विभाषा राग—(१) पार्वती, श्रीकण्ठी ।

(१३) मालवपञ्चम में—३ भाषा राग—(१) वेदवती, (२) भाविनी,
(३) विभाविनी ।

(१४) तान में—१ भाषा राग—(१) तानोद्भवा ।

(१५) पञ्चमषाडव में—१ भाषा राग—(१) पोता ।

अन्य मतानुसार

रेवगुप्त में—१ भाषा राग—(१) शका ।

एक विभाषा राग, जिसके जनक ग्रामराग का उल्लेख नहीं मिलता—
(१) पल्लवी ।

३ अन्तर भाषा राग—(१) भासवल्लिता, (२) किरणावली,
(३) शकवल्लिता ।

(ई) सङ्गीतरत्नाकरोक्त उपराग और राग

८ उपराग—(१) शकतिलक, (२) टक्कसैन्धव, (३) कोकिलापञ्चम, (४) रेवगुप्त, (५) पञ्चमषाडव, (६) भावनापञ्चम, (७) नागगान्धार,
(८) नागपञ्चम ।

४१२ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

२० राग—(१) श्रीराग, (२) नट्ट, (३) बङ्गाल, (४) द्वितीय बङ्गाल, (५) भास, (६) मध्यमषाडव, (७) रक्तहंस, (८) कोल्लहास, (९) प्रसव, (१०) ध्वनि, (११) मैरव, (१२) मेघराग, (१३) सोम, (१४) कामोद, (१५) द्वितीय कामोद, (१६) आम्रपञ्चम, (१७) कन्दर्प, (१८) देशाख्य, (१९) कैशिक कुकुभ, (२०) नट्टनारायण ।

(उ) सङ्गीतरत्नाकरोक्त रागाङ्ग, भाषाङ्ग, क्रियाङ्ग और उपाङ्ग

(i) पूर्वप्रसिद्ध—८ रागाङ्ग—(१) शङ्कराभरण, (२) घण्टारव, (३) आहंस, (४) दीपक, (५) रीति, (६) पूर्णाटिका, (७) लाटी, (८) पल्लवी ।

११ भाषाङ्ग—(१) गाम्भीरी, (२) वौहाटी, (३) खशिका, (४) उत्पली, (५) गोल्ली, (६) नादान्तरी, (७) नीलोत्पली, (८) छाया, (९) तरङ्गिणी, (१०) गान्धारगति, (११) गेरञ्जी ।

१२ क्रियाङ्ग—(१) भावक्री, (२) स्वाभावक्री, (३) शिवक्री, (४) मरुकक्री, (५) त्रिनेत्रक्री, (६) कुमुदक्री, (७) दनुक्री, (८) ओजक्री, (९) इन्द्रक्री, (१०) नागकृति, (११) धन्यकृति, (१२) विपायक्री ।

३ उपाङ्ग—(१) पूर्णाटि, (२) देवाल, (३) गुरुञ्जिका ।

(ii) सङ्गीतरत्नाकरयुगीन—१३ रागाङ्ग—(१) मध्यमादि, (२) मालवश्री, (३) तोडी, (४) बङ्गाल, (५) मैरव, (६) वराटी, (७) गुर्जरी, (८) गौड, (९) कोलाहल, (१०) वसन्त, (११) घनाश्री, (१२) देशी, (१३) देशाख्या ।

९ भाषाङ्ग—(१) डोम्बक्री, (२) प्रथममञ्जरी, (३) शुद्धवराटिका, (४) आसावरी, (५) आदिकामोदी, (६) नागध्वनि, (७) वेलावली, (८) नट्टा, (९) कर्णाटबङ्गाल ।

परिशिष्ट : ४१३

२७ उपाङ्ग—(१) कुन्तलवराटी, (२) द्राविडी-
वराटी, (३) सैन्धवीवराटी, (४)
स्थानवराटी, (५) हस्तस्वर-
वराटी, (६) प्रतापवराटी, (७)
छायातोडी, (८) तुरुष्कतोडी,
(९) महाराष्ट्रगुर्जरी, (१०)
सौराष्ट्रगुर्जरी, (११) दक्षिणा-
गुर्जरी, (१२) द्राविडीगुर्जरी,
(१३) भुञ्जिका, (१४) स्तम्भ-
तीथिका, (१५) छायावेलावली,
(१६) प्रतापवेलावली, (१७)
भैरवी, (१८) सिंघलीकामोदा,
(१९) छायानट्टा, (२०) राम-
कृति, (२१) वल्लातिका, (२२)
मल्लारी, (२३) मल्लार, (२४)
कर्णाटगौड, (२५) देशवालगौड,
(२६) तुरुष्कगौड, (२७) द्रविड-
गौड ।

“सर्वेषामिति रागाणां मिलितानां शतद्वयम् ।

चतुः षष्ट्यधिकं ब्रूते शाङ्गो श्रीकरणाग्रणी ॥”

श्रीकरण शाङ्गदेव कुल मिला कर २६४ राग बताते हैं ।

रागसंख्या निर्णय

ग्रामराग			३०
उपराग			८
राग			२०
भाषा राग			९६
विभाषा राग			२०
अन्तर भाषा राग			४
पूर्व प्रसिद्ध रागाङ्ग			८
„ भाषाङ्ग			११

४१४ : श्रीमल्लहस्यसङ्गीतम्

पूर्व प्रसिद्ध क्रियाङ्ग			१२
„ उपाङ्ग			३
शाङ्गदेवयुगीन रागाङ्ग			१३
„ भाषाङ्ग			९
„ क्रियाङ्ग			३
„ उपाङ्ग			२७

कुल योग २६४ राग

टिप्पणी

उपरिनिर्दिष्टशाङ्गदेवसमयप्रसिद्धरागा दाक्षिणात्यपद्धत्यामद्यापि तत्तन्ना-
मभिरूपलब्धा इति विचारणीयम् ।

विचारणीय है कि शाङ्गदेव के युग में प्रचलित उपरिलिखित राग आज भी उन्हीं नामों के साथ दाक्षिणात्य सङ्गीतपद्धति में उपलब्ध हैं ?

इस टिप्पणी से “चतुर पण्डित का आशय यह प्रतीत होता है कि वर्तमान दाक्षिणात्य पद्धति में सङ्गीतरत्नाकर में बताये गये नामों वाले जो राग प्रचलित हैं उनका सङ्गीतरत्नाकर युगीन स्वरूपों से सम्बन्ध खोजा जाना चाहिए ।—अनुवादक

(२) सङ्गीतदर्पण में प्रतिपादित राग-वर्गीकरण

(अ) शिव मत के ६ राग और ३६ रागिनियाँ

राग—(१) श्रीराग, (२) वसन्त, (३) पञ्चम, (४) मेघ, (५) भैरव,
(६) बृहन्नाट ।

श्रीराग की ६ रागिनियाँ—(१) मालवी, (२) त्रिवणी, (३) गौरी, (४)
केदारी, (५) मधुमाधवी, (६) पहाडिका ।

वसन्त की ६ रागिनियाँ—(१) देशी, (२) देवगिरि, (३) वराटी, (४) तोडी,
(५) ललिता, (६) हिन्दोली ।

भैरव की ६ रागिनियाँ—(१) भैरवी, (२) गुजरी, (३) रामकिरी, (४)
गुणकिरी, (५) बङ्गाली, (६) सैन्धवी ।

परिशिष्ट : ४१५

पञ्चम की ६ रागिनियाँ—(१) विभाषा, (२) भूपाली, (३) कर्णाटी, (४) बडहंसिका, (५) मालवी, (६) पटमञ्जरी ।

मेघ की ६ रागिनियाँ—(१) मल्लारी, (२) सोरटी, (३) सावेरी, (४) कौशिकी, (५) गान्धारी, (६) हरशृङ्गारा ।

नट्टनारायण की ६ रागिनियाँ—(१) कामोदी, (२) आभीरी, (३) नाटिका, (४) कल्याणी, (५) सारङ्गी, (६) नट्टहम्बीरा ।

[टिप्पणी—ऐसा प्रतीत होता है कि सङ्गीतदर्पणकार ने बृहन्नाट और नट्टनारायण को एक ही बताया है ।—अनुवादक]

(आ) रागार्णव मत के राग-रागिनियाँ

६ राग—(१) भैरव, (२) नाट, (३) गौडमालव, (४) पञ्चम, (५) मल्लार, (६) देशाख्य ।

भैरवाश्रित ५ रागिनियाँ—(१) वङ्गाली, (२) गुणकिरी, (३) मध्यमादि, (४) वसन्त, (५) घनाश्री ।

पञ्चमाश्रित ५ रागिनियाँ—(१) ललिता, (२) गुर्जरी, (३) देशी, (४) वराटी, (५) रामकृति ।

नाटाश्रित ५ राग—(१) नट्टनारायण, (२) गान्धार, (३) सालग, (४) केदार, (५) कर्णाटक ।

मल्लाराश्रित ५ राग-रागिनियाँ—(१) मेघ, (२) मल्लारी, (३) मालकौशिक, (४) पटमञ्जरी, (५) आसावरी ।

गौडमालवाश्रित ५ राग-रागिनियाँ—(१) हिन्दोल, (२) त्रिवणा, (३) आन्वाली, (४) गौरी, (५) पठहंसिका ।

देशाख्याश्रित ५ रागिनियाँ—(१) भूपाली, (२) कुडायी, (३) कामोदी, (४) नाटिका, (५) वेलावली ।

(इ) हनूमन्मत के ६ राग और ३० रागिनियाँ

राग—(१) भैरव, (२) कौशिक, (३) हिन्दोल, (४) दीपक, (५) श्रीराग, (६) मेघ ।

भैरव की ५ रागिनियाँ—(१) मध्यमादि, (२) भैरवी, (३) वङ्गाली, (४) वराटी, (५) सैन्धवी ।

४१६ : श्रीमल्लक्ष्मसङ्गीतम्

कोशिक की ५ रागिनियाँ—(१) तोड़ी, (२) खम्बावती, (३) गौरी, (४) गुणक्री, (५) कुकुभा ।

हिन्दोल की ५ रागिनियाँ—(१) वेलावली, (२) रामकिरी, (३) देशाख्या, (४) पटमंजरी, (५) ललिता ।

दीपक की ५ रागिनियाँ—(१) केदारी, (२) कानडा, (३) देशी, (४) कामोदी, (५) नाटिका ।

श्रीराग की ५ रागिनियाँ—(१) वासन्ती, (२) मालवी, (३) मालश्री, (४) घन्नासिका, (५) आसावरी ।

मेघ की ५ रागिनियाँ—(१) मल्लारी, (२) देशकारी, (३) भूपाली, (४) गुर्जरी, (५) टंकी ।

(३) रागविबोध में प्रतिपादित जनकजन्य व्यवस्था

२३ जनकमेल

(१) मुखारी	(९) मालवगौड	(१७) काम्बोदी
(२) रेवगुप्ति	(१०) रीतिगौड	(१८) मल्लारी
(३) सामवराली	(११) आभीरनाट	(१९) सामन्त
(४) तोड़ी	(१२) हम्मीर	(२०) कर्णाटगौड
(५) नादरामक्री	(१३) शुद्धवराटी	(२१) देशाक्षी
(६) भैरव	(१४) शुचिरामक्री	(२२) शुद्धनाट
(७) वसन्त	(१५) श्रीराग	(२३) सारंग
(८) वसन्तभैरवी	(१६) कल्याण	

७६ जन्यराग

मेलनाम	जन्य राग
(१) मुखारी	(१) मुखारी, (२) तुष्कतोड़ी (हुसेनी)
(२) रेवगुप्ति	(१) रेवगुप्ति
(३) सामवराली	(१) सामवराली, (२) वसन्तवराली
(४) तोड़ी	(१) तोड़ी
(५) नादरामक्री	(१) नादरामक्री
(६) भैरव	(१) भैरव, (२) पौरविका
(७) वसन्त	(१) वसन्त, (२) टक्क, (३) हिजेज, (४) हिन्दोल

(८) वसन्तभैरवी	(१) वसन्तभैरवी, (२) मारविका ।
(९) मालवगौड	(१) मालवगौड, (२) चैतीगौडी, (३) पूर्वी, (४) पाडी, (५) देवगान्धार, (६) गौडक्रिया, (७) कुरञ्जी, (८) बहुली, (९) रामक्री, (१०) पावक, (११) आसावरी, (१२) पञ्चम, (१३) बङ्गाल, (१४) शुद्धललिता, (१५) गुजरी, (१६) परज, (१७) शुद्धगौड ।
(१०) रीतिगौड	(१) रीतिगौड
(११) आभीर	(१) आभीर
(१२) हम्मीर	(१) हम्मीर, (२) विहङ्गड, (३) केदार ।
(१३) शुद्धवराटी	(१) शुद्धवराटी ।
(१४) शुद्धरामक्री	(१) देशकार, (२) ललित, (३) जेताश्री, (४) त्रिवेणी, (५) देशी ।
(१५) श्रीराग	(१) श्रीराग, (२) मालाश्री, (३) घन्याशिका, (४) भैरवी, (५) बबला, (६) सन्धवी ।
(१६) कल्याण	(१) कल्याण ।
(१७) काम्बोदी	(१) काम्बोदी, (२) देवक्री ।
(१८) मल्लारी	(१) मल्लारी, (२) नटमल्लारी, (३) पूर्वगौड, (४) भूपाली, (५) गौड, (६) शङ्करामरण, (७) नट-नारायण, (८) नारायणगौड, (९) द्वितीयकेदार, (१०) सालङ्कनाट, (११) वेलावली, (१२) मध्य-मादि, (१३) सावेरी, (१४) सौराष्ट्री ।
(१९) सामन्त	(१) सामन्त ।
(२०) कर्णाट	(१) कर्णाट, (२) अड्डाण, (३) नागध्वनि, (४) शुद्धबङ्गाल, (५) वर्णनाट, (६) तुरुष्कतोडी (प्रच-लित मापा में-ईरात) ।
(२१) देशाक्षी	(१) देशाक्षी ।
(२२) शुद्धनाट	(१) शुद्धनाट ।
(२३) सारङ्ग	(१) सारङ्ग ।

४१८ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गोतम्

(४) स्वरमेलकलानिधि के जनकमेलराग और जन्यराग

२० जनक मेलराग

(१) मुखारी*	(६) शुद्धरामक्रिया	(११) नादरामक्री	(१६) हेजुज्जी†
(२) मालवगौड	(७) देशाक्षी	(१२) शुद्धवराटी	(१७) सामवराली
(३) श्रीराग	(८) कन्नडगौड	(१३) रीतिगौड	(१८) रेवगुप्ति‡
(४) सारंगनाट	(९) शुद्धनाट	(१४) वसन्तभैरवी	(१९) सामन्त
(५) हिन्दोल	(१०) अहीरी	(१५) केदारगौड	(२०) काम्बोजी

* “अस्मिन्मेले मुखारी च ग्रामरागाश्च केचन ।
सम्मतः शुद्ध इत्येष शार्ङ्गदेवविपश्चितः ॥”

इस मेल में मुखारी तथा कुछ ग्रामराग आते हैं । पण्डित शार्ङ्गदेव का शुद्ध मेल यही है ।

† “शुद्धौ च षड्जरिषभौ शुद्धाश्च मपघास्तथा ।
गान्धारोऽन्तरसंज्ञश्च काकल्याण्यनिषादकः ॥
एतावत्स्वरसंयुक्तो हेजुज्जीमेलको भवेत् ।
हेजुज्जाद्या भवन्त्यत्र ग्रामरागाश्च केचन ॥
इत्येष शार्ङ्गदेवस्य सम्मतो मार्गवेदिनः ॥”

हेजुज्जी मेल शुद्ध पङ्कज-ऋषभ-मध्यम-पञ्चम-धैवत तथा अन्तर गान्धार और काकली निषाद—इन स्वरों से युक्त है । इसमें हेजुज्जी आदि कुछ ग्राम राग हैं, ऐसा पण्डित शार्ङ्गदेव का मत है ।

‡ “शुद्धाः सरिमपाः शुद्धौ धनी गान्धारकोऽन्तरः ।
एतैः सप्तस्वरै रेवगुप्तिमेल उदाहृतः ॥
तस्मिन्नागो रेवगुप्तिः शुद्धरागाश्च केचन ।
रत्नाकरस्य मेलानां शार्ङ्गदेवेन लक्षितम् ॥”

रेवगुप्ति मेल शुद्ध सा-रे-म-प-घ-नि तथा अन्तरगान्धार इन सात स्वरों से युक्त बताया गया है । इसमें रेवगुप्ति तथा कुछ शुद्ध राग हैं, ऐसा पण्डित शार्ङ्गदेव द्वारा सङ्गीतरत्नाकर के मेलों में बताया गया है ।

जन्यराग वर्गीकरण

मेलनाम	जन्यराग
(१) मुखारी	(१) मुखारी ।
(२) मालवगौड	(१) मालवगौड, (२) ललिता, (३) बहुली, (४) सौराष्ट्र, (५) गुर्जरी, (६) मेचवौली, (७) फल-मञ्जरी, (८) गुंडक्री, (९) सिन्धुरामक्री, (१०) छायागौळ, (११) कुरञ्जी, (१२) कसबवङ्गाल, (१३) मङ्गलकैशिक, (१४) मलहरी ।
(३) श्रीराग	(१) श्रीराग, (२) भैरवी, (३) गौळी, (४) घन्यासी, (५) शुद्धभैरवी, (६) वेलावली, (७) मालवश्री, (८) शङ्कराभरण, (९) आन्धाली, (१०) देव-गान्धार, (११) मध्यमादि ।
(४) सारङ्गनाट	(१) सारङ्गनाट, (२) सावेरी, (३) सालगभैरवी, (४) नटनारायणी, (५) शुद्धवसन्त, (६) पूर्वगौड, (७) कुन्तलवराडी, (८) मिन्नषड्ज, (९) नारायणी
(५) हिन्दोल	(१) हिन्दोल, (२) मार्गहिन्दोल, (३) भूपाल
(६) शुद्धरामक्रिया	(१) शुद्धरामक्रिया, (२) बौली, (३) आर्द्रदेशी, (४) दीपक
(७) देशाक्षी	(१) देशाक्षी
(८) कन्नडगौळ	(१) कन्नडगौळ, (२) घण्टारव, (३) शुद्धवङ्गाल, (४) छायानाट, (५) तुरुष्कतोडी, (६) नागध्वनि, (७) देवक्रिया
(९) शुद्धनाट	(१) शुद्धनाट
(१०) अहीरी	(१) अहीरी
(११) नादरामक्रिया	(१) नादरामक्रिया
(१२) शुद्धवराळी	(१) शुद्धवराळी
(१३) रीतिगौळ	(१) रीतिगौळ
(१४) वसन्तभैरवी	(१) वसन्तभैरवी, (२) सोमराग
(१५) केदारगौळ	(१) केदारगौळ, (२) नारायणगौळ
(१६) हेजुज्जी	(१) हेजुज्जी
(१७) सामवराळी	(१) सामवराळी
(१८) रेवगुप्ति	(१) रेवगुप्ति
(१९) सामन्त	(१) सामन्त
(२०) काम्बोजी	(१) काम्बोजी

४२० : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

(५) चतुर्ण्डीप्रकाशिका के जनकमेलराग तथा तज्जन्यराग

शुद्धमध्यमयुक्त ३६ जनकमेलराग

(१) कनकाम्बरी	(१३) हेजुज्जी	(२५) शरावती
(२) फेनद्युति	(१४) वसन्तमैरवी	(२६) तरङ्गिणी
(३) सामवराळी	(१५) मालवगौड	(२७) सौरसेना
(४) भानुमति	(१६) वेगवाहिनी	(२८) केदारगौळ
(५) मनोरञ्जनी	(१७) छायावती	(२९) शङ्कराभरण
(६) तनुकीर्ति	(१८) शुद्धमालवी	(३०) नागाभरण
(७) सेनाग्रणी	(१९) झङ्कारभ्रमरी	(३१) कलावती
(८) तोडी	(२०) रीतिगौळ	(३२) चूडामणि
(९) मिन्नषड्ज	(२१) किरणावली	(३३) गङ्गातरङ्गिणी
(१०) नटाभरण	(२२) श्रीराग	(३४) छायानट
(११) कोकिलारव	(२३) गौरीवेलावली	(३५) देशाक्षी
(१२) रूपावती	(२४) वीरवसन्त	(३६) चलनाट

तीव्रमध्यमयुक्त ३६ जनकमेलराग

(३७) सौगन्धिनी	(४९) धवलाङ्ग	(६१) कुन्तल
(३८) जगन्मोहन	(५०) नामदेशी	(६२) रतिप्रिय
(३९) वराळिका	(५१) रामक्रिया	(६३) गीतप्रिय
(४०) नभोमणि	(५२) रमामनोहरी	(६४) भूषावती
(४१) कुस्मिनी	(५३) गमकक्रिया	(६५) शान्तकल्याण
(४२) रविक्रिया	(५४) वंशवती	(६६) चतुरङ्गिणी
(४३) गीर्वाणी	(५५) शामला	(६७) सन्तानमञ्जरी
(४४) भवानी	(५६) चामरा	(६८) ज्योति
(४५) शैवपन्तुवराळी	(५७) सोमद्युति	(६९) धौतपञ्चम
(४६) स्तवराज	(५८) सिंहारव	(७०) नासामणि
(४७) सौवीरा	(५९) धामवती	(७१) कुसुमाकर
(४८) जीवन्तिका	(६०) नैषध	(७२) रसमञ्जरी

परिशिष्ट : ४२१

उपर्युक्त ७२ जनकमेलरागों में लोकप्रसिद्ध १९ जनकमेलराग

(१) मुखारी	(८) श्री	(१५) शुद्धवराळी
(२) सामवराळी	(९) हेजुज्जी	(१६) पन्तुवराळी
(३) भूपाल	(१०) काम्भोजी	(१७) शुद्धरामक्री
(४) वसन्तभैरवी	(११) शङ्कराभरण	(१८) सिंहरेव
(५) गौळ	(१२) सामन्त	(१९) कल्याणी
(६) अहीरी	(१३) देशाक्षी	
(७) भैरवी	(१४) नाट	

प्रसिद्ध जन्यराग

मेलनाम	जन्यराग
(१) मुखारी	(१) मुखारी
(२) सामवराळी	(१) सामवराळी
(३) भूपाल	(१) भूपाल, (२) भिन्नषड्ज
(४) वसन्तभैरवी	(१) वसन्तभैरवी
(५) गौळ	(१) गौळ, (२) गुण्डक्रिया, (३) सालङ्गनाट, (४) नादरामक्रिया, (५) ललिता, (६) पाढी, (७) गुजरी, (८) बहुली, (९) मल्लहरी, (१०) सावेरी, (११) छायागौळ, (१२) पूर्वगौळ, (१३) कर्णाटवङ्गाल, (१४) सौराष्ट्र
(६) आहरी	(१) आभेरी, (२) हिन्दोलवसन्त
(७) भैरवी	(१) भैरवी, (२) हिन्दोल, (३) आहीरी, (४) घण्टारव, (५) रीतिगौळ,
(८) श्रीराग	(१) श्री, (२) सालगभैरवी, (३) घन्यासी, (४) मालवश्री, (५) देवगान्धार, (६) आन्वाली, (७) बेलावली, (८) कन्नडगौळ
(९) हेजुज्जी	(१) हेजुज्जी, (२) रेवगुप्ति ।
(१०) काम्भोजी	(१) काम्भोजी, (२) केदारगौळ, (३) नारायणगौळ ।
(११) शङ्कराभरण	(१) शङ्कराभरण, (२) आरमी, (३) नागध्वनि, (४) साम, (५) शुद्धवसन्त, (६) नारायणदेशाक्षी, (७) नारायणी ।

४२२ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

(१२) सामन्त	(१) सामन्त ।
(१३) देशाक्षी	(१) देशाक्षी ।
(१४) नाट	(१) नाट ।
(१५) शुद्धावराळी	(१) वराळी ।
(१६) पन्तुवराळी	(१) पन्तुवराळी ।
(१७) शुद्धरामक्रिया	(१) शुद्धरामक्रिया ।
(१८) सिंहरव	(१) सिंहरव ।
(१९) कल्याणी	(१) कल्याण ।

(६) सङ्गीतसारामृतोक्त जनक-जन्य व्यवस्था

इस ग्रन्थ में भी चतुर्दण्डप्रकाशिका में प्रतिपादित ७२ मेलों की रचना का सिद्धान्त स्वीकार किया गया है ।

लोकप्रिय १९ मेल

(१) श्रीराग	(८) काम्भोजी	(१५) वसन्तभैरवी
(२) शुद्धनाट	(९) भैरवी	(१६) भिन्नषड्ज
(३) मालवगौड	(१०) मुखारी*	(१७) देशाक्षी
(४) वेलावली	(११) वेगवाहिनी	(१८) छायानाट
(५) वराळी	(१२) सिन्धुरामक्री	(१९) सारङ्ग
(६) शुद्धरामक्री	(१३) हेजुज्जी	
(७) शङ्करामरण	(१४) सामवराळी	

* "सर्वेषु रागमेलेषु मुखारीमेल आदिमः । शुद्धैः सप्तस्वरैर्युक्तो मुखारीमेल ईरितः । अस्मिन्मेले मुखारी च ग्रामरागाश्च केचन । लोकप्रसिद्धनामाऽयं शास्त्रसिद्धाभिधस्तवसौ ॥ शुद्धसाधारित इति तुलजेन्द्रेण निश्चितः ।"

मुखारीमेल समस्त रागमेलों में प्रथम है । मुखारीमेल सप्त शुद्ध स्वरों से युक्त बताया गया है । इस मेल में मुखारी तथा कुछ ग्रामराग आते हैं । तुलाजी राव भोंसले का यह निर्णय है कि मुखारी नाम से प्रसिद्ध यह मेल ही शुद्धसाधारित नामक शास्त्रोक्तमेल है ।

जन्यराग

मेलनाम	जन्य रागों के नाम
(१) श्रीराग	सम्पूर्ण राग—(१) श्रीराग, (२) कन्नडगौळ, (३) देव- गान्धार, (४) सालगमैरवी, (५) शुद्धदेशी, (६) माधवमनोहरी, (७) मध्यमग्राम, (८) सैन्धवी, (९) हुसेनी, (१०) काफी ।
(२) शुद्धनाट	षाडव राग—(१) श्रीरञ्जनी, (२) मालवश्री, (३) देवमनोहरी, (४) जयन्तसेन, (५) मणिरङ्ग ।
(३) मालवगौड	औडव राग—(१) मध्यमादि, शुद्धधन्यासी । (१) शुद्धनाट, (२) उदयरविचन्द्रिका (टक्कभाषा) ।
	सम्पूर्ण राग—(१) मालवगौड, (२) सालङ्गनाट, (३) आर्द्रदेशी, (४) छायागौळ, (५) टक्क, (६) गुर्जरी, (७) गुण्डक्रिया, (८) फलमञ्जरी, (९) नादरामक्री, (१०) सौराष्ट्री, (११) मङ्गल- कैशिक, (१२) मेचबौली, (१३) मागधी, (१४) गौरीमनोहरी, (१५) माखा, (१६) गौळीपन्तु, (१७) सावेरी, (१८) पूर्वी, (१९) विभास ।
	षाडव राग—(१) गाल, (२) पाडी, (३) ललिता, (४) कन्नडवङ्गाल, (५) मल्लहरी, (६) पूर्ण- पञ्चम, (७) बहुली ।
	औडव राग—(१) शुद्ध सावेरी, (२) मेघरञ्जनी, (३) रेवगुप्ति, (४) मालवी ।
(४) वेलावली	(१) वेलावली (भाषाङ्ग) ।
(५) वराळी	(१) वराळी (भिन्नपञ्चमग्रामराग भाषा)
(६) शुद्धरामक्रिया	(१) शुद्धरामक्रिया, (२) दीपक ।
(७) शङ्कराभरण	(१) शङ्कराभरण, (२) आरभी, (३) शुद्धवसन्त, (४) सरस्वतीमनोहरी, (५) पूर्वगौळ, (६) नारायणी, (७) नारायणदेशाक्षी, (८) सामन्त, (९) कुरञ्जी,

४२४ : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

	(१०) पूर्णचन्द्रिका, (११) सुरसिन्धु, (१२) गौड-मल्लार, (१३) केदार, बिलहरी ।
(८) काम्भोजी	सम्पूर्ण राग—(१) काम्भोजी, (२) नारायणगौळ, (३) केदारगौळ, (४) बडहंस, (५) नागध्वनि, (६) छायातरङ्गिणी, (७) ईशमनोहरी, (८) यदुकुलकाम्भोजी, (९) नाटकुरंजी, (१०) कन्नड ।
	पाडव राग—(१) नटनारायणी, (२) आन्वाली, (३) साम, (४) मोहन ।
(९) भैरवी	औडुव राग—(१) देवक्री, (२) मोहनकल्याण । (१) भैरवी, (२) आहीरी, (३) घण्टारव, (४) इन्दुघण्टारव, (५) रीतिगौळ, (६) आनन्दभैरवी, (७) हिन्दोलवसन्त, (८) आभीरी, (९) घन्न्यासी, (१०) नागगान्धारी ।
(१०) मुखारी	(१) मुखारी ।
(११) वेगवाहिनी	(१) वेगवाहिनी
(१२) सिन्धुरामक्री	(१) सिन्धुरामक्रिया, (२) पन्तुवराळी ।
(१३) हेजुज्जी	(१) हिजेजी
(१४) सामवराळी	(१) सामवराळी, (२) गान्धारपञ्चम, (३) भिन्नपञ्चम ।
(१५) वसन्तभैरवी	(१) वसन्त भैरवी, (२) ललितपञ्चम ।
(१६) भिन्नषड्ज	(१) भिन्नषड्ज, (२) भूपाल ।
(१७) देशाक्षी	(१) देशाक्षी
(१८) छायानाट	(१) छायानाट
(१९) सारङ्ग	(१) सारङ्ग

(७) चत्वारिंशत्छतरागनिरूपणम् में प्रतिपादित

रागपरिवार व्यवस्था

१० पुरुष राग

(१) श्रीराग	(४) भैरव	(७) नटनारायण
(२) वसन्त	(५) कौशिक	(८) हिन्दोल
(३) पञ्चम	(६) मेघ	(९) दीपक
		(१०) हसक

परिशिष्ट : ४२५

भार्यापुत्रादि वर्गीकरण

(१) श्रीराग परिवार—५ स्त्री राग—(१) गौडी, (२) कोलाहली, (३) भान्वाली, (४) द्राविडी, (५) मालव-
कौशिकी ।

४ पुत्र राग—(१) बुद्धगौड, (२) कर्णाट, (३) मालव,
(४) पूर्विक ।

४ पुत्रवधू राग—(१) वराटी, (२) बीळी, (३) मध्यमादि,
(४) आरभी ।

(२) वसन्त परिवार—५ स्त्रियाँ—(१) नीलाम्बरी, (२) घनाश्री, (३) रामक्री,
(४) पटमञ्जरी, (५) गोडक्री ।

४ पुत्र—(१) साम, (२) सोम, (३) रीतिगौळ, (४)
शङ्कराभरण ।

४ पुत्रवधू—(१) कल्याणी, (२) दुःखवराटी, (३) सावेरी,
(४) तरङ्गिणी ।

(३) पञ्चम परिवार—५ स्त्रियाँ—(१) त्रिवली, (२) वल्लकी, (३) खम्बावती,
(४) ककुमा, (५) आहरी ।

४ पुत्र—(१) बलहंस, (२) गान्धार, (३) देव-
हिन्दोल, (४) पावक ।

४ पुत्रवधू—(१) नारायणी, (२) भूपाली, (३) माह,
(४) नवरोचिका ।

(४) भैरव परिवार—५ स्त्रियाँ—(१) वेलावली, (२) भैरवी, (३) गुर्जरी,
(४) ललिता, (५) कर्णाटी ।

४ पुत्र—(१) पञ्चवक्र, (२) कल्हार, (३) ललित,
(४) चन्द्रशेखर ।

४ पुत्रवधू—(१) कुरङ्गमाली, (२) वीचिका, (३)
मङ्गलकौशिकी, (४) माहुली ।

(५) कौशिक परिवार—५ स्त्रियाँ—(१) तोडी, (२) देवगान्धारी, (३)
देशाख्या, (४) गुणक्रिया, (५) शुद्ध-
सावेरी ।

४२६ : श्रीमल्लक्यसङ्गीतम्

४ पुत्र—(१) विद्युन्माल, (२) कामोद, (३) सारङ्ग, (४) मोदक ।

४ पुत्रवधू—(१) नट्टा, (२) तरङ्गिणी, (३) पूर्ण-चन्द्रिका, (४) पालिका ।

(६) मेघ परिवार—५ स्त्रियां—(१) त्रोटकी, (२) मोटकी, (३) बृहन्नटा, (४) अपरा, (५) अह्नटा ।

४ पुत्र—(१) घण्टकण्ठ, (२) कमल, (३) घण्टारव, (४) रोहक ।

४ पुत्रवधू—(१) सुधामयी, (२) डोम्बक्री, (३) मृत-सञ्जीवनी, (४) मेघरञ्जी ।

(७) नटनारायण परिवार—५ स्त्रियां—(१) बङ्गाली, (२) शुद्धसालङ्का, (३) काम्भोजी, (४) मधुमाधवी, (५) देवक्री ।

४ पुत्र—(१) शुद्धबङ्गाल, (२) नाट, (३) गारुड, (४) मोहन ।

४ पुत्रवधू—(१) त्रैलङ्गी, (२) लाङ्गली, (३) सोरटी, (४) हम्बीरी ।

(८) हिन्दोल परिवार—५ स्त्रियां—(१) देशी, (२) शिवक्री, (३) ललिता, (४) मल्लारी, (५) सुहसिका ।

४ पुत्र—(१) रमणीय, (२) मुखारी, (३) उदय-पञ्चम, (४) शुद्धवसन्त ।

४ पुत्रवधू—(१) सिन्धुरामक्रिया, (२) वेगवाहिनी, (३) घरा, (४) छायातरङ्गिणी ।

(९) दीपक परिवार—५ स्त्रियां—(१) आसावरी, (२) नाटिका, (३) देहली, (४) कानडा, (५) केदारी ।

४ पुत्र—(१) केदारगौळ, (२) वैरञ्जी, (३) होलि, (४) सौराष्ट्र ।

४ पुत्रवधू—(१) कुरञ्जमञ्जरी, (२) नागवल्ली, (३) देवरञ्जनी, (४) सुरसिन्धु ।

परिशिष्ट : ४२७

(१०) हुंसक परिवार—५ स्त्रियाँ—(१) श्रीरञ्जनी, (२) मालाश्री, (३) सरस्वतीमनोहरी, (४) गौरी, (५) ईश-मनोहरी ।

४ पुत्र—(१) नागध्वनि, (२) सामन्त, (३) भिन्न-पञ्चम, (४) टक्क ।

४ पुत्रवधू—(१) मालवी, (२) श्यामकल्याणी, (३) देशाक्षी, (४) विलहरी ।

(८) रागतरङ्गिणी की मेल-राग-व्यवस्था

१२ जनकसंस्थितियाँ

(१) भैरवी	(५) केदार	(९) घनाश्री
(२) तोडी	(६) ईमन	(१०) पूर्वी
(३) गौरी	(७) सारङ्ग	(११) मुखारी
(४) कर्णाट	(८) मेघ	(१२) दीपक

जन्यरागव्यवस्था

मेलनाम	जन्यराग
(१) भैरवी	(१) भैरवी, (२) नीलाम्बरी ।
(२) तोडी	(१) तोडी
(३) गौरी	(१) मालव, (२) श्रीगौरी, (३) चैतीगौरी, (४) पहाडीगौरी, (५) देशीतोडी, (६) देशिकार, (७) गौर, (८) त्रिवण, (९) मुलतानी, (१०) घनाश्री, (११) वसन्त, (१२) रामकिरी, (१३) गुजरी, (१४) बहुली, (१५) रेवा, (१६) मटियार, (१७) षट्, (१८) पञ्चम, (१९) जयन्तश्री, (२०) आसावरी, (२१) देवगान्धार, (२२) सैन्धव्यासावरी, (२३) गुणकरी ।
(४) कर्णाट	(१) कानर, (२) वागीश्वरीकानर, (३) खम्बावती, (४) सोरट, (५) परज, (६) मारु, (७) जैजयन्ती, (८) ककुमा, (९) कामोद, (१०) कामोदी, (११) गौर, (१२) मालकौशिक, (१३) हिन्दोल, (१४)

४२८ : श्रीमल्लक्ष्मसङ्गीतम्

	सुग्राही, (१५) अडाण, (१६) गौरकानर, (१७) श्रीराग ।
(५) केदार	(१) केदारनाट, (२) आभीरनाट, (३) खम्बावती, (४) शङ्कराभरण, (५) बिहागरा, (६) हम्बीर, (७) इयाम, (८) छायानाट, (९) भूपाली, (१०) भीमपलासिका, (११) कौशिक, (१२) माह ।
(६) ईमन	(१) ईमन, (२) शुद्धकल्याण, (३) पूरिया, (४) जयत्कल्याण ।
(७) सारङ्ग	(१) सारङ्ग, (२) पटमञ्जरी, (३) वृन्दावनी, (४) सामन्त, (५) वडहंसक ।
(८) मेघ	(१) मेघमल्लार, (२) गौडसारङ्ग, (३) नाट, (४) वेलावली, (५) अलैया, (६) सुहु, (७) देशी-सुहु, (८) देशाख्य, (९) शुद्धनाट ।
(९) घनाश्री	(१) घनाश्री, (२) ललित ।
(१०) पूर्वी	(१) पूर्वी
(११) मुखारी	(१) मुखारी
(१२) दीपक	(१) दीपक

(९) पुण्डरीक विट्ठलकृत सप्रागचन्द्रोदय के मेल और राग

१९ जनकमेल

(१) मुखारी	(८) हिजेज	(१५) देवक्रिया
(२) मालवगौड	(९) हमीर	(१६) सारङ्ग
(३) श्रीराग	(१०) कामोद	(१७) कल्याण
(४) शुद्धनद्य	(११) तोडी	(१८) हिन्दोल
(५) देशाशिका	(१२) आभीरी	(१९) नादरामक्री
(६) कर्णाटगौड	(१३) शुद्धवराटी	
(७) केदारक	(१४) शुद्धरामक्री	

जन्यराग

मेलनाम	जन्यराग
(१) मुखारी	(१) मुखारी
(२) मालवगौड	(१) मालव, (२) गौडकृति, (३) गुर्जरी, (४) टक्क, (५) पाडी, (६) कुरञ्जी, (७) बहुली, (८) पूर्वी, (९) रामक्री, (१०) द्वाविडगौड, (११) गौडी, (१२) बङ्गाल, (१३) आसावरी, (१४) पञ्चम, (१५) रेवगुप्ति, (१६) प्रथममञ्जरी, (१७) कर्णाट-वङ्गाल, (१८) शुद्धगौड, (१९) शुद्धललित, (२०) देवगान्धार, (२१) मारविका ।
(३) श्रीराग	(१) श्रीराग, (२) मालवश्री, (३) घन्नासी, (४) भैरवी, (५) सैन्धवी ।
(४) शुद्धनट्ट	(१) शुद्धनट्ट
(५) देशाक्षी	(१) देशाक्षी
(६) कर्णाटगौड	(१) कर्णाट, (२) नुरुष्कतोडी, (३) शुद्धबङ्गाल, (४) छायाणट, (५) सामन्त ।
(७) केदार	(१) केदार, (२) नारायणगौड, (३) वेलावली, (४) शङ्कराभरण, (५) नट्टनारायण, (६) मध्यमादि, (७) मल्लार, (८) गौड, (९) सालङ्गनट्ट, (१०) भूपाली, (११) सावेरी, (१२) सौराष्ट्री, (१३) काम्बोजी ।
(८) हिजेज	(१) हिजेज, (२) भैरव ।
(९) हमीरनट्ट	(१) हमीरनट्ट
(१०) कामोद	(१) कामोद
(११) तोडी	(१) तोडी
(१२) आभीरी	(१) आभीरी
(१३) शुद्धवराटी	(१) शुद्धवराटी, (२) सामवराटी ।
(१४) शुद्धरामक्री	(१) शुद्धरामक्री, (२) त्रिवेणी, (३) देशी (४) ललित ।

४३० : श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

(१५) देवक्री	(१) देवक्री
(१६) सारङ्ग	(१) सारङ्ग
(१७) कल्याण	(१) कल्याण
(१८) हिन्दोल	(१) हिन्दोल, (२) वसन्त ।
(१९) नादरामक्री	(१) नादरामक्री

(१०) पुण्डरीक विट्ठलकृत रागमाला की राग-परिवार-व्यवस्था

६ राग

(१) शुद्धभैरव, (२) हिन्दोल, (३) देशिकार, (४) शुद्ध नाट, (५) श्रीराग, (६) नटनारायण ।

इन रागों की पत्नियाँ और पुत्र

(१) शुद्ध भैरव—पत्नियाँ—(१) घन्नासी, (२) भैरवी, (३) सैन्धवी, (४) मारवी, (५) आसावरी ।

पुत्र—(१) भैरव, (२) शुद्धललित, (३) पञ्चम, (४) परज, (५) बङ्गाल ।

(२) हिन्दोल—पत्नियाँ—(१) भूपाली, (२) वराटी, (३) तोडी, (४) प्रथम-मञ्जरी, (५) तुरुष्कतोडी ।

पुत्र—(१) वसन्त, (२) शुद्धवङ्गाल, (३) श्याम, (४) सामन्त, (५) कामोद ।

(३) देशिकार—पत्नियाँ—(१) रामक्री, (२) बहुली, (३) देशी, (४) जयंतश्री, (५) गुर्जरी ।

पुत्र—(१) ललित, (२) विभास, (३) सारङ्ग, (४) त्रिवण, (५) कल्याण ।

(४) शुद्ध नाट—पत्नियाँ—(१) मालवश्री, (२) देशाक्षी, (३) देवक्री, (४) मधुमाधवी, (५) आहेरी ।

पुत्र—(१) जिजावन्त, (२) सालङ्गनाट, (३) कर्णाट, (४) छायानाट, (५) हमीरनाट ।

परिशिष्ट : ४३१

(५) श्रीराग—पत्नियाँ—(१) पाडी, (२) गौरी, (३) गुणकरी, (४) नाद-
रामक्री; (५) गुण्डक्री ।

पुत्र—(१) टक्क, (२) देवगान्धार, (३) मालव, (४) शुद्ध-
गौड, (५) कर्णाटबङ्गाल ।

(६) नटुनारायण—पत्नियाँ—(१) वेलावली, (२) काम्बोजी, (३) सावेरी,
(४) सुहवी, (५) सौराष्ट्री ।

पुत्र—(१) मल्हार, (२) गौड, (३) केदार, (४)
शङ्कराभरण, (५) विहाण्ड ।

(११) पुण्डरीक विट्ठलकृत रागमञ्जरी के मेल और राग

२० जनकमेल

(१) मुखारी	(६) केदार	(११) आहेरी	(१६) हिन्दोल
(२) सोमराग	(७) शुद्ध नाट	(१२) कल्याण	(१७) कर्णाट
(३) टोडी	(८) देशाक्षी	(१३) कामोद	(१८) हमीर
(४) गौडी	(९) देशिकार	(१४) हिजेज	(१९) मालवकैशिक
(५) वराटी	(१०) सारङ्ग	(१५) नादरामक्री	(२०) श्रीराग

जन्यराग

मेलनाम	जन्यराग
(१) मुखारी	(१) मुखारी
(२) सोमराग	(१) सोमराग
(३) टोडी	(१) तोडी, (२) शुद्ध भैरव ।
(४) गौडी	(१) गौडी, (२) कर्णाटबङ्गाल, (३) गुर्जरी, (४) बहुली, (५) आसावरी, (६) रामकली, (७) मारु, (८) गुणकरी, (९) टक्क, (१०) शुद्धललित, (११) पञ्चम, (१२) पटमञ्जरी, (१३) मालवगौड, (१४) पूर्वी, (१५) भैरवी, (१६) पाडी ।
(५) वराटी	(१) श्यामवराटी, (२) शुद्धवराटी ।
(६) केदार	(१) केदार, (२) गौड, (३) मल्लार, (४) नट- नारायण, (५) भूपाली, (६) वेलावली, (७)

४३२ : श्रोमल्लक्ष्यसङ्गीतम्

	काम्बोजी, (८) मधुमाघवी, (९) षड्कराभरण, (१०) सुहवी, (११) नारायणी, (१२) सावेरी, (१३) केदारनाट ।
(७) शुद्धनाट	(१) शुद्धनाट
(८) देशाक्षी	(१) देशाक्षी
(९) देशिकार	(१) देशिकार, (२) ब्रावणी, (३) देशी, (४) ललित, (५) दीपक, (६) विभास ।
(१०) सारङ्ग	(१) सारङ्ग
(११) आहेरी	(१) आहेरी
(१२) कल्याण	(१) कल्याण
(१३) कामोद	(१) कामोद
(१४) हिजेज	(१) हिजेज, (२) भैरव ।
(१५) नादरामक्री	(१) नादरामक्री
(१६) हिन्दोल	(१) हिन्दोल, (२) वसन्त ।
(१७) कर्णाट	(१) कर्णाट, (२) सामन्त, (३) सौराष्ट्री, (४) छायानट, (५) शुद्धबङ्गाल, (६) तुरुष्कतोडी ।
(१८) हमीर	(१) हमीर
(१९) मालवकैशिक	(१) मालवकैशिक, (२) मालवश्री, (३) घन्नासी, (४) सैन्धवी, (५) देवगान्धार ।
(२०) श्रीराग	(१) श्रीराग

विभिन्न हिन्दी ग्रन्थ अकादमियों द्वारा प्रकाशित ललित कला तथा संगीत विषयक प्रकाशन

मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

1. भारतीय तालों का शास्त्रीय विवेचन
2. वाद्य की गुफाएँ
3. प्रतिमा विज्ञान
4. संगीत बोध

डॉ० अरुण कुमार सेन

एम० डी० खरे

डॉ० इन्दुमती मिश्र

डॉ० शरच्चन्द्र श्रीवास्तव एन० जे

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

1. आधुनिक चित्रकला का इतिहास
2. मध्यकालीन भारतीय कलाएँ एवं उनका विकास
3. कला के सिद्धान्त

र० वि० साखलकर

डॉ० रामनाथ

आर० जी० कलिगुप्त

उत्तरप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

1. भारतीय संस्कृति और कला
2. सौन्दर्य का तात्पर्य
3. हमारा आधुनिक संगीत
4. भारतीय कला परिचय
5. संगीत के घरानों की चर्चा

वाचस्पति गंगोला

डॉ० रामकीर्ति शुक्ल

सुशील कुमार चौबे

कुसुम दास

डॉ० सुशील कुमार चौबे

सम्पर्क सूत्र

विक्रय अधिकारी

मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी